भारत की आर्थिक प्रगति

(Economic Development of India)

(बी० काम० तथा बी० ए० के विद्यार्थियों के लिए)

लेखक

दुर्गा दयाल निगम, एम० काम०,

प्राध्यापक, वाणिज्य विभाग, डी० ए० वी० कालेज, कानपुर।

कि ता ब म ह ल, इ ला हा बा द

बम्बई : दिल्ली : कलकत्ता : भोपाल : हैदराबाद : जयपुर

१९६०

प्रथम संस्करण, १९६०

प्रकाशक—किताब महल, ५६ ए, जीरो रोड, इलाहाबाद।
मुद्रक—अनुपम प्रेस, १७ जीरो रोड, इलाहाबाद।

समर्पण

पूज्य पिता जी,

स्व० श्री गजाधर प्रसाद जी निगम

को

पुण्य स्मृति में

दो शब्द

राजनैतिक परतन्त्रता की शृङ्खलाओं से मुक्ति पर हमारे राष्ट्र के सूत्रधारों ने, जिन्होंने हमें पराधीनता के प्रवाड़न एवं अंधकार से बाहर निकालने में सफलता प्राप्त की थी, अपने जर्जरित एवं शोषित राष्ट्र के आर्थिक मोक्ष की सुखद् कल्पना को साकार करने के लिए भविष्य की रचना की प्रौढ़ भित्ति का न्यास करने का दृढ़ संकल्प से प्रयत्न आरम्भ कर दिया। नव निर्माण एवं आर्थिक विकास की अनेक योजनाओं का प्रादुर्भाव हुआ और प्राचीन भारत के उच्च गौरव को पुनः प्राप्त करने की आशाएँ सक्रिय हो उठीं। आज इन्हीं योजनाओं के फलस्वरूप भारत समृद्धिशाली, उज्ज्वल एवं गौरवमय आर्थिक स्वाधीनता की स्थापना के लक्ष्य की ओर अबाध गति से प्रगति करता चला जा रहा है। अभी हमारा देश आर्थिक संकट से होकर गुजर रहा है। विदेशी मुद्रा की कठिनाई को हमें अपने घरेलू साधनों द्वारा दूर करना होगा। हमें दूसरी योजना में अतिरिक्त खाद्यान्न उत्पादन करके संसार को दिखलाना है कि भारत-वासी संकटों से घबराते नहीं, उनका सामना करना जानते हैं और वे आपदाओं की आँधियों एवं तूफानों से सफलतापूर्वक लड़ने की क्षमता रखते हैं। देश के भविष्य एवं उसके स्वाभिमान का प्रश्न आज हमारे सामने उपस्थित है। भारत की परीक्षा है। रुकने में मृत्यु है। बढ़ते हुए कदम के आगे बढ़ने में ही आत्मसम्मान की रक्षा है और यही निर्धनता का अन्त करके समृद्धि का मार्ग है।

आज राष्ट्रीय विकास में जो महत्वपूर्ण मानवीय धरातल उभर रहा है, टूटती हुई मर्यादाओं और बिखरती हुई निष्ठाओं के बीच मानवीय मूल्यों के प्रति जो नई आस्था पनप रही है, सामाजिक रूढ़ियों और राजनीतिक भ्रान्तियों को चीर कर मनुष्य की आन्तरिकता पर आधारित जिस नई मर्यादा का उदय हो रहा है, उसकी ओर भी ध्यान रखना आवश्यक है। "बाह्य परिस्थितियों को बदलने से ही काम नहीं चल सकता, आदमी को भीतर से भी बदलना पड़ेगा . नया सवेरा आ रहा है, नई रोशनी आयेगी, नई जिन्दगी आवेगी, उसे कोई रोक नहीं सकता...निश्चय ही। लेकिन उसका आधार इन्सानियत पर होगा, करुणा एवं सम्वेदना पर होगा।" ऐसे समय में विभिन्न क्षेत्रों में विकास एवं योजनाओं से परिचय और उनका समुचित ज्ञान हमारे राष्ट्र के भावी कर्णधार नवयुवक विद्यार्थियों के लिए, जिन पर ही उज्ज्वल भविष्य की आशा अवलम्बित है, आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। इस दृष्टिकोण से ही लेखक ने प्रस्तुत पुस्तक में विभिन्न क्षेत्रों में आर्थिक विकास की योज-

नाओं की रूपरेखा एव प्रगति के नवीनतम तथ्यों को सग्रहीत करके पाठकों के समक्ष रखने का प्रयास किया है, जिससे व अपना सहयोग एव सुझाव देकर राष्ट्रीय विकास की सुखद् कल्पना को साकार करने में सहायक हो सकें।

प्रस्तुत पुस्तक मुख्यत बी० काम०, बी० ए० तथा एम० काम०, एम० ए० क विद्यार्थियों के हितार्थ लिखी गयी है, किन्तु इस विषय के प्रति सामान्य पाठक की रुचि बनाये रखने का भी पूर्ण ध्यान रखा गया है। जहाँ तक सफलता प्राप्त हुई है, इस पर तो पाठकों का निर्णय ही सर्वाधिक उचित होगा।

लेखक के जीवन में नवीन चेतना प्रदान करने का श्रेय स्वर्गीय डा० बृजेन्द्र स्वरूप जी, एम० ए०, एल एल० डी० को है, और यह उन्हीं के आशीर्वाद का फल है कि लेखक पाठकों की सेवा का यह प्रयास कर सका है। लेखक अपने श्रद्धेय गुरुवर श्री कालका प्रसाद भटनागर, एम० ए०, एल एल० बी (उपकुलपति आगरा विश्वविद्यालय) एव प्रो० सी० पी० श्रीवास्तव, एम० ए०, बी० काम० का भी अत्यन्त आभारी है जिनके ज्ञान प्रकाश का ही परिणाम यह पुस्तक है। मानव जीवन में परिस्थितियों एव वातावरण का अनुकूल होना उसके विकास की मूलभूत आवश्यकता है और इस दृष्टि से लेखक अपने बन्धुवर श्री वीरेन्द्र स्वरूप जी, एम० ए०, एल एल० बी० का भी अनुग्रहीत है। अपने विभाग के प्रो० रामचन्द्र त्रिवेदी, एम० ए०, एम० काम० के प्रति, जिनका लेखक क हृदय में आध्यात्मिक गुरु क रूप में स्थान है, श्रद्धा एव आभार केवल शब्दों द्वारा व्यक्त करना कदाचित् कठिन होगा। लेखक इस विषय क मौलिक लेखकों एव विद्वानों का भी अत्यन्त आभारी है जिनकी कृतियों एव लेखों से उसे सहायता एव प्रेरणा प्राप्त हुई है। पुस्तक के प्रस्तुत करने में जो सहायता मुझे अपने विद्यार्थियों श्री मेराज अहमद सिद्दीकी बी० काम० एव ज्योति स्वरूप सक्सेना एम० काम० से प्राप्त हुई है, अत्यन्त प्रशसनीय है। श्रीमती राजकिशोरी निगम तथा कुसुम कुमारी निगम ने पुस्तक क प्रूफ शुद्ध करने का कार्य अपने हाथों म लेकर जो सहायता की है, उसके लिए लेखक उनका आभारी है। पुस्तक को इतने अल्प समय में पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करने का श्रेय इसके प्रकाशक श्री एस० एन० अग्रवाल को ही है और इसक लिये लेखक उनका भी हृदय से आभारी हैं।

चैत्र, रामनवमी
स० २०१६

दुर्गा दयाल निगम

विषय-सूची

प्रथम खंड—"भूमिका"

द्वितीय खंड—"भारतीय कृषि समस्याएँ"

तृतीय खंड—"भारतीय श्रम-समस्याएँ"

चतुर्थ खड—"भारतीय सगठित उद्योग"

पचम खड—"विविध"

प्रथम खण्ड

भूमिका

(१) प्रकृति एवं आर्थिक विकास
(२) सामाजिक व्यवस्था एवं आर्थिक विकास
(३) इङ्गलैण्ड मे औद्योगिक क्रान्ति

१
प्रकृति एवं आर्थिक विकास

(Nature and Economic Development)

प्रारम्भ से ही मानव प्रकृति के क्रीड़ास्थल में जन्म लेकर पनपता है और प्राकृतिक साधनों के सहारे ही जीवन क्षेत्र में पदार्पण कर संसार का निर्माण करता है। मानव स्वयं ही प्रकृति की देन है। वास्तव में 'मानव को प्रकृति का शिशु'[1] कहने में अतिशयोक्ति न होगी। अनादि काल से मानव प्रकृति के प्रांगण में अपने वातावरण को अनुकूल बनाने का सतत प्रयत्न करता रहा है और प्रकृति की अपार शक्ति के कारण ही आज वह वर्तमान अवस्था को पहुँच सका है। क्या मरुभूमि के निवासी अपने आर्थिक विकास की कल्पना भी कर सकते हैं? आज मानव अपनी प्रगति की चरम सीमा पर पहुँच कर, प्रकृति-प्रदत्त साधनों का अपनी बुद्धि एवं श्रम द्वारा उपयोग करके ही विश्व को नया रूप देने में सफल हो सका है और विज्ञान के प्रचंड सूर्य की रश्मियों द्वारा प्रगति के पथ को निरन्तर आलोकित करता जा रहा है।

मानव एवं प्रकृति ही दो महान स्तम्भ हैं जिन पर किसी भी राष्ट्र के आर्थिक विकास के भवन का निर्माण सम्भव है। विश्व के प्रत्येक राष्ट्र की आर्थिक उन्नति, वैभव एवं सम्पन्नता की पृष्ठभूमि में प्राकृतिक वातावरण का सदैव शक्तिशाली हाथ रहा है। इङ्गलैंड को आज के आर्थिक जगत में सर्वश्रेष्ठ होने का श्रेय उसके प्राकृतिक वातावरण—एकाकी स्थिति, शीतोष्ण जलवायु, अच्छे समुद्रतट और लोहे व कोयले की खानों[2] को ही है। इसके विपरीत भारतवासी अपनी प्रचुर प्राकृतिक देनों का पूर्ण उपयोग नहीं कर सके और परिणामस्वरूप यह कथन कि "भारत निर्धन लोगों से बसा एक धनी देश है"[3] पूर्ण रूप से सत्य सिद्ध होता है। निस्सन्देह किसी भी राष्ट्र का वैभव वहाँ की पर्वत-श्रेणियों, जलवायु, मिट्टी, भौगोलिक स्थिति, वनस्पति

---

[1] "Man is the child of nature"

[2] "The coast line and rivers, the proximity of rich coal and iron fields, the temperate moist climate and the fertility of the soil are still the foundations of the wealth of England"—*Mr. J. S. Nicholson.*

[3] "India is a rich country inhabited by the poor"—*Vera Anstey.*

एवं खनिज पर ही निर्भर है। मानव जीवन में आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक एवं राजनैतिक स्रोत केवल प्राकृतिक साधनों पर ही अवलम्बित है। यह सत्य है कि आज मानव ने विज्ञान के सहारे प्रकृति पर विजय प्राप्त कर लिया है, परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि वह एक सीमा तक ही प्रकृति का नियन्त्रण कर सकता है और अन्त में उसे जैसा प्रो० मार्शल ने लिखा है **"भूमि, पानी, वायु, प्रकाश तथा गर्मी"**[१] के रूप में प्रकृति पर ही आश्रित होना पड़ता है। मानव प्रकृति के हाथों में खिलौना है। बिना प्रकृति के स्नेह के मनुष्य भौतिक जगत का सृजन नहीं कर सकता। वास्तव में प्रकृति ने अपनी विभिन्नता तथा वैचित्र्य के द्वारा मानव जीवन को ढाला है।

भारत के आर्थिक विकास पर भी यहाँ के प्राकृतिक वातावरण का बड़ा गहरा सम्बन्ध रहा है। अतीत काल में भारत अपनी भौतिक उन्नति की चरम सीमा पर था। उस समय जब आधुनिक पाश्चात्य जगत में जंगली जातियाँ निवास करती थीं भारत अपनी सभ्यता एवं कला-कौशल के लिये सारे विश्व में विख्यात था और संसार के महासागरों के वक्षस्थल पर केवल भारतीय सामग्रियों से लदे हुए भारतीय जलयान लहराया करते थे। भारतीय गौरव की इस पृष्ठभूमि में उसकी जलवायु, उत्तंग पर्वत-मालायें, लहलहाते हुए मैदान, खनिज पदार्थों की प्रचुरता, मिट्टी भौगोलिक स्थिति एवं लहराती हुई सरितायें ही रही हैं। आज पाश्चात्य देशों की अपेक्षा भारत आर्थिक दौड़ में पीछे रह गया है, इसका मूल कारण प्राकृतिक साधनों का उचित उपयोग न होना ही है। एम० एल० डार्लिंग ने ठीक ही लिखा है—

'भारत की सबसे विशेष बात यह है कि उसकी भूमि उर्वर है और उसके निवासी निर्धन।'[२]

भारतवर्ष चार प्राकृतिक विभागों में बाँटा जा सकता है—(१) उत्तर का पहाड़ी प्रदेश, (२) गंगा सिन्धु का उत्तरी मैदान, (३) दक्षिण का पठारी प्रदेश, (४) समुद्रतटीय मैदान। इन चारों भागों के निवासियों के रहन सहन, आचार-विचार, उद्यम तथा उद्योग, राजनैतिक तथा सामाजिक व सांस्कृतिक स्थितियों में भिन्नता पाई जाती है। यह भिन्नता प्राकृतिक वातावरण के प्रभाव का स्पष्ट प्रतिबिम्ब है। प्रत्येक राष्ट्र के प्राकृतिक वातावरण में निम्नलिखित बातों का समावेश होता है—

---

[१] 'Ultimately man must depend upon the natural Gifts of land and water, in air, light and heat'—*Prof Marshall*

[२] 'The most arresting fact about India is that her soil is rich and her people are poor"—*M L Darling*

(१) जलवायु
(२) मिट्टी एव मैदान
(३) पर्वत
(४) नदियाँ
(५) वन सम्पत्ति
(६) खनिज सम्पत्ति
(७) समुद्र-तट
(८) भौगोलिक स्थिति

जलवायु (Climate)

किसी भी राष्ट्र के आर्थिक विकास में जलवायु का प्रमुख स्थान रहता है। देश के निवासियों की कार्य क्षमता, रहन-सहन का स्तर, कृषि-उत्पादन, वन-सम्पत्ति, पशु एव उद्योग धन्धे सदैव वहाँ के जलवायु से प्रभावित होते हैं। ठडे प्रदेशों के निवासी स्वभाव से ही परिश्रमी होते हैं। उनका शरीर हृष्ट पुष्ट होने के कारण उनकी कार्य-क्षमता भी अधिक होती है और वे कठोर परिश्रम करने में सफल होते हैं। इसके विपरीत गर्म देशों के निवासी आलसी एव दुर्बल होते हैं जिसके कारण उनकी कार्य-क्षमता भी बहुत कम होती है। गर्म प्रदेशों के निवासियों की आवश्यकताएँ भी ठडे प्रदेश के निवासियों की अपेक्षा कम होती हैं। गर्म प्रदेशों में खाद्यान्न की अधिकता होती है। परिणामस्वरूप गर्म देश के रहने वालों में आर्थिक उन्नति करने की प्रेरणा का अभाव सा रहता है। ठडे प्रदेशों में प्रकृति की कठोरता के कारण मनुष्य को कठोर परिश्रम करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। वास्तव में प्रकृति की कठोरता ही ठडे प्रदेश के निवासियों के लिए आर्थिक विकास की प्रेरणा है। पाश्चात्य देशों के शीतप्रधान होने के कारण ही वहाँ के निवासी परिश्रमी एव साहसी होते हैं। यही मुख्य कारण है कि आज पाश्चात्य देश आर्थिक ससार के प्रमुख पथ-प्रदर्शक हैं। वैज्ञानिक अनुसधान एव आविष्कार, विशाल उद्योगों का जन्म एव श्रमिकों की कार्यक्षमता की पृष्ठ भूमि में पाश्चात्य जगत की जलवायु है। प्रकृति की कठोरता ने ही इन देशों के निवासियों को निरन्तर प्रगति के पथ पर अग्रसर होने के लिये प्रेरणा प्रदान किया है और आज ये आर्थिक उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचने का श्रेय प्राप्त करने में सफल हो सके हैं। इसके विपरीत अफ्रीका, आस्ट्रेलिया तथा भारत में जलवायु गर्म होने के कारण यहाँ के निवासी अल्प आयु एव आलसी होते हैं जिसके कारण इन देशों की आर्थिक प्रगति कुण्ठित हो गई है। वीरा एन्सटे (Vera Anstey) ने भारत के निवासियों की आवश्यकताओं के बारे में लिखा है—

"A handful of rice, a cotton rag, a mud hut and dung cakes for fuel constitute the only necessaries"

आवश्यकताएँ ही आविष्कार की जननी हैं और मनुष्य को विकास के लिए सदैव प्रेरणा प्रदान करती रहती हैं। आवश्यकताएँ कम होने के कारण ही भारतीय दृष्टिकोण भौतिकवाद की ओर नहीं रहा और आज वह भौतिक जगत में सबसे पिछड़ा हुआ है।

भारत में कृषि उद्योग का प्रमुख स्थान होने का श्रेय जितना मैदानों के विस्तार का है उतना ही यहाँ की जलवायु को है। यदि यहाँ वर्षा न होती तो यह देश मरुभूमि होता। इतना होते हुए भी भारतीय कृषि उद्योग पिछड़ा हुआ है। इसका कारण भी जलवायु ही है। भारत में वर्षा मानसून द्वारा होती है और मानसूनी वर्षा बड़ी अनिश्चित रहती है। भारतीय कृषि को "वर्षा में जुआँ" कहा गया है। मानसून किसी भी समय कृषि पर तुषारापात कर सकता है। गर्म जलवायु के कारण ही भारतीय किसान आलसी होते हैं। वर्षा की अनिश्चितता के कारण किसान निराशावादी एवं भाग्यवादी बन गया है। परिणामस्वरूप कृषि उद्योग का पिछड़ा होना स्वाभाविक ही है। यही नहीं कभी कभी वर्षा की अधिकता के कारण बाढ़ द्वारा फसलें नष्ट हो जाती हैं।

महामारियों का प्रकोप

वर्षा के दिनों में तथा उसके बाद जलवायु में नमी होने के कारण मलेरिया फैलाने वाले मच्छर पैदा हो जाते हैं जिसके कारण मलेरिया का प्रकोप अत्यन्त भीषण रूप ले लेता है। लाखों मनुष्य काल के गाल में चले जाते हैं और जो बच जाते हैं उनकी कार्यक्षमता बहुत घट जाती है। परिणाम स्वरूप उत्पादन में उसका बुरा प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार अन्य महामारियों—चेचक, हैजा, इन्फ्लुएन्जा इत्यादि का भी प्रत्येक वर्ष प्रकोप रहता है।

उद्योग धन्धे

उद्योग धंधों पर भी जलवायु का अत्याधिक प्रभाव पड़ता है। बहुत से उद्योगों का स्थान तथा विकास जलवायु पर निर्भर होता है। उदाहरणस्वरूप सूती उद्योग के लिए नम जलवायु की आवश्यकता है। यही कारण है कि बम्बई तथा अहमदाबाद में इस उद्योग का केन्द्रीयकरण हो गया है। यही नहीं गर्म देश होने के कारण यहाँ के लोग अधिकतर ढीले ढाले सूती वस्त्र पहनते हैं जिसके कारण यहाँ हमेशा सूती वस्त्रों की माँग अधिक रही है और यह उद्योग अति प्राचीन समय से चला आ रहा है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जलवायु ही मनुष्य के आर्थिक जीवन को ढालती है। यद्यपि आज मनुष्य ने वैज्ञानिक प्रगति के कारण मानसून, शीत तथा गर्मी के उग्र एवं विनाशकारी रूप पर नियन्त्रण कर लिया है, तथापि प्रकृति आज भी अजेय है और मनुष्य की विशाल योजनाओं को क्षण भर में छिन्न भिन्न करने की क्षमता रखती है। भारतीय खाद्य-संकट इस बात का जीता-जागता सबूत है। राष्ट्रीय सरकार के अथक प्रयत्नों के होते हुए भी खाद्य-संकट की समस्या आज भी भीषण रूप धारण किये हुए है और द्वितीय पंचवर्षीय योजना का भविष्य अंधकारमय बना दिया है। यह सब प्रकृति के प्रकोप, जिसकी कुपित भ्रूभंगिमा मानव की विशाल योजनाओं को क्षण भर में नष्ट करने की क्षमता रखती है, के कारण ही है।

मिट्टी एवं मैदान (Soil and Plains)

किसी भी देश की मिट्टी से वहाँ के आर्थिक विकास का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। कृषि, उद्योग तथा उत्पादन देश की मिट्टी पर ही निर्भर होता है। हमारे देश में मुख्यतः चार प्रकार की मिट्टी पाई जाती है—लाल मिट्टी, काली मिट्टी, दुमट मिट्टी तथा लैटराइट मिट्टी। इन मिट्टियों म विभिन्न प्रकार के प्राकृतिक रसायन पाये जाते हैं। मिट्टी की भिन्नता पर ही उस मिट्टी से उत्पन्न होने वाली वस्तुओं तथा उनकी किस्मों में भिन्नता होती है। इन भिन्न भिन्न उत्पादित वस्तुओं पर ही विभिन्न प्रकार के उद्योगों का विकास निर्भर होता है। भारत में जूट उद्योग का केन्द्रीयकरण बंगाल राज्य में हुआ है। इसका मुख्य कारण बंगाल में कच्चे जूट का उत्पादन है। वास्तव में मिट्टी ही उत्पादन का प्रथम साधन है तथा किसी भी राष्ट्र के आर्थिक विकास की मुख्य आधार शिला है। हमारे देश में, जो प्रधानतः एक खेतिहर देश है तथा जहाँ ८५ प्रतिशत से भी अधिक व्यक्ति प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से कृषि पर निर्भर हैं, मिट्टी का महत्व और भी अधिक है।

उद्योग, व्यापार एवं यातायात इत्यादि का विकास मैदानों पर निर्भर होता है। यही कारण है कि मैदानों के निवासी पहाड़ के निवासियों की अपेक्षा अधिक सम्पन्न होते हैं। आर्थिक क्रियाओं की जितनी सुविधाएँ मैदानों म उपलब्ध होती हैं उतनी पहाड़ों या रेगिस्तानों मे नहीं हो सकतीं। मैदानों में ही रेलों, सड़कों, नहरों इत्यादि का निर्माण आसानी एवं सुविधा से किया जा सकता है। यही कारण है कि मैदानों में जनसंख्या का घनत्व सबसे अधिक रहता है। श्रम की गतिशीलता अधिक होने के कारण मैदानों में उद्योगों का विकास होता है।

हमारे देश का उत्तरी मैदान अत्याधिक उपजाऊ है। यह मैदान प्राचीन समय से ही अपनी आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास के लिये

प्रसिद्ध रहा है। देश के सभी प्रमुख उद्योगों के लिए कच्चा माल इन्हीं मैदान से ही प्राप्त होता है। इन्हीं मैदानों में ही भारत के प्रमुख उद्योग केन्द्रित हैं और विभिन्न प्रकार के यातायात के साधनों से भरपूर है। इन्हीं मैदानों की आर्थिक सम्पन्नता के फलस्वरूप यहाँ के धन एवं वैभव से आकर्षित हो कर विदेशियों ने इस देश पर बार बार आक्रमण किये जिसका प्रभाव हमारे राष्ट्र के आर्थिक विकास पर पड़ता रहा। समस्त विश्व को चकित कर देने वाले कवि, सत, विद्वान एवं दार्शनिक इन मैदानों की ही देन हैं। वास्तव में मैदान ही किसी भी राष्ट्र क आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास क केन्द्र हैं।

पर्वत (Mountains)

किसी भी राष्ट्र की आर्थिक सम्पन्नता में वहाँ के पहाड़ों का भी बहुत महत्वपूर्ण स्थान रहता है। पहाड़ी देशों के रहने वाले प्राय निर्धन होते हैं। पहाड़ी भूमि होने क कारण कृषि एवं आधुनिक उद्योग धन्धों का विकास सम्भव नहीं होता। आवागमन के साधनों का विकास भी नहीं हो पाता। आवागमन के साधनों के अभाव में सभ्यता में भी पहाड़ी लोगों का पाछे रहना स्वाभाविक ही है क्योंकि उनका सम्पर्क सभ्य जगत से नहीं रह पाता। प्रत्येक राष्ट्र में मैदान के रहने वालों के लिए पर्वत एक अमूल्य निधि हैं। प्राय सभी नदियों क स्रोत पर्वत ही हैं। इन्हीं नदियों पर किसी भी राष्ट्र की आर्थिक सम्पन्नता निर्भर है। पर्वत खनिज एवं वनों के रूप में भी किसी भी राष्ट्र के औद्योगिक भित्ति की सुदृढ़ आधार-शिला हैं।

भारतवर्ष में तो पहाड़ों का आर्थिक विकास में और भी महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि मानसून की वर्षा हिमालय की उत्तग पर्वतमालाओं के कारण ही होती है। यदि हिमालय पवत न होता तो कदाचित् सारा भारत ही मरुभूमि होता। भारतवर्ष उत्तर में लगभग १५०० मील लम्बी तथा २०० मील चौड़ी हिमाच्छादित पर्वत मालाओं से घिरा हुआ है। मध्य भारत में विन्ध्याचल, सतपुड़ा तथा अरावली की पहाड़ियाँ पाइ जाती हैं। दक्षिणी भारत के समुद्रतटीय मैदान पूर्वी और पश्चिमी घाट की पर्वतमालाओं से घिरे हैं।

उत्तरी दुर्गम पर्वतमालाएँ सदैव भारत को विदेशीय शत्रुओं से रक्षा प्रदान करती रही हैं। यही कारण है कि हिमालय को भारत का प्रहरी कहा गया है। विदेशी आक्रमणों से रक्षा प्रदान करके हिमालय ने भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की रक्षा की है। देश में शांति एवं सुरक्षा प्रदान करक हिमालय ने हमारे देशवासियों को अपना भौतिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए स्वर्ण अवसर प्रदान किया है। यही नहीं

यह पर्वत उत्तर से आने वाली ठंडी हवाओं से भी रक्षा प्रदान कर भारत के आर्थिक निर्माण में सहायक सिद्ध होता है।

भारत क पहाड़ों से ही यहाँ के देशवासियों को गंगा, यमुना, सिंधु तथा ब्रह्मपुत्र आदि नदियों की उपलब्धि हुई है। यही सरिताएँ अनन्त काल से देश को सुख एवं समृद्धि वितरित कर रही हैं। भारत के मैदान इन्हीं नदियों द्वारा लाई हुई मिट्टी से बने हैं। भारतीय कृषि तथा आर्थिक व्यवस्था इन्हीं नदियों की कृपा का परिणाम है।

हिमालय के जंगलों पर बहुत से उद्योग धंधे निर्भर हैं। इन्हीं जंगलों से विभिन्न प्रकार की मूल्यवान लकड़ी उपलब्ध होती है। इन्हीं पहाड़ों पर बड़े बड़े चरागाह भी पाये जाते हैं जहाँ भेड़ें इत्यादि जानवर पाल कर बहुत लोग अपनी जीविका चलाते हैं।

पहाड़ी जलवायु के कारण ये पहाड़ स्वास्थ्य-केन्द्र के रूप में भी मानव को बहुत अधिक लाभ पहुँचाते हैं। रमणीक प्राकृतिक दृश्यों की प्रचुरता मनुष्य को बरबस अपनी ओर आकर्षित करती रहती है। गर्मियों में लू एवं सूर्य की प्रचंड किरणों से छुटकारा पाने के लिए हजारों की संख्या में लोग इन्हा रमणीक स्थलों की शरण लेते हैं और स्वास्थ्य-लाभ प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पर्वत ही भारत की आर्थिक व्यवस्था के मूलस्तम्भ हैं। हमारे देश की वर्षा, नदियाँ, कृषि, उद्योग एवं जलविद्युत के भावी स्रोत इन्हीं पर निर्भर हैं।

नदियाँ (RIVERS)

प्राचीन काल से ही नदियों की घाटियाँ सभ्यता एवं आर्थिक सम्पन्नता के लिये विख्यात रही हैं। इतिहास के पृष्ठों से स्पष्ट है कि गङ्गा सिन्धु की घाटियाँ भारत में, नील नदी मिश्र में एवं ह्वागहो चीन में आदि काल से सभ्यता, संस्कृति एवं आर्थिक वैभव का केन्द्र रही हैं। आज के औद्योगिक जगत के लिये नदियाँ अमूल्य निधि हैं। किसी भी राष्ट्र की कृषि, आन्तरिक जलमार्ग एवं जलविद्युत का उत्पादन नदियों पर ही निर्भर है। वास्तव में नदियाँ राष्ट्र रूपी शरीर की रक्तवाहिनी नाड़ियों के समान हैं जिनपर ही सम्पूर्ण राष्ट्र का जीवन निर्भर है।

भारत सदा से कृषिप्रधान देश रहा है। इसका मूल कारण भारत की विशाल नदियाँ ही हैं। प्राचीन समय में भारत का व्यापार इन्हीं नदियों द्वारा ही होता था। आज भी भारत की सम्पूर्ण सिंचाई-व्यवस्था इन्हीं नदियों पर आधारित है। गंगा सिन्धु का मैदान इन्हीं नदियों द्वारा लाई हुई मिट्टी से बना है।

आन्तरिक जलमार्ग के रूप में सहायक होकर भारत की नदियों ने यहाँ

के व्यापार एवं वाणिज्य को सदैव प्रोत्साहन प्रदान किया है। यही कारण है कि नदियों के किनारे ही प्राय बड़े बड़े नगर एवं व्यापार केन्द्र स्थित हैं।

आज भारत बहुमुखी सिंचाई एवं जलविद्युत योजनाओं द्वारा अपनी आर्थिक मोक्ष का द्वार खोल रहा है। ये बहुमुखी योजनाएँ भारतीय सरिताओं की ही देन हैं। जलविद्युत के उत्पादन द्वारा भारत औद्योगिक जगत में निरन्तर प्रगति करता चला जा रहा है। वास्तव में भारत का भावी आर्थिक विकास इन्हीं योजनाओं की सफलता पर अवलम्बित है और ये योजनाएँ सरिताओं की देन हैं। भारत की नदियाँ भारत के आर्थिक विकास की अभिन्न अंग हैं, इसमें स देह नहीं।

वन सम्पत्ति (Forests)

वन किसी भी राष्ट्र की अमूल्य सम्पत्ति हैं। प्रत्येक देश के आर्थिक विकास म प्राकृतिक वनस्पति का महत्वपूर्ण योग रहता है। मख्यत भारतवर्ष ऐसे कृषिप्रधान देश क लिये वनों का महत्व अतुलनीय है। हमारे देश में चार प्रकार के वन हैं—सदाबहार, पतझड़ क वृक्षों वाले, मानसूनी तथा डेल्टाओं के वन। भारतीय वनों का कुल क्षेत्रफल ६३२ लाख एकड़ है। इन वनों से भारत को प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष अनेक लाभ होते हैं। वन सम्पत्ति के पूर्ण एव उचित उपयोग पर ही भारत की आर्थिक प्रगति की गति निर्भर है।

वनों का आर्थिक विकास पर प्रभाव

नदियों की बाढ़ की भयकरता में कमी हो जाती है, क्योंकि जल का प्रवाह पेड़ों की सघनता से धीमा हो जाता है तथा जल आगे की ओर नहीं बढ़ने पाता। नदियों की बाढ़ का पानी वनों में फैल जाता है। इस तरह बाढ़ों से होने वाला नुकसान कम हो जाता है। जल प्रवाह की गति धीमी हो जाने के कारण मिट्टी का कटाव (Soil Erosion) भी कम होता है।

वनों से भूमि का उर्वरा शक्ति बढ जाती है। पेड़ों से गिरने वाली सड़ी गली पत्तिया मिट्टी म वनस्पति अंश की वृद्धि करती हैं। यही मिट्टी पानी द्वारा आस पास की भूमि पर फैल जाती है और सर्वत्र उपजाऊ मिट्टी का विस्तार हो जाता है।

वर्षा की अधिकता भी वनों की ही देन है, क्योंकि पेड़ों की पत्तियों से जल का वाष्पीकरण होता रहता है। इस प्रकार वायुमडल म नमी अधिक हो जाती है और वर्षा अधिक होने की सभावना रहती है।

वनों से हमको ईंधन की लकड़ी, इमारती लकड़ी, जड़ी बूटियाँ, गाद, लाख एव रबड इत्यादि वस्तुए प्राप्त होती हैं। चमड़ा रगने के पदार्थ भी कई जगली वृक्षों की छालों, पत्तियों तथा फलों से प्राप्त होते हैं। खुशबूदार तेल

भी विभिन्न जगली घासों एव लकड़ी से निकाले जाते हैं। इनमें मुख्य चन्दन का तेल, तारपीन का तेल, लेमन ग्रास तेल आदि है।

वनों में अनेक प्रकार के जगली जीव पाये जाते हैं जिनका शिकार किया जाता है। शिकार से केवल लोगों का मनोरंजन ही नहीं होता, वरन् गोश्त, खाल, सींग, समूर इत्यादि वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। हाथी दाँत का उपयोग तो बहुत सी वस्तुएँ बनाने में होता है।

देश के व्यावसायिक विकास में वन सम्बन्धी उद्योगों का विशेष महत्व है। ये उद्योग भारत में लाखों व्यक्तियों की जीविका के साधन हैं। लगभग २५ लाख व्यक्ति इन धन्धों में लगे हुए हैं। अतिरिक्त हजारों व्यक्ति ऐसे हैं जो अपना अवकाश का समय इन धन्धों में लगाते हैं जब कि उनका प्रधान व्यवसाय खेती है। वनों पर आधारित मुख्य उद्योग ये हैं—कागज उद्योग, लाख उद्योग, दियासलाई उद्योग, रेशम उद्योग, नारियल सम्बधी उद्योग, खेल का सामान, लकड़ी उद्योग, कत्था उद्योग, ग्रामोफोन रेकर्ड, वार्निश का तेल, बेंत उद्योग, बाँस उद्योग, सुपारी तथा रबड़ उद्योग इत्यादि।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वन सम्बधी उद्योग भारत की आर्थिक व्यवस्था के प्रधान अंग हैं। वनों से प्राप्त लाभों के द्वारा राष्ट्रीय आय में वृद्धि सम्भव है। यही कारण है कि हमारी राष्ट्रीय सरकार इस महत्वपूर्ण आर्थिक साधन के विकास के लिए प्रयत्नशील है। वन सम्बधी अन्वेषणों (Research) की व्यवस्था के लिए देहरादून में वन शोध सस्था (Forest Research Institute, Dehradun) स्थापित किया गया है। प्राचीन काल में भारत के बहुत बड़े भाग पर वनों का विस्तार था। परन्तु धीरे धीरे वन वृक्षों का ह्रास होता गया और अब तो भारत के २० प्रतिशत भाग पर वनों का विस्तार रह गया है। प्राकृतिक वनस्पति के क्षेत्र का उत्तरोत्तर घटते जाना श्रेयस्कर नहीं है क्योंकि आर्थिक विकास में इसका महत्वपूर्ण योग रहता है। यही कारण है कि प्रथम पचवर्षीय योजना में भारत सरकार ने वनों के सरक्षण को उचित स्थान प्रदान किया। विकास योजनाओं के फलस्वरूप सन् १९५६ तक वनों का क्षेत्रफल २२ प्रतिशत तक पहुँच गया। सरकार की योजना इस प्रतिशत को ३३ तक पहुँचाने की है। इस प्रकार भारत सरकार वन-सम्पदा के रक्षण, सदुपयोग तथा परिवर्द्धन की ओर प्रयत्नशील है और विविध दिशाओं में पर्याप्त कार्य भी हो रहा है। आशा ही नहीं वरन् पूर्ण विश्वास है कि भविष्य में भारतीय वनों के क्षेत्र का विस्तार होगा और वनों का सदुपयोग करके इन पर निर्भर उद्योगों का समुचित विकास सम्भव हो सकेगा। प्रत्येक वर्ष वन-महोत्सव मनाया जाता है जिससे जन-साधारण का ध्यान वन सम्पत्ति के महत्व

की ओर आकृष्ट होता है और वनों की उन्नति की योजनाओं की ओर सजगता उत्पन्न होती। तृतीय पचवर्षीय योजना मे वन विकास पर ७० करोड़ रुपया व्यय करने की व्यवस्था की गई है, जबकि प्रथम पचवर्षीय योजना में १० करोड़ तथा द्वितीय आयोजन म २२ करोड़ थी।

खनिज सम्पत्ति (Minerals)

भूमि के गर्भ म छिपी हुई प्राकृतिक सम्पत्ति आधुनिक युग के आर्थिक वैभव एव सम्पन्नता की मुख्य आधार शिला है। प्रत्येक राष्ट्र के उद्योग धधे, व्यापार, यातायात और वहाँ के रहने वालों का रहन सहन का स्तर खनिज पदार्थों की प्रचुरता पर ही निर्भर है। इङ्गलैंड की औद्योगिक क्रान्ति का मूल कारण लोहे एव कोयले की खानें रही हैं। सोना, चाँदी, ताबा इत्यादि अन्य धातुएँ भी किसी राष्ट्र के आर्थिक विकास क आवश्यक अग हैं। आधुनिक युग में मानव की आँखें अणु शक्ति (Atom Energy) के चमत्कारों की ओर लगी हैं। अणु शक्ति का विकास भी खनिज पदार्थों पर ही निर्भर है क्योकि 'थोरियम' यूरेनियम मूल्यवान खनिजों से ही अणु शक्ति बनता है। लोहा एव इस्पात वास्तव म न केवल औद्योगिक ढाचे का मूलाधार है वरन् आधुनिक जगत के प्रत्येक क्षेत्र में जीवन सचार करता है। राष्ट्रीय सुरक्षा, औद्योगिक प्रगति, परिवहन, वैज्ञानिक कृषि इत्यादि सभी इसी पर निर्भर हैं।

भारत भी खनिज पदार्थों की दृष्टि से पर्याप्त रूप में सम्पन्न है। अति प्राचीन समय से ही हमारे देश में लोहे एव इस्पात का प्रयोग होता रहा है। वेदों में अन्य धातुओं का भी वर्णन मिलता है। परन्तु अभाग्यवश राजनैतिक परतन्त्रता के कारण हम खनिज सम्पत्ति का उचित उपयोग नहीं कर सके। यही कारण है कि भारत के औद्योगिक विकास की गति बहुत मन्द रही। भारत की औद्योगिक आवश्यकता की पूर्ति के लिये यहाँ पर्याप्त खनिज पदार्थ उपलब्ध हैं। इनमें मुख्य रूप से ये हैं—इस्पात, क्रोमाइट, मैंगनीज, शीशा, चूना, जिप्सम, कोयला, बाक्साइट, तथा ताँबा। राष्ट्रीय सरकार देश की खनिज सम्पत्ति के विकास के प्रति सजग है और इसी पर राष्ट्र का न केवल औद्योगिक एव आर्थिक विकास, वरन् राजनैतिक सुरक्षा एव देशवासियों का सुख एव शान्ति अवलम्बित है।

समुद्रतट (Coast line)

समुद्रतट की बनावट का भी प्रभाव किसी देश के आर्थिक विकास पर अत्याधिक पड़ता है। समुद्रतट जहाँ जहा पर कटे फटे हैं वहाँ पर बड़े बड़े बन्दरगाह एव व्यापारिक केन्द्र स्थित हैं। विदेशी व्यापार के लिये समुद्र ही मुख्यत. यातायात के

साधन हैं। इङ्गलैंड तथा हालैंड के विश्व में प्रमुख समुद्रीय-शक्ति प्राप्त करने का श्रेय यहाँ के समुद्रतट को ही है। समुद्रीय-शक्ति के कारण ही इङ्गलैंड अपना इतना बड़ा राज्य कायम कर सका जिसमें सूर्य ही न अस्त होता हो। आज भी इसी शक्ति के कारण इङ्गलैंड को विश्व के वाणिज्य एव व्यापार में सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ही किसी भी राष्ट्र के औद्योगिक विकास का अभिन्न अंग है और उस राष्ट्र के आर्थिक विकास की मूलभूत आवश्यकता है और यह समुद्रीय शक्ति पर ही निर्भर है। जितनी ही तट-रेखा लम्बी होगी उतने ही अधिक बन्दरगाहों का विकास सम्भव हो सकेगा।

समुद्रिक मछलियों के पकड़ने के केन्द्रों का विकसित होना भी अच्छे समुद्रतट पर निर्भर होता है। मछली पकड़ने का उद्योग न केवल मछली पकड़ने वालों की जीविका का साधन ही होता है वरन् राष्ट्र की खाद्य समस्या को हल करने में भी सहायक सिद्ध होता है।

समुद्र से प्राप्त होने वाली विभिन्न वस्तुओं के प्रयोग करने वाले अनेक उद्योग-धंधों का विकास भी समुद्रतट पर ही निर्भर है। मोती, मूँगा इकट्ठा करना, नमक बनाना इत्यादि समुद्र की देन हैं।

भारत के समुद्रतट की लम्बाई ३५०० मील है, परन्तु यह लगभग सपाट होने के कारण अच्छे बन्दरगाहों से विहीन है। यही कारण है कि हमारी राष्ट्रीय सरकार बन्दरगाहों के विकास में संलग्न है और इनके विकसित हो जाने पर निःसंदेह भारत पूर्वीय गोलार्द्ध में अपनी केन्द्रीय स्थिति के कारण विश्व की एक महान समुद्रीय शक्ति प्राप्त कर सकेगा।

भौगोलिक स्थिति (Geographical Location)

किसी भी देश की भौगोलिक स्थिति अर्थात् समुद्र से दूरी, भूमध्य रेखा से दूरी सतह की ऊँचाई तथा निचाई तथा पहाड़ों की स्थिति इत्यादि का प्रभाव वहाँ के आर्थिक विकास पर पड़ता है। समुद्र की सतह से ऊँचाई पर ही भूमि की बनावट और उर्वरता निर्भर है। इसी पर प्रत्येक देश की जलवायु तथा वर्षा का परिमाण निर्भर होता है।

भारतवर्ष की स्थिति भी बहुत महत्वपूर्ण है जिसका प्रभाव यहाँ के वाणिज्य, सुरक्षा तथा जलवायु पर पड़ा है। हमारा देश पूर्वीय गोलार्द्ध के मध्य में स्थित है। दक्षिण में यह तीन तरफ समुद्र से घिरा है तथा उत्तर में दुर्गम पर्वत श्रेणियों से। इसकी स्थिति दो अतिशय प्रधान क्षेत्रों के मध्य है। पूर्व में बहुत घने बसे हुए नम भाग (बर्मा, चीन, मलाया, इण्डोचीन, इण्डोनेशिया, तथा जापान) और पश्चिम में बहुत कम घने बसे

हुए शुष्क भाग जो कि औद्योगिक दृष्टि से भी पिछड़े हुए हैं। इतनी महत्वपूर्ण स्थिति कदाचित भविष्य में इसे एक वैभवशाली राष्ट्र बना दे सकती है। पूर्वी गोलार्द्ध में यह भारतीय महासागर के सम्मुख मध्य की स्थिति प्राप्त करता है। प्राचीन व नवीन विश्व के मध्य जलमार्गों का पथ प्रदर्शक यही देश है, क्योंकि इसके पश्चिम में अफ्रीका तथा योरोप, और दक्षिण में आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड तथा पूर्व में थाईलैंड, चीन, जापान, और अमरीका स्थित हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के दृष्टिकोण से यदि देखा जाय तो अपने देश की स्थिति बड़ी लाभदायक है। भौगोलिक स्थिति के कारण ही भारत अब भी पुन. समृद्धशाली बनने के प्रयास म बड़ी सफलता प्राप्त कर रहा है। भारत का आर्थिक एव सामाजिक तथा सास्कृतिक विकास का इतिहास भारत की भौगोलिक स्थिति के वक्षस्थल पर ही लिखा हुआ है।

उपसहार (Conclusion)

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रत्येक राष्ट्र का आर्थिक वैभव एव सम्पन्नता वहाँ के प्राकृतिक वातावरण की देन है। भारत का अतीत, वर्तमान एव भविष्य भारत की प्राकृतिक परिस्थितियों का ही प्रतिबिम्ब है। राजनैतिक दासता की शृखलाओं में जकड़े होने क कारण भारत अपनी अमूल्य एव असीम प्राकृतिक देनों का पूर्ण उपयोग न कर सका और फलस्वरूप अन्य उन्नतिशील राष्ट्रों की अपेक्षा आर्थिक दौड़ म पीछे रह गया। आज स्वतन्त्रता प्राप्त करने के उपरान्त भारत अपने नवनिर्माण के पथ पर चल पड़ा है और अतीत क उच्च गौरव को पुन प्राप्त करने की आशाएँ सक्रिय हो उठी हैं। परन्तु भारत के आर्थिक मोक्ष का स्वप्न यहाँ के प्राकृतिक साधनों के उचित उपयोग पर ही साकार हो सकता है। भारत की आर्थिक योजनाओं की पृष्ठभूमि में यहाँ की प्राकृतिक परिस्थितियाँ ही हैं। यह प्राकृतिक परिस्थितियों का ही वरदान है कि भारत आज आधुनिक औद्योगिक युग के विशाल द्वार पर खड़ा हुआ समृद्धिशाली, उज्ज्वल एव गौरवमय आर्थिक स्वाधीनता की स्थापना के लक्ष्य की ओर अबाध गति से प्रगति करता चला आ रहा है। 'हिमालय का आँगन, सागर का तट, प्रकृति का क्रीडा-क्षेत्र, ऋतुओं का वन विहार, वनस्पतियों का भण्डार, सुषमा और सौन्दर्य का आगार यह भारतवर्ष आज भी मोहक और आकर्षक है। आज भी यह विश्व का केन्द्र बिन्दु है और विज्ञान के कोलाहल मे शान्ति का अध्यात्मिक सन्देश देने के लिये उन्मुख है।"

२

सामाजिक व्यवस्था एवं आर्थिक विकास

(Social Environment and Economic Development)

प्रत्येक राष्ट्र के आर्थिक विकास के दो मूल स्तम्भ हैं—मानव एवं प्रकृति। इन दोनों में प्रकृति मूक एवं निष्क्रिय साधन है और मनुष्य जाग्रत एवं सक्रिय। अतः मानव आर्थिक विकास का महत्वपूर्ण अंग है। रत्नगर्भा वसुन्धरा की सर्वतोमुखी सौन्दर्य-वृद्धि के लिए मानव का अथक परिश्रम आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। मनुष्य के पराक्रम एवं पुरुषार्थ की महत्वाकांक्षाओं से ही पृथ्वी शस्य श्यामला सुजला, सुफला हो उठी। मानव के इस अभिनव स्वरूप ने ही भगवान को गौरवान्वित और पुलकित किया है। किसी भी देश में प्रकृति अपना वरदान देने में कितनी ही दयालु क्यों न हो, बिना मानव की शक्ति के आर्थिक वैभव एवं सम्पन्नता केवल एक सुखद् कल्पना ही रहती है। भारत की आर्थिक विकास की गति मन्द होना इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। भारत में प्राकृतिक परिस्थितियाँ अनुकूल होते हुए भी यह राष्ट्र अन्य उन्नतशील राष्ट्रों की अपेक्षा आर्थिक दृष्टि से अविकसित रह गया है। इसका मूल कारण यहाँ के निवासियों द्वारा अपनी प्राकृतिक देनों का पूर्ण उपयोग न करना ही है। वेरा एन्सटे (Vera Anstey) ने ठीक ही लिखा है —

"Here is a country of ancient civilization with rich and varied resources .and which is a byword throughout the world for the poverty of its people"

मानव सामाजिक प्राणी है। बिना समाज के मनुष्य अपना जीवन निर्वाह नहीं कर सकता। उसके प्रत्येक कार्य का प्रभाव समाज पर पड़ता है और समाज के कार्यों का प्रभाव उसके जीवन की गति को निर्धारित करता है। इस कथन में अतिशयोक्ति न होगी कि मानव समाज का दास है। यही कारण है कि समाज की धार्मिक भावना, रीति रिवाज तथा प्रथाएँ एवं सामाजिक संस्थाएँ मानव के आर्थिक विकास को शाश्वत काल से प्रभावित करते आये हैं। भारतवासियों की आध्यात्मिकता, संसार के प्रति उदासीनता एवं भौतिक सुखों के प्रति अवहेलना की भावना का प्रतिबिम्ब

भारत के आर्थिक विकास की मन्द गति पर स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ता है। वेरा एन्सट (Vera Antsey) के शब्दों में—

"The religious tenets and practices in India have strictly limited her economic development in the past, and influence fundamentally future potentialities."

मानव का सामाजिक परिस्थितियों एवं उसके आर्थिक विकास के बीच सदैव से बड़ा गहरा सम्बन्ध रहा है। प्रकृति एवं सामाजिक परिस्थितियों ने मनुष्य को धार्मिक दृष्टिकोण भी प्रदान किया है और यही कारण है कि विभिन्न प्राकृतिक प्रदेशों के निवासियों के धार्मिक दृष्टिकोण में भिन्नता पाई जाती है। अनादि काल से ही मनुष्य का सामाजिक संगठन एवं धार्मिक दृष्टिकोण के अनुरूप ही उसकी अर्थ-व्यवस्था भी ढलती रही है। प्रत्येक देश में समाज में सम्पत्ति का वितरण, जनसंख्या का घनत्व, उद्योग धंधे तथा व्यवसाय, और मनुष्य की आर्थिक क्रियाएँ सदैव से सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होते रहे हैं। किसी भी राष्ट्र के आर्थिक विकास के लिए देशवासियों की रुचियाँ एवं आकांक्षाएँ ऐसी होना, जिससे वे आर्थिक विकास के महत्व और लाभों को समझ सकें और उनके लिए प्रयत्नशील हों, अत्यन्त आवश्यक हैं। आर्थिक विकास की गति बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि समाज में विकास के प्रति कितनी आकांक्षा एवं उत्साह है। सामाजिक रूढ़ियाँ एवं परम्पराएँ आर्थिक विकास को गति दे सकती हैं, और उसे रोक भी सकती हैं। राष्ट्रसंघ (United Nations) की एक समिति ने अपनी रिपोर्ट में ठीक ही लिखा है—

"उपयुक्त वातावरण की अनुपस्थिति में आर्थिक प्रगति असंभव है। आर्थिक विकास के लिए आवश्यक है कि समाज में प्रगति की इच्छा हो और उसकी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं वैधानिक संस्थाएँ इस इच्छा को कार्यान्वित करने में सहायक हों।"

भारत प्रकृति का उपासक है। सूर्य, पृथ्वी, वायु, वृक्ष तथा अग्नि आदि की उपासना इसी विशेषता की देन हैं। भारतीय दृष्टिकोण का अभौतिक तत्वों की ओर होना एवं अन्धविश्वास तथा रूढ़िवादिता का जन्म भारत की धार्मिक भावना का ही परिणाम हैं। यही कारण है कि अन्ध विश्वास एवं रूढ़ियों की शृंखलाओं में जकड़ा हुआ भारत अपने भौतिक क्षेत्र के निर्माण में असफल रहा है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था के निम्नलिखित मौलिक अंग हैं जो सामाजिक जीवन के विकास के प्रारम्भ से ही यहाँ के आर्थिक विकास को पूर्णतया प्रभावित करते चले आ रहे हैं—

(१) धार्मिक दृष्टिकोण

(२) जाति प्रथा एवं रीति रिवाज

(३) संयुक्त-परिवार-प्रणाली
(४) उत्तराधिकार के नियम
(५) बाल विवाह एवं पर्दा प्रथा।

धार्मिक दृष्टिकोण (Religion)

प्राचीन काल से ही हमारे देश में धर्म की प्रधानता रही है। भारतीय जन-जीवन सदैव से ही धार्मिक भावना से ओत प्रोत रहा है। हमारे सामाजिक एवं आर्थिक संगठन की मुख्य आधार शिला धर्म ही है। धर्म ही हमारे प्रत्येक सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक कार्य का पथ प्रदर्शक रहा है। धार्मिक भावनाओं के कारण ही हमारा सामाजिक एवं आर्थिक संगठन न्याय, सत्य एवं अहिंसा इत्यादि के उत्तम गुणों पर आधारित था। सबल द्वारा निर्बल का केवल शोषण ही नहीं होता था, वरन् उनकी रक्षा होती थी। ईर्ष्या, द्वेष, कलह आदि दुर्गुणों का हमारे धर्म में कोई स्थान न था। परिणामस्वरूप अतीत का भारत एक सुसंगठित, शक्तिशाली एवं आर्थिक वैभव से परिपूर्ण था। धार्मिक सिद्धान्तों पर संगठित हमारे देश की उत्तम व्यवस्था एवं आर्थिक समृद्धि ही 'रामराज्य' के नाम से आज भी विख्यात है और आज भी प्रत्येक देश का आदर्श है। सच्चे अर्थ में 'रामराज्य' ही आधुनिक 'कल्याणकारी राज्य' (Welfare State) का प्रतिबिम्ब है। अतीत काल में उच्च धर्म ज्ञान ने ही भारतवासियों के जीवन में प्रेरणा का संचार किया और मानव जीवन में कर्म एवं संघर्ष का पाठ पढ़ाया। प्राचीन भारत का गौरव एवं भौतिक समृद्धि इस बात का प्रतीक है कि धर्मवाद एवं अध्यात्मवाद आर्थिक समृद्धि का नाशक तथा बाधक न होकर उसके सहायक थे। हमारे अध्यात्मवाद का उद्देश्य धर्म, कर्म और इस लोक तथा परलोक दोनों की उन्नति करना था। इस प्रकार अध्यात्मवाद तथा भौतिकवाद में अति उत्तम सामञ्जस्य स्थापित हो गया। परन्तु समय के व्यतीत होने के साथ ही साथ मुसलमान शासकों की धर्म परिवर्तन की नीति के फलस्वरूप हमारा विशुद्ध धर्म रूढ़िवादिता एवं अंधविश्वास के कारण दूषित हो गया और हमारे आर्थिक तथा सामाजिक विकास में बाधक बन गया।

रूढ़िवादिता की शृंखलाओं में बँधे हुए धर्म ने यहाँ के लोगों को बतलाया कि संसार स्वप्न है और संतोष ही सबसे बड़ा धन है। मानव सुख संतोष में ही निहित है। भौतिक एवं आर्थिक उन्नति क्षणिक एवं धृणास्पद है। यहाँ के देशवासियों को इन भावनाओं ने निकम्मा एवं आलसी बना दिया और इस भावना का प्रादुर्भाव हुआ—

"अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम,
दास मलूका कह गये कि सबके दाता राम।"

परलोकवाद की भावनाओं ने हमारे देशवासियों को अकर्मण्य, अन्धविश्वासी, निरक्षर भट्टाचार्य एवं साहसहीन बना दिया। परिणामस्वरूप प्रयत्न एवं संघर्ष की भावना से लुप्त-प्राय भारतवासी दरिद्रता एवं दुःखमय जीवन को बिताकर ही परलोक एवं स्वर्ग के सुखद् स्वप्न देखने में निमग्न रहने लगा और अपने अतीत के गौरव एवं आर्थिक सम्पन्नता को खो बैठा। भारत के प्रचुर प्राकृतिक साधनों का पूर्णरूप से उपयोग न होने का यही कारण रहा है।

धार्मिक भावनाओं एवं अन्धविश्वास के कारण ही विदेशियों ने इस देश में अपना प्रभुत्व स्थापित करके भारतवासियों को दासता की शृंखलाओं में जकड़े रक्खा और भारत के धन एवं प्रचुर प्राकृतिक देनों का उपयोग करके अपने देश को वैभवशाली एवं सम्पन्न बनाया। मुहम्मद गोरी ने इस देश पर आक्रमण किया और हम उसका स्वागत अतुल धन सम्पत्ति देकर करते रहे। परिणामस्वरूप भारत विदेशी सत्ता की शृंखलाओं में सदैव जकड़ा रहा और इस देश का शोषण होता रहा। पहले मुगल और बाद में अंग्रेज इस देश के सोने से अपना भवन निर्माण करते रहे और परिणामस्वरूप राजनैतिक दासता की मुक्ति पर सन् ४७ में हमको एक शोषित एवं जर्जरित भारत प्राप्त हुआ।

धर्म ने ही भारत में अहिंसा एवं भाग्यवादी प्रवृत्तियों को जन्म दिया है। इन प्रवृत्तियों के कारण ही भारतीय कृषि जो कि यहाँ का मुख्य उद्योग है, प्राकृतिक परिस्थितियाँ अनुकूल होते हुए भी अत्यन्त पिछड़ा हुआ है। भारतीय कृषक भाग्यवादी होने के नाते परिश्रम एवं प्रयत्न से मुख मोड़कर भाग्य के सहारे बैठा रहता है। वह यह भूल बैठा है कि भगवान् उसकी ही मदद करता है जो अपनी मदद स्वयं कर सकता है। अकाल, बाढ़ एवं अन्य संकटों को भारतीय कृषक दैवी संकट मानकर उनसे संघर्ष करने का प्रयास नहीं करता और फलस्वरूप वह दुःख एवं संकट के गहन अन्धकार में जीवन व्यतीत करता रहता है। अहिंसा का पुजारी होने के नाते भारतीय कृषक आधुनिक खादों का प्रयोग भी नहीं कर पाता। हड्डियों की खाद को छूना भी पाप समझता है। यही नहीं बूढ़े बैलों तथा अन्य पशुओं को भी वह जीवन पर्यन्त पालन करता है चाहे उनसे उसको कितनी ही आर्थिक हानि न उठानी पड़े। प्रत्येक वर्ष टिड्डियों एवं अन्य जंगली पशुओं द्वारा कृषि को कितनी ही हानि क्यों न हो इन पशुओं को मारना पाप समझता है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि भारत में, चूहों, बन्दरों, टिड्डियों एवं अन्य जंगली पशुओं द्वारा लगभग ६० करोड़ रुपये की फसल प्रत्येक वर्ष बरबाद हो जाती है। इतना होते हुए भी भारतीय कृषक इनकी आराधना करता है।

भारतीय कृषक की ऋणग्रस्तता भी बहुत कुछ धार्मिक भावनाओं का

विश्वास एव उदार नवीन आर्थिक उन्नति की योजनाओं के प्रति उदासीनता आदि को प्रोत्साहन देता है जो किसी भी सभ्य समाज के लिये कलक है। श्रीमती वीरा एन्सटे (Mrs. Vera Anstey) ने ठीक ही लिखा है :—

"धार्मिक प्रवृत्ति चाहे किसी भी विशेष सम्प्रदाय से सम्बन्धित हो, भारतीय जीवन के प्रत्येक अंग मे व्याप्त है, तथा रूढ़वादिता व अन्धविश्वास की जन्मदाता है, तथा प्रत्येक नवीनता का तर्कहीन विरोध करती है चाहे वह कितनी ही जागृत या उदार क्यो न हो। धर्म, आर्थिक उद्देश्यो का बहिष्कार करके उनके स्थान पर रूढ़ि एव पूर्वस्थिति की प्रतिस्थापना करता है। पाश्चात्य देशो की तुलना मे भारत मे आर्थिक एवं सामाजिक उन्नति के लिये धार्मिक विरोध को नष्ट करने मे अधिक कठिनाइयाँ हैं क्योंकि यहाँ वर्तमान धार्मिक विश्वास तथा उनसे उत्पन्न हुआ विशेष सामाजिक सगठन इस उद्देश्य मे बाधक हैं।"

जाति-प्रथा एव रीति-रिवाज (Caste System & Customs)

यद्यपि मनुस्मृति, वेद एव गीता इत्यादि प्राचीन ग्रन्थों में जाति प्रथा का उल्लेख है, किन्तु इस प्रथा का वास्तव मे कब और किस प्रकार प्रादुर्भाव हुआ निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता। प्राचीन काल से ही यहाँ के हिन्दुओं की वर्ण-व्यवस्था चली आ रही है। हिन्दुओं मे मुख्यतः चार जातियाँ होती हैं—(१) ब्राह्मण, (२) क्षत्रिय, (३) वैश्य और (४) शूद्र। इस प्रकार की वर्ण व्यवस्था का मूलाधार आर्थिक सिद्धांतों के आधार पर प्रारम्भिक श्रम विभाजन था। उपर्युक्त चारो वर्णों का कार्य क्षेत्र बाँट दिया गया था और उनके कर्मों के अनुरूप ही उन्हें विशेष वर्ण या जाति में रक्खा गया था। गीता मे कहा गया है—"चातुर वर्ण्य भय कृत्यम् गुण कर्म विभागश."
अर्थात् चार वर्ण मनुष्य के गुणो एव कर्मों के अनुसार बनाये गये। इस प्रकार ब्राह्मणों का पठन पाठन का कार्य, क्षत्रियों को देश की सुरक्षा का कार्य, वैश्यों को व्यवसाय एव वाणिज्य का कार्य, एव शूद्रों को अन्य वर्णों की सेवा कार्य निर्धारित किया गया। कालान्तर में यह वर्ण-व्यवस्था अधिक जटिल बनती चली गई और आज हम देखते हैं कि इन चारों जातियों मे विभिन्न उपजातियों का भी प्रादुर्भाव हो गया है। मध्यकाल में मुसलमानों की धर्म परिवर्तन की नीति के फलस्वरूप सभ्यता एव सस्कृति की रक्षा करने की भावना जाग्रत हुई और परिणाम स्वरुप जाति-पाँति के बन्धन और भी सुदृढ़ हो गये। समाज का अनेक छोटे छोटे वर्गों में उपखडन होकर एक जाति के अन्तर्गत अनेक उपजातियाँ बन गईं। मनुष्य के पेशे के अनुसार उसकी जाति मानी जान लगी जैसे लोहे का काम करने वाला लोहार, लकड़ी का काम करने

वाला बढ़ई, कपड़े धोने वाला धोबी, बाल बनाने वाला नाई इत्यादि। इस प्रकार जो मनुष्य जिस प्रकार का उद्यम करने लगा उसी के आधार पर उसकी उपजाति का नामकरण होने लगा। इस प्रकार सारा समाज विभिन्न उपजातियों में विभाजित हो गया। इस प्रकार आदि काल में यह जाति-भेद उतना संकीर्ण और संकुचित नहीं था जितना आजकल है। प्राचीन समय में जाति प्रथा ने अपनी सांस्कृतिक वैयक्तिकता बनाये रखने में बहुत सहायता प्रदान की है। इस प्रथा के कारण ही पारिवारिक रक्त की शुद्धता के विचार से पारिवारिक घनिष्ठता और एकता को बहुत बल मिलता था। यही कारण है कि भारतीय समाज अपनी संस्कृति एवं सभ्यता की रक्षा और अपनी पृथक सत्ता विदेशी आक्रमणों द्वारा विशृङ्खल होकर भी बनाये रखने में समर्थ हो सका। परन्तु आज विभिन्न वर्गों एवं उपजातियों के बन जाने के कारण समाज की नींव ही खोखली हो गई है और जाति पाँति की व्यवस्था एक अत्यन्त दुरूह सामाजिक व्यवस्था बन गई है। आज वास्तव में जाति-पाँति की प्रथा समाज के मत्थे पर कलंक का टीका है और विभिन्न सामाजिक एवं आर्थिक कुरीतियों की जन्मदात्री है। 'इम्पीरियल गजेटियर आफ इण्डिया' में जाति की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—

'कुछ परिवारों अथवा परिवारों के झुण्ड का वह समूह जिसका एक ऐसा नाम है जो किसी विशेष पेशे की ओर संकेत करता है अथवा उससे सम्बंधित है और जो किसी काल्पनिक मानवीय या दैवी पूर्वज के वंशज होने का दावा करता है।'[1]

इस प्रकार जाति प्रथा के आधारभूत दो तत्व हैं— (१) वंशगत रक्त शुद्धि की भावना एवं (२) समाज में संगठित श्रम विभाजन का विचार। परन्तु आज समाज के कुछ विशेष वर्गों ने समाज पर अपनी सत्ता आरूढ़ बनाये रखने के उद्देश्य से अपने निहित स्वार्थों के कारण इस कुप्रथा को स्थायी रूप से जटिल बना दिया है। परिणामस्वरूप इस प्रथा के उन्मूलन के बिना अपने देश की आर्थिक प्रगति को गति नहीं प्रदान की जा सकती।

जाति प्रथा के लाभ

इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन भारत की समृद्धि एवं गौरव में वर्ण व्यवस्था का बहुत बड़ा हाथ था। प्राचीन समय में भारत की आर्थिक सम्पन्नता एवं औद्योगिक विकास का श्रेय जाति प्रथा को ही है। प्राचीन काल में जाति पाँति की व्यवस्था अनुभूत एवं वैज्ञानिक समाजवाद के सिद्धान्तों पर आधारित थी। इसके द्वारा विभिन्न

---

1 'A collection of group of families bearing a common name and having the same traditional occupation and claiming common descent from a mythical ancestor'—Imperial Gazetteer of India

उद्योगों के उत्पादन एव उत्पादित वस्तुओं के वितरण में अत्यन्त लाभदायक सामञ्जस्य स्थापित होता था। भारतीय प्रायमिक उद्योग धधों की समृद्धता एव आर्थिक स्वर्ण युग की आधारशिला जाति पाँति की व्यवस्था ही थी। इस प्रथा से समाज को निम्न लिखित लाभ प्राप्त होते थे—

श्रम विभाजन के लाभ

जाति प्रथा श्रम विभाजन क लाभों को प्रदान करक राष्ट्रीय आय में वृद्धि का मुख्य साधन है। प्रत्येक व्यक्ति को उसकी जाति क अनुरूप ही काय मिलने के कारण प्रारम्भ से ही उसकी रुचि उस कार्य म होने लगती है। एक विशेष निर्धारित कार्य करने के कारण प्रत्येक व्यक्ति की कार्यक्षमता भी अधिकतम रहती है।

प्रशिक्षण की सुविधा

जाति व्यवस्था के जन्मजात होने के कारण प्रत्येक शिशु अपने पिता से बाल्यकाल से ही अपने खानदानी उद्यम में अति उत्तम प्रशिक्षण प्राप्त करता था। यह क्रम निरन्तर चलता रहता था। स्वय अपने स्थान पर ही श्रमिकों को प्रशिक्षण की सुविधा उपलब्ध रहती थी और उसी वातावरण म नित्य प्रति रहने के कारण श्रमिक अपनी कला में दक्ष हो जाता था। इसका प्रभाव राष्ट्र क उत्पादन पर पड़ता था और साथ ही साथ श्रमिक की आर्थिक समृद्धि पर भी।

कला एव कौशल की रक्षा

भारतीय कला कौशल की समृद्धि एव उसकी रक्षा का श्रेय भारतीय वर्ण व्यवस्था को ही है। जाति पाँति की प्रथा के कारण ही आज हम देखते हैं कि प्राचीन उद्योग धधे विभिन्न सामाजिक, आर्थिक एव राजनैतिक क्रान्तियों के होते हुए भी आज भारत में विद्यमान हैं। जाति प्रथा के कारण प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जाति के अनुसार पेशे को अपनाना अनिवार्य था। इसका परिणाम यह हुआ कि पूर्वजों का कला कौशल परम्परागत स्थानातरित होता चला गया। प्रो० जाथर एव बेरा (Profs Jathar & Beri) क शब्दों में—

' The caste system has preserved the wonderful mechanical skill and dexterity of the artisan class in the face of foreign competition It helped the Hindu Society to face the shocks of political invasions

आपसी प्रेम भावना एव प्रतिस्पर्द्धा का अभाव

एक विशेष जाति के लोग एक ऐसे सहकारी सघ के रूप में होते थे जिसमें प्रत्येक सब के लिए और सब प्रत्येक के हितों की रक्षा में तन, मन, धन से लगा रहता था। एक विशेष जाति का व्यक्ति अपने स्वार्थों का त्याग समाज हित में

कर देता था। एक ही प्रकार के खानपान, वेश-भूषा एवं रीति-रिवाजों और सामाजिक बन्धनों के कारण आपस में मेल-मिलाप एवं सद्भावना का होना स्वाभाविक ही था। इसके कारण पारस्परिक हानिकारक प्रतिस्पर्धा को प्रोत्साहन नहीं मिलता था। जाति एक सुदृढ़ एवं सगठित सहकारिता संगठन स्थापित करके कम से कम त्याग से अधिक से अधिक लाभ के उद्देश्य में सफलता प्राप्त करने में जाति के सदस्यों की सामूहिक सहायता करती थी। जाति वह प्रभावशाली संगठन था जिसमें दुर्बलों की शोषण से रक्षा होती थी और सभ्यता एवं संस्कृति के उज्ज्वल आदर्श को जीवित रखने की क्षमता प्राप्त होती थी। जातिगत श्रेणियाँ संगठित श्रमिकों व शिल्पियों के समूहों के रूप में विकसित हो गईं। मध्यकालीन योरोप में भी इसी प्रकार की श्रेणियों (Guilds) का प्रादुर्भाव हुआ था। भारत में जाति प्रथा जो अधिकांश में पेशों पर आधारित है वास्तव में महान् सहकारिता प्रणाली है। इस प्रकार जातियाँ सहकारी ऋण समितियों के रूप में, श्रमिक संघों, रोजगार कार्यालयों तथा पंच अदालतों का कार्य करती रही हैं। श्री एस० लो (Mr. S Low) के शब्दों में —

"The caste organization is to the Hindu his club, his trade union, and his benefit society"

इस प्रकार अत्यन्त प्राचीन काल में जाति-पाँति की प्रथा से भारतीय आर्थिक विकास में बड़ी सहायता मिली और इसी के परिणामस्वरूप अशोक, चन्द्रगुप्त मौर्य, विक्रमादित्य एवं महाराज हर्षवर्द्धन के समय में भारतीय आर्थिक विकास अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया था। भारत का वह 'स्वर्ण युग' था।

जाति प्रथा के दोष

आधुनिक काल में समय के आमूल परिवर्तन हो जाने के कारण और मुख्यतः पाश्चात्य देशों में हुए अठारहवीं शताब्दी की रक्तहीन औद्योगिक एवं व्यावसायिक क्रान्ति के फलस्वरूप भारत के सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक ढांचे में आमूल परिवर्तन हो गये। इस परिवर्तित वातावरण में हमारी पौराणिक जाति-पांति की व्यवस्था केवल बेकार ही नहीं हो गई, वरन् इसने प्रत्येक रूप से हमारे आर्थिक विकास में रोड़े अटकाये हैं। जाति-पांति की प्राचीन प्रथा के स्वरूप में परिवर्तन हो जाने के कारण भी इस व्यवस्था के वे सभी गुण जिनका ऊपर विवेचन किया जा चुका है प्रायः लुप्त हो गये हैं और इस प्रथा ने सामाजिक एवं आर्थिक अभिशाप का रूप ले लिया है। इस प्रथा के निम्नलिखित दोष हैं—

व्यक्तित्व के विकास का अभाव

जाति प्रथा के कारण ही मनुष्य को अपनी प्रतिमा को स्वेच्छा से किसी

आर्थिक या औद्योगिक क्षेत्र में विकसित होने का अवसर नहीं मिल पाता। इस व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति का व्यवसाय एवं रोजगार उसकी अपनी अभिरुचि एवं शिक्षा दीक्षा द्वारा निश्चित न होकर उसके परिवार की पैतृक परम्परा द्वारा निर्धारित होता है। जन्म द्वारा मनुष्य के उद्यम निर्धारित होने के कारण उसके प्राकृतिक, क्रियात्मक एवं रचनात्मक गुणों का जीवन में कुछ भी स्थान नहीं रहता। परिणाम-स्वरूप श्रम की कार्यक्षमता बहुत कम हो जाती है। भारतीय श्रम की अकुशलता के अन्य कारणों में से जाति पाति की व्यवस्था भी एक महत्वपूर्ण कारण है। मनुष्य जीवन पर्यन्त एक ऐसे उद्यम को करने के लिए बाध्य हो जाता है जिसके लिए उसे कोई रुचि नहीं होती और इस प्रकार उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास सदैव के लिए अवरुद्ध हो जाता है। आर्थिक प्रगति के लिए व्यक्ति की प्रतिभा का उचित उपयोग नितान्त आवश्यक है।

सहकारिता की भावना का नष्ट होना एवं पारस्परिक ईर्ष्या एवं द्वेष का जन्म

जाति प्रथा समाज को विभिन्न वर्गों में बाट कर उन व्यक्तियों में सहकारिता की भावना का नाश करती है। प्रत्येक अपने उद्यम की ही बात सोचता रहता है। यह व्यवस्था पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष एवं घृणा की भावनाओं को उत्पन्न करके समाज को आपसी वैमनस्य रखने वाले वर्गों में बाँट देती है। इस प्रकार व्यक्तियों में स्वार्थ की भावना जाग्रति होती है। इस व्यवस्था के कारण ही भारतीय समाज धनहीन व शारीरिक परिश्रम करने वाले तथा धनवान व बौद्धिक कार्य करने वाले दो वर्गों में बट गया। भारतीय समाज में ऊँच नीच, धनी निर्धन एवं शोषक शोषित वर्ग बन गये जो सदैव से भारत के आर्थिक एवं सामाजिक विकास में बाधक रहे हैं। ऊँची "स्वर्ण" कहलाने वाली जातियों में छोटे और नीचे कामों के प्रति अरुचि और उदासीनता उत्पन्न हो गई। दूसरी ओर "नीची जातियों" के अछूत एवं समाज से बहिष्कृत वर्गों को अनेक व्यवहारों से वंचित रहना पड़ा। श्री वाडिया एवं मर्चेन्ट के शब्दों में —

"अस्पृश्यता की प्रथा के कारण हमारे समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग स्वातन्त्र्य, आत्मगौरव एवं स्वावलम्ब के पथ पर अग्रसर होने के अवसर से वंचित रक्खा गया है।"

इस प्रकार जाति प्रथा ने प्रतिभा एवं आकांक्षा, तथा आकांक्षा एवं अवसर के बीच एक गहरी खाई प्रस्तुत कर दी है। एक ओर तो ऊँची जातियों के पास प्रतिभा एवं बुद्धि है पर वे इसका उपयोग नहीं करना चाहते और दूसरी ओर नीची जातियाँ काम करना चाहती हैं पर उनके पास अवसर नहीं हैं। यह भेद भाव की भावना सदैव से भारत की आर्थिक प्रगति को रोकती रही है।

नीची जाति के लोगों का शिक्षित होना उचित नहीं समझा जाता। उनको

ऊँची जातियों के साथ समानता का व्यवहार करने का अधिकार नहीं है। वे देवी-देवताओं के मन्दिरों, कुओं इत्यादि का उपयोग नहीं कर सकते। उनको केवल ऊँची जाति के लोगों की सेवा का ही अधिकार है। वे पूर्ण रूप से उन पर आश्रित हैं। ऐसी परिस्थितियों में यदि देश की जनसंख्या का एक बड़ा भाग आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ है, तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या।

धन का विषम वितरण

जाति प्रथा के कारण नीची जातियों का शोषण होने लगा। उनको धनवान बनने का अवसर ही नहीं मिल सका। दरिद्रता के कारण वे अपना आर्थिक विकास करने में सदैव असफल रहे और परिणामस्वरूप अधिक दरिद्र होते चले गये। दूसरी ओर उच्च जातियों के कुछ व्यक्तियों में ही धन का संग्रह होने लगा और वे और अधिक सम्पन्न बनते चले गये। धन के इस असमान वितरण के कारण अन्य आर्थिक समस्याओं का प्रादुर्भाव हुआ।

श्रम की गतिशीलता का अभाव

विभिन्न जातियों के श्रमिक, कारीगरों तथा कलाकारों का पारस्परिक आदान-प्रदान रुक गया। प्रत्येक ने अन्य जाति के कारीगरों तथा श्रमिकों को अपनी जाति में आने से रोका। जाति प्रथा के कारण ही श्रमिक अपना स्थान छोड़कर दूसरे स्थान पर नहीं जाना चाहता क्योंकि सामाजिक एवं सांस्कृतिक रीति-रिवाजों में भिन्नता होने के कारण दूसरे स्थानों पर वह अपने को एक अजनबी-सा पाता है। ऐसी परिस्थिति में अन्य जातियों से उसको कुछ भी सहयोग नहीं प्राप्त होता। इसका राष्ट्र के आर्थिक विकास पर भयंकर परिणाम पड़ा। हमारे राष्ट्र में आधुनिक बड़े पैमाने के उद्योगों के पिछड़े होने का यह भी एक महत्वपूर्ण कारण है।

समाजवादी अर्थ-व्यवस्था पर कुठाराघात

समाजवाद का मूलाधार "समानता" है। नीची जातियों के साथ उचित व्यवहार न होने के कारण उनके बालकों को उचित शिक्षा एवं अवसर नहीं मिल पाता। उन्नति एवं प्रगति के द्वार बन्द होने के कारण नीची जाति के बड़े बड़े मेधावी बालकों को भी अपनी निर्धनता एवं सामाजिक विवशताओं के कारण दीन-हीन जीवन व्यतीत करने के लिए मजबूर होना पड़ता है। उद्योगों में कुशल श्रमिकों का अभाव तथा सामान्य रूप से भारतीय श्रमिकों की अकुशलता का मुख्य कारण हमारी जाति व्यवस्था ही है।

राजनैतिक परतंत्रता

हमारे देश की राजनैतिक परतन्त्रता का मुख्य कारण जाति प्रथा ही रही है।

इसी परतन्त्रता के कारण ही भारत का सदैव विदेशियो द्वारा शोषण होता रहा और हम अपने प्राकृतिक साधनो का उचित एव पूर्ण उपयोग करने मे असमर्थ रहे जिसके कारण भारत ऐसे सम्पन्न राष्ट्र में भी दरिद्रता का गहन अन्धकार छाया रहा। भारतीय इतिहास विभिन्न जातियों के पारस्परिक सघर्ष एव द्वन्द से भरा पड़ा है। महाभारत का युद्ध, राजपूतों के युद्ध, और इसी प्रकार के अन्य गृह युद्ध सदैव भारत को जर्जर बनाते रहे। यही नहीं आपसी फूट एव वैर के कारण यहाँ के शासकों ने विदेशियों को आमन्त्रित किया और अपनी स्वाधीनता की तिलाञ्जलि दे दी। भारत में मुगलों का शासन इसी गृह कलह का परिणाम था। इसी प्रकार अँग्रेजों को भी यहाँ पर अपना साम्राज्य स्थापित करने में कठिनाई नहीं उठानी पड़ी। वास्तव मे सन् १८५७ का विद्रोह भारतीय स्वतन्त्रता का प्रथम सग्राम विजय-पताका फहराता यदि आपसी फूट का बीज न पनपता। आपसी द्वेष एव वैमनस्यता के कारण ही यहाँ शत्रुओ की दाल सदैव गलती रही और भारत राजनैतिक परतन्त्रता की शृङ्खलाओं मे जकड़ा हुआ विदेशी सत्ता के उत्पीड़न एव शोषण का केन्द्र बना रहा। श्री वाडिया एव मर्चेन्ट के शब्दो मे :—

"जाति भेद से आक्रांत सामाजिक व्यवस्था उस बौद्धिक और नैतिक सम्पत्ति से वंचित रह जाती है जो मानव कल्याण के लिए इतनी आवश्यक है। बहुत दिनों तक विदेशी प्रभुत्व के बने रहने का बहुत कुछ उत्तरदायित्व पृथक्त्व, अनेक्ता और वैर को बल देने वाली इसी जाति प्रथा पर है।"

उद्योगो पर बुरा प्रभाव

जाति-प्रथा का प्रभाव हमारे देश के उद्योगों पर भी बहुत बुरा पड़ा। उच्च जाति के लोग शारीरिक परिश्रम करना तथा चमड़े इत्यादि के व्यापार एव उद्योग को अपनी जाति एव सम्मान के विरुद्ध समझने लगे। फलस्वरूप कुटीर उद्योग अधिकतर केवल छोटी जाति के व्यक्तियों तक ही सीमित रहे। इन लोगों में पूँजी का अभाव था और साथ ही साथ ये अशिक्षित भी थे। फलस्वरूप मशीन उद्योग की उन्नति पर कुटीर उद्योग उनका सामना करने में असमर्थ रहे और क्रमशः विनाश की ओर अग्रसर होते रहे। यही नहीं हमारे आधुनिक दीर्घस्तर वाले उद्योगों को भी जाति प्रथा ने हानि पहुँचाई है। बड़े उद्योगो मे श्रम विभाजन अनिवार्य होता है, परन्तु जाति प्रथा सूक्ष्म श्रम-विभाजन के मार्ग में बाधक है। विभिन्न जातियों में छुआ छूत की भावना के कारण श्रमिक एक दूसरे के साथ कार्य करने मे सकोच करते हैं।

कृषि पर बुरा प्रभाव

जाति प्रथा के दुष्परिणामों से भारतीय कृषि भी वंचित नहीं रह पाई। ऊँची

जाति में श्रम को हीन समझा जाता है और इसलिए श्रम का कार्य शूद्रों एवं नीची जाति वालों द्वारा लिया जाता है। इनको भूमि पर कुछ भी अधिकार प्राप्त नहीं होता और वे सदैव ऊँची जाति वालों पर ही निर्भर रहते हैं। भूमि पर वास्तविक श्रम करने वाले का अधिकार न होने के कारण भूमि पर किसी प्रकार का सुधार नहीं हुआ और फलस्वरूप राष्ट्र का उत्पादन कम होने लगा। कृषिविहीन श्रमिकों की आर्थिक दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई। उच्च जाति वालों के हाथ ही में भूमि केन्द्रित होने के कारण, नीच जाति वाले उन पर आश्रित रहने लगे और उनका शोषण सम्भव हो सका। इसके अतिरिक्त उच्च जाति वाले जातीय उच्चता के भ्रम में पड़कर खेतों में हड्डी, मछली तथा मलमूत्र की खाद का प्रयोग भी नहीं करते। परिणामस्वरूप कृषि उद्योग का पिछड़ा होना स्वाभाविक ही है।

वस्तुओं के उपभोग पर प्रभाव

जाति-पाँति की व्यवस्था का प्रभाव राष्ट्र के निवासियों के उपभोग पर भी पड़ा। ऊँची जाति के लोगों की आवश्यकताएँ नीची जाति वालों से भिन्न होती हैं। जाति के अनुसार ही खान-पान तथा वेष भूषा भी निर्धारित होती है। इससे हमारे श्रमिकों को सतुलित भोजन नहीं मिल पाता। मछली मारने का उद्योग तथा चमड़ा उद्योग की उन्नति भली-भाँति न होने में जाति-पाँति की व्यवस्था ही मुख्य कारण है।

सामाजिक कुरीतियों का जन्म

जाति-प्रथा के कारण बहुत सी सामाजिक कुरीतियों का प्रादुर्भाव हो गया है। जाति प्रथा के अनुसार शादी-विवाह एक ही जाति के अन्दर हो सकता है। परिणाम स्वरूप दहेज का अभिशाप समाज में फैल गया है। जाति बन्धनों के कारण विधवा विवाह भी नहीं हो सकता। जाति में प्रचलित सामाजिक संस्कारों को करना प्रत्येक व्यक्ति के लिये अनिवार्य है। मुण्डन संस्कार, जनेऊ संस्कार, विवाह संस्कार इत्यादि में मनुष्यों को प्रचलित रीति-रिवाजों के अनुसार व्यय करना अनिवार्य हो जाता है चाहे उसकी आर्थिक स्थिति कैसी ही क्यों न हो। इसका परिणाम दरिद्रता में परिणित हो जाता है। श्रीमती वेरा एन्सटे के शब्दों में—

"In India birth determines irrevocably the whole course of a man's social and domestic relations and he must through life eat, drink, dress, marry and give in marriage in accordance with the usages into which he was born,"

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्राचीन समय में तो जाति व्यवस्था कुछ लाभदायक अवश्य थी, परन्तु इसका आधुनिक स्वरूप समाज के लिये निश्चय ही

अभिशाप एवं कलंक है। जाति प्रथा आज भारत के आर्थिक मोक्ष के पथ पर सबसे बड़ी बाधा है। भारतीय जन-जीवन में इसकी जड़ें बहुत दूर तक व्यापक हैं और यह आज भी असंख्य व्यक्तियों के भाग्य का निर्णय कर रही हैं। राष्ट्रीय प्रगति की गति को तीव्र करने के लिये इस ठोस प्राचीर को हटाना ही पड़ेगा तभी देशवासियों का मानसिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक विकास संभव हो सकता है। आधुनिक जाति व्यवस्था को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य ने अपने ही विनाश के लिये इस प्रथा को जन्म दिया है। आज यह प्रथा अत्याचार एवं असहिष्णुता की जन्मदाता है, तथा सामाजिक एवं राजनैतिक असंगठन एवं दुर्बलता का मूल कारण है। हर्ष का विषय है कि पूज्य महात्मा गांधी के अछूतोद्धार आन्दोलन के फलस्वरूप एवं शिक्षा के प्रचार एवं देशवासियों में जागृति के कारण इस प्रथा की नींव हिल उठी है और इस प्रथा के बन्धन क्रमशः ढीले पड़ते जा रहे हैं। अन्तर्जातीय विवाहों की संख्या बढ़ रही है। इस प्रथा की निरर्थकता और मूर्खता सबको भली भांति विदित हो चुकी है और यह निश्चित धारणा बन चुकी है कि देश की सर्वतोमुखी उन्नति के लिए इसका शीघ्र ही समाप्त हो जाना श्रेयस्कर है।

संयुक्त-परिवार प्रणाली (Joint Family System)

हिन्दू समाज की एक प्रमुख प्रथा संयुक्त परिवार प्रणाली भी है जिसने भारतीय जीवन को व्यापक रूप से प्रभावित किया है। इस प्रणाली का प्रादुर्भाव उस समय हुआ जब मानव ने आखेट युग से क्रमशः कृषि युग में प्रवेश किया। यह प्रथा वास्तव में भारतीय कृषि की देन है। अति प्राचीन समय से ही कृषि कार्य छोटे छोटे परिवारों द्वारा होता चला आया है। पिता परिवार का प्रमुख व्यक्ति होता था और उसी पर सारे परिवार के पालन करने का उत्तरदायित्व होता था। कालान्तर में संयुक्त परिवार एक सामाजिक एवं आर्थिक संस्था के रूप में प्रकट हुआ। इस प्रकार संयुक्त परिवार की प्रथा सारे देश में व्याप्त हो गई और आज भोजन, धर्म एवं सम्पत्ति में संयुक्त परिवार हमारे—हिन्दू तथा मुसलमान—समाज की आर्थिक इकाई हैं और हिन्दू समाज के एक प्रमुख अंग। हिन्दू परिवार में सबसे वृद्ध पुरुष परिवार का प्रधान या कर्त्ता और सब सम्पत्ति का मालिक होता है। समस्त परिवार की आय पर कर्त्ता का ही नियंत्रण रहता है और वह सारे कुटुम्ब की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उत्तरदायी रहता है। संयुक्त परिवार के सभी सदस्य परिवार की सम्पत्ति, श्रेय, भोजन और भजन में सम्मिलित रहते हैं। शादी ब्याह एवं उत्तराधिकार के नियम संयुक्त परिवार से ही शासित होते हैं। इस प्रकार संयुक्त परिवार परस्पर सम्बन्धित, एक ही धर्म, एक से ही रीति-रिवाज एवं लगभग एक सी ही आर्थिक परिस्थितियों वाले मनुष्यों का समुदाय होता है।

संयुक्त परिवार प्रथा के लाभ

संयुक्त परिवार प्रथा का मुख्य उद्देश्य पारस्परिक सदस्यों का भौतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति करना होता है। इस प्रथा का भारत के आर्थिक विकास पर गहरा प्रभाव पड़ा है। इस प्रथा ने भारत में सम्पत्ति का वितरण, उत्तराधिकार, सहकारिता तथा कुटीर उद्योग धन्धों के संगठन को सदैव से प्रभावित करके उनको वर्तमान रूप प्रदान किया है। यह प्रथा यहाँ के आर्थिक विकास में बहुत सहायक रही है जैसा कि निम्नलिखित विवेचन से स्पष्ट होता है—

त्याग एवं सहकारिता की भावना को प्रोत्साहन

संयुक्त परिवार त्याग एवं सहकारिता की भावना को प्रोत्साहन प्रदान करता है। प्रत्येक सदस्य में अनुशासन की भावना भरकर उसे एक कर्मठ एवं उत्तम नागरिक बनाने में यह प्रथा बहुत सहायक है। इस प्रणाली में प्रत्येक सदस्य सबके लिए तथा सब प्रत्येक के लिए होते हैं। साथ साथ रहने, भोजन करने, उठने बैठने एवं कार्य करने के कारण, एक दूसरे के प्रति ममता का उमड़ आना स्वाभाविक ही है। पारस्परिक स्नेह एवं प्रेम के बन्धन में जुड़ जाने के कारण प्रत्येक व्यक्ति कुटुम्ब के अन्य सदस्यों के लिए त्याग एवं बलिदान करने के लिए सदैव प्रस्तुत रहता है। 'एकता में ही बल है' कहावत इस प्रथा में पूर्ण रूप से चरितार्थ होती है।

स्वार्थ की भावना का अन्त एवं सुरक्षा

परिवार के कर्त्ता के माध्यम से सभी सदस्य प्रेम एवं त्याग की भावना से प्रेरित होकर एक सूत्र में बँध होते हैं। इस प्रथा के कारण स्वार्थ की भावना का दमन होता है और प्रत्येक सब के लिए और सब प्रत्येक के लिए काय करते हैं, क्योंकि प्रत्येक के कल्याण में सामूहिक कल्याण और सामूहिक कल्याण में प्रत्येक का कल्याण निहित होता है। अत प्रत्येक सदस्य को स्वार्थ भावना छोड़कर सामूहिक कल्याण की बात सदैव सोचनी पड़ती है।

प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसका परिवार उसकी सुरक्षा के लिए ढाल का काम करता है। मानव जीवन में दो अवस्थाएँ—बचपन और बुढ़ापा—ऐसी हैं जिनमें मनुष्य को दूसरों पर आश्रित रहना पड़ता है। इन दोनों ही अवस्थाओं में परिवार ही उसका सबसे बड़ा सहायक और शुभचिन्तक होता है। वयस्क अवस्था में भी बीमारी बेकारी एवं अन्य किसी कठिन परिस्थिति में परिवार ही आश्रय प्रदान करता है। सुदृढ़ संयुक्त प्रणाली के होते हुए मानव को सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी किसी अन्य व्यवस्था की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि बेकारी, बीमारी एवं अन्य प्रकार के संकटों के समय संयुक्त परिवार के प्रत्येक सदस्य को आश्रय परिवार के अन्य सदस्यों द्वारा प्राप्त

होता है। रोगी, अपाहिज एवं असहायों को संयुक्त परिवार सहानुभूति तथा आश्रय प्रदान करता है। "युवा पत्नी, एकाकिनी विधवा, निस्सहाय और अनाथ सन्तान, वृद्ध पितामह सभी को संयुक्त परिवार में स्थान मिलता है", इस प्रकार कुटुम्ब के प्रत्येक सदस्य को सुरक्षा एवं निश्चिन्तता बनी रहती है जिसके कारण उनकी कार्य शक्ति बढ़ती है और सम्पत्ति के उत्पादन में प्रोत्साहन मिलता है।

साम्यवाद की स्थापना

संयुक्त परिवार एक आदर्श प्रजातन्त्रीय शासन की छोटी इकाई होती है। यह साम्यवाद के सिद्धान्तों पर आधारित है। इसके द्वारा सम्पत्ति का वितरण न्याय-पूर्ण होता है और धन के विषम वितरण से उत्पन्न आर्थिक एवं सामाजिक कठिनाइयाँ नहीं उत्पन्न होतीं।

श्रम विभाजन

संयुक्त परिवार का प्रत्येक सदस्य अपनी इच्छा और अभिरुचि के अनुसार काम कर सकता है और इस प्रकार श्रम विभाजन सम्भव हो जाता है। जो सदस्य जिस प्रकार का कार्य अधिक कुशलता से कर सकता है उसे वही कार्य करना पड़ता है। प्रत्येक सदस्य का कार्य उसकी क्षमता के अनुसार अलग-अलग बट जाता है और इस प्रकार अधिकतम उत्पादन एवं सम्पत्ति की वृद्धि सामूहिक रूप से सरलता से प्राप्त हो जाती है।

पारिवारिक व्यय में कमी

संयुक्त परिवार प्रणाली में व्यय भी न्यूनतम होता है। सामूहिक रूप से आवश्यकताओं की तृप्ति सहज और कम व्यय में ही सम्भव हो जाती है। बहुत-सी ऐसी वस्तुएँ होती हैं जो कि सामूहिक रूप से सभी के द्वारा प्रयोग में लाई जाती हैं। सभी सदस्यों के संयुक्त रहने के कारण सभी का खाना संयुक्त रूप से बनता है। बर्तन, मेज-कुर्सियाँ, इत्यादि सम्मिलित रहते हैं। इस प्रकार दोहरा खर्चा बच जाता है और थोड़ी सी आमदनी में अच्छे रहन-सहन के स्तर को कायम रखना आसान हो जाता है।

भूमि का उपखण्डन न होना

संयुक्त परिवार प्रथा ने कृषि में भूमि का उपखण्डन एवं उपविभाजन रोक कर उत्पादन वृद्धि में बहुत सहायता प्रदान की है। इस प्रथा के कारण ही बहुत कुछ सीमा तक भूमि बड़े पैमाने पर कृषि के योग्य बनी रही। उत्तराधिकार के नियम अनन्त काल से उपस्थित होते हुए भी भारत की कृषि भूमि के उपखण्डन की समस्या यहाँ

कभी उपस्थित नहीं हुई। इसका कारण केवल संयुक्त परिवार प्रणाली ही है। संयुक्त परिवार में बँटवारा होना एक बुरी बात समझी जाती है। परिवार के कर्त्ता के माध्यम से सभी सदस्य प्रेम एवं त्याग की भावना से प्रेरित होकर एक सूत्र में बँधे रहते हैं। जब से संयुक्त परिवार छिन्न भिन्न होने लगे भूमि के उपखण्डन की समस्या उत्तरोत्तर विकराल रूप धारण करने लगी है।

उपर्युक्त लाभों के अतिरिक्त संयुक्त परिवार प्रथा का एक यह भी लाभ है कि इसके अन्तर्गत पूँजी के सचय होने की भी अधिक सम्भावनाएँ रहती हैं। पारिवारिक व्यय के कम होने के कारण एवं श्रम विभाजन सम्भव होने के फलस्वरूप अधिक आय के कारण पूँजी का सचय होना स्वाभाविक ही है। इसके अतिरिक्त संयुक्त परिवार व्यक्ति के जीवन में आदर, औदार्य, अनुशासन एवं त्याग की भावनाओं को सुदृढ़ कर के समाज का नैतिक उत्थान करने में सहायक होता है।

संयुक्त परिवार प्रणाली के दोष

उपर्युक्त लाभों के होते हुए भी यह प्रथा दोषों से रहित नहीं है। इसके मुख्य दोष निम्नलिखित हैं—

अकर्मण्यता आलस्य की जननी है

इस प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह अकर्मण्यता, आलस्य एवं निकम्मेपन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देती है। प्रायः देखा जाता है कि प्रत्येक परिवार में कुछ ऐसे सदस्य होते हैं जो अपना कर्त्तव्य पालन नहीं करते। उनको परिवार में भोजन, वस्त्र इत्यादि आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त होती जाती हैं और वे 'अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम' का मूल मंत्र ग्रहण कर के दूसरों के परिश्रम से कमाये हुए धन पर गुलछर्रे उड़ाते रहते हैं। ये व्यक्ति समाज या परिवार की समृद्धि एवं सम्पत्ति के उत्पादन में कुछ भी सहयोग नहीं देते। ऐसे व्यक्ति समाज एवं परिवार दोनों के ही लिये अभिशाप है। इसके कारण परिवार का रहन सहन का स्तर निम्न हो जाता है। कभी-कभी तो ऐसा देखा गया है कि वृद्ध पिता की कमाई पर तरुण बेटे पलते रहते हैं। ऐसा भी देखा जाता है कि परिवार के कुछ सदस्य परिवार की साख पर ऋण ले लेते हैं और इस प्रकार उत्पादन में वृद्धि करने के स्थान पर उसका ह्रास करने पर ही तुले रहते हैं।

व्यक्तित्व का विकास रुक जाना

परिवार का प्रत्येक सदस्य एक-दूसरे पर आश्रित रहता है और उसको भरण पोषण की समस्या का सामना नहीं करना पड़ता। परिणामस्वरूप उसमें साहस एवं

आत्मनिर्भरता की भावना सदैव के लिए मर जाती है। वे अपने पैरों पर खड़े होने में सदैव असमर्थ रहते हैं। भारतीय श्रमिकों की कार्यक्षमता कम होने का यह भी एक मुख्य कारण है।

आर्थिक प्रगति की प्रेरणा का अभाव

प्रत्येक व्यक्ति की आय संयुक्त परिवार के कर्त्ता के पास जाती है। जो सदस्य धन उपार्जन करता है उसको खर्च करने का अधिकार नहीं होता। परिणामस्वरूप कोई भी सदस्य अपनी आय के बढ़ाने की चेष्टा नहीं करता। व्यक्तिगत स्वार्थ ही मनुष्य को आर्थिक प्रगति के पथ पर निरन्तर बढ़ते रहने की प्रेरणा प्रदान करता रहता है। संयुक्त परिवार में इस प्रेरणा का अभाव स्वाभाविक ही है। यह कैसे सम्भव हो सकता है कि एक व्यक्ति अपनी गाढ़े पसीने की कमाई लाकर परिवार को देता रहे और उस धन के व्यय करने का अधिकार उसको उतना ही हो जितना उसके आलसी एवं बेकार भाई को। इसका परिणाम यह होता है कि वह धीरे धीरे अपने काम से उदासीन एवं विमुख होने लगता है। इससे राष्ट्र का आर्थिक विकास शिथिल हो जाता है और कुटुम्ब की आर्थिक स्थिति शोचनीय बन जाती है। भारतीय श्रमिकों की कार्यकुशलता कम होने का कारण उनके व्यक्तित्व का पूर्णतया विकसित न होना है।

श्रमिकों में गतिशीलता का अभाव

संयुक्त परिवार प्रणाली के कारण व्यक्तियों में परिवार के प्रति मोह उत्पन्न हो जाता है। इसके अतिरिक्त एक दूसरे पर आश्रित होने के कारण स्वावलम्बिता की भावना नष्ट हो जाती है। फलस्वरूप परिवार के सदस्य अपने को परिवार से विलग करने से मजबूर हो जाते हैं। भारत में श्रम की गतिशीलता के अभाव का मुख्य कारण यह प्रथा ही है जिसने मनुष्यों को मोह के बन्धन में जकड़ रक्खा है। इस भावना का प्रादुर्भाव कि 'घर की सूखी भली, बाहर की चुपडी अच्छी नहीं' केवल इसी प्रथा के कारण ही हुआ है। श्रम की गतिशीलता के अभाव के कारण न तो श्रमिकों की आर्थिक स्थिति ही सुधर पाती है और न राष्ट्र का औद्योगिक विकास ही दृढ़ नींव पर विकसित हो पाता है। श्रमिक परिवार के साथ रहने का इतना अधिक अभ्यस्त हो जाता है कि बाहर जाकर धन उपार्जन करने की अपेक्षा घर पर दरिद्र जीवन बिताना हितकर समझता है।

पारस्परिक ईर्ष्या एवं वैर भाव

संयुक्त परिवार प्रथा में सब सम्पत्ति सम्मिलित होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति अधिक भाग प्राप्त करने की चेष्टा करने लगता है। इसके अतिरिक्त यदि कोई सदस्य आलस्य के कारण पारिवारिक सम्पत्ति में वृद्धि नहीं करता तो अन्य सदस्य उसके प्रति

द्वेष की भावना रखने लगते हैं। प्रायः देखा जाता है कि कर्ता की मृत्यु के बाद सभी सदस्यों में सम्पत्ति के बंटवारे के लिए मुकदमेबाजी होने लगती है जिसमें बहुत धन बरबाद हो जाता है और पारस्परिक ईर्ष्या एवं वैर भावना को बल मिलता है। भाइयों-भाइयों में फौजदारियाँ होती है और वैमनस्यता का अंकुर परम्परागत उगता चला जाता है। इसके कारण न केवल लोगों में दरिद्रता ही फैलती है वरन् राष्ट्र का आर्थिक विकास भी रुक जाता है।

पूँजी के संचय का अभाव एवं निम्न रहन-सहन का स्तर

आर्थिक उन्नति की प्रेरणा कम होने के कारण संयुक्त परिवार का प्रत्येक सदस्य परिवार की आय बढ़ाने में सचेष्ट नहीं रहता। प्रत्येक सदस्य की सामूहिक जिम्मेदारी किसी भी व्यक्ति की जिम्मेदारी नहीं रहती। इस प्रकार परिवार की थोड़ी सी आय में बहुत लोगों का खर्च रहता है और इसलिये धन की बचत और पूँजी का संचय कठिन हो जाता है। इसके अतिरिक्त पारिवारिक आय पर सामूहिक अधिकार होने के कारण प्रत्येक सदस्य अधिक से अधिक व्यय करने का प्रयत्न करता है। प्रायः देखा जाता है कि समस्त परिवार थोड़ी-सी ही कृषि भूमि पर अवलम्बित रहता है। परिवार में भले ही वृद्धि होती जाय परन्तु आय ज्यों की त्यों बनी रहती है। ऐसी दशा में परिवार का रहन-सहन का स्तर निम्न हो जाना स्वाभाविक ही है। पूँजी के अभाव में बड़े पैमाने के उद्योग-धन्धों को भी प्रोत्साहन नहीं मिल पाता और राष्ट्र का आर्थिक विकास रुक जाता है।

उपर्युक्त दोषों के अतिरिक्त संयुक्त परिवार प्रथा ने कुछ सामाजिक कुरीतियों को भी जन्म दिया है जिसका प्रभाव हमारे देश के आर्थिक विकास पर बुरा पड़ा है। उदाहरण स्वरूप इस प्रथा ने बाल-विवाह एवं विधवाओं को आश्रय देकर देशवासियों के नैतिक पतन में सहायता प्रदान की है। पारिवारिक कलह, मुकदमेबाजी तथा द्वेष एवं ईर्ष्या की भावना को प्रोत्साहित करके इस प्रणाली ने समाज को पूर्ण रूप से विशृङ्खल कर दिया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्राचीन काल में उदारता, दया, भ्रातृभाव, त्याग, स्नेह एवं सहयोग आदि उत्तम गुणों का प्रादुर्भाव एवं विकास करने का श्रेय संयुक्त परिवार प्रणाली को ही है। इस प्रकार यह प्रणाली उस समय देश की आर्थिक समृद्धि की दात्री थी। परन्तु आधुनिक काल में परिवर्तित परिस्थितियों में इस प्रणाली के लाभ प्रश्नसूचक चिन्ह से चिह्नित अवश्य हो गये हैं। पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार, जनसंख्या की निरन्तर वृद्धि, भूमि पर अधिक भार एवं औद्योगिक विकास के कारण आज यह प्रणाली जर्जर हो चली है और क्रमशः कौटुम्बिक त्याग, सहनशीलता तथा उदारता का भी विनाश होता चला जा रहा है। इस संकीर्ण व्यक्तिवादी

मनोवृत्ति के कारण मनुष्य सभी नैतिक एव सामाजिक मान्यताओं को भुलाकर केवल निजी स्वार्थ की प्रतिष्ठा करता है। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रथा ने भारतीय आर्थिक सगठन एव विकास पर एक स्वस्थ प्रभाव छोड़ा है, परन्तु इसके साथ ही साथ कोई भी व्यक्ति इसके दोषों के प्रति सहानुभूति नहीं रख सकता। वास्तव में व्यक्ति के महत्व को अस्वीकार करने वाले सयुक्त परिवार, एव भ्रातृभाव, सहयोग तथा त्याग की भावना का नाश करने वाले व्यक्तिवाद दोनों ही समाज के सर्वाङ्गीण विकास के लिये अहितकर हैं। इन दोनों के मध्य का स्वर्ण पथ ही भारतीय समाज के विकास के लिये उचित एव उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

उत्तराधिकार के नियम (Laws of Inheritance & Succession)

भारत में उत्तराधिकार के नियमों का भी यहाँ के आर्थिक विकास पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। उत्तराधिकार के नियम सयुक्त परिवार प्रणाली पर आधारित हैं। हिन्दुओं म उत्तराधिकार क दो नियम हैं—(१) दाय भाग (Dayabhag) और (२) मिताक्षरा (Mitakshara) ।।

दायभाग के अन्तगत परिवार का प्रधान या कर्ता परिवार की सम्पूर्ण सम्पत्ति का स्वामी होता है। कर्ता के जीवन काल में कोई भी सदस्य सम्पत्ति का बटवारा नहीं करा सकता। पिता और पुत्र क बीच म कोई विभाजन नहीं हो सकता। पिता की मृत्यु क पश्चात् ही भाइयो क बीच सम्पत्ति का बटवारा हो सकता है। केवल बगाल में ही यह प्रथा पाई जाती है।

मिताक्षरा क अन्तगत परिवार के सभी पुरुष सदस्य परिवार की सम्पत्ति के सामूहिक स्वामी होते हैं। परिवार का प्रधान या कर्ता केवल प्रबन्धकर्ता क रूप म होता है। यह पद्धति बगाल को छोड़कर सम्पूर्ण भारत में पाई जाती है। सभी सदस्यों का परिवार की सम्पत्ति पर सामूहिक अधिकार होने के कारण सम्पत्ति का बँटवारा परिवार क प्रधान क जीवनकाल में ही कराया जा सकता है। इस प्रणाली में पिता एव पुत्र म विभाजन हो सकता है। किसी भी एक सदस्य की मृत्यु के बाद बचे हुए व्यक्ति सामूहिक रूप से संयुक्त सम्पत्ति क स्वामी हो जाते हैं। विभाजन हो जाने पर प्रत्येक सदस्य अपना भाग पाने का अधिकारी हो जाता है। इसमें स्त्रियों का उत्तराधिकार नहीं होता है।

हिन्दू कोड बिल पास हो जाने के उपरान्त अब पिता की सम्पत्ति में लड़कों के समान ही लड़कियों का भी भाग हो गया है।

मुसलमानों म परिवार की सम्पत्ति में स्त्रियों तथा पुरुषों दोनों का ही समान अधिकार रहता है। पिता की सम्पत्ति उसक पुत्रों तथा पुत्रियों में समान वितरित की

जाती है। यही कारण है कि मुसलमानों में प्रधान की मृत्यु होने के बाद सम्पत्ति असंख्य भागों में बँट जाती है।

इस प्रथा के लाभ

उत्तराधिकार के नियमों से बहुत से लाभ हैं जो इस प्रकार हैं—

उत्तराधिकार के नियम न्याय एवं समानता पर आधारित हैं

इन नियमों के द्वारा सम्पत्ति का वितरण समान एवं न्याययुक्त होता है। पूर्वजों की सम्पत्ति पर प्रत्येक उत्तराधिकारी समान भाग पाने का अधिकारी होता है। सभी उत्तराधिकारी समान होते हैं अतः सभी को सम्पत्ति में समान भाग मिलना चाहिये अवश्य ही न्यायसंगत है।

जीवन में पदार्पण करते समय सहारा

परिवार के प्रत्येक सदस्य को परिवार की सम्पत्ति में कुछ न कुछ अवश्य प्राप्त हो जाता है। इस धनराशि से वह अपना जीवन प्रारम्भ कर सकता है। यदि परिवार की सम्पत्ति केवल सबसे बड़े सदस्य को ही प्राप्त हो जाती तो शेष सदस्यों को मजदूरी आदि करने पर विवश होना पड़ता। इस प्रकार अल्पवयस्क एवं अपंगु व्यक्तियों का साथ जीवन तो मिट्टी में ही मिल जाता। परिवार की सम्पत्ति में सभी को कुछ न कुछ मिल जाने के कारण इसके सहारे मनुष्य जीवन-संघर्ष में सफलता प्राप्त कर सकता है। वास्तव में ये नियम प्रत्येक व्यक्ति को आर्थिक एवं भौतिक उन्नति करने का सहारा एवं प्रेरणा प्रदान करते हैं।

धन का समान वितरण

परिवार की सम्पत्ति का समान बटवारा होने के कारण सम्पत्ति के कुछ व्यक्तियों के ही हाथों में केन्द्रित हो जाने की सम्भावनाएँ नहीं रहतीं। इस प्रकार सम्पत्ति के विषम वितरण से उत्पन्न होने वाले आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं का अभ्युदय नहीं होता। ये नियम पूँजीवाद पर अंकुश का कार्य करते हैं और समाजवादी अर्थ व्यवस्था के मूल प्रवर्तक हैं।

इन नियमों के अन्तर्गत सभी व्यक्तियों को सम्पत्ति में कुछ न कुछ मिल जाने के कारण बेकारी नहीं फैलती। प्रत्येक व्यक्ति के सम्पत्ति में अधिकारी होने के कारण उनमें स्वाभिमान, उत्तरदायित्व तथा कर्मण्यता की भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। इसके अतिरिक्त इन नियमों द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को "एकता में ही समृद्धि एवं शक्ति है तथा फूट में ही निर्धनता एवं निबलता है" की उत्तम शिक्षा मिलती है।

इस प्रथा के दोष

उपर्युक्त लाभों के होते हुए भी उत्तराधिकार के नियमों का प्रभाव हमारे देश के आर्थिक विकास पर अच्छा नहीं पड़ा। इस प्रथा के निम्नलिखित दोष हैं—

भूमि का उपविभाजन एवं उपखंडन

भारत में कृषि भूमि के उपविभाजन एवं उपखंडन का मूल कारण उत्तराधिकार के नियम ही हैं। संयुक्त परिवार के प्रत्येक व्यक्ति का सभी सम्पत्ति पर समान अधिकार होने के कारण सभी व्यक्ति भूमि का बँटवारा आपस में कर लेते हैं। परिणामस्वरूप भूमि टुकड़ों टुकड़ों में बँट जाती है। भूमि के इन छोटे छोटे टुकड़ों पर वैज्ञानिक कृषि सम्भव नहीं हो पाती। यही कारण है कि आज भारतीय कृषि पिछड़ी हुई है और यहाँ का उत्पादन संसार में सबसे कम है। भारतीय कृषकों की निर्धनता एवं निम्न रहन सहन के स्तर का यही मुख्य कारण है।

पूँजी के संचय का अभाव एवं बड़े पैमाने के उद्योगों का विकसित न होना

पूँजी के टुकड़ों में बँट जाने के कारण पूँजी का संचय नहीं हो पाता जिसके कारण बड़े पैमाने के उद्योग धन्धे जिनमें बहुत अधिक पूँजी की आवश्यकता पड़ती है नहीं चलाये जा सकते।

मुकदमेबाजी एवं एकता का विनाश

सम्पत्ति में बटवारा कराने के लिये परिवार के विभिन्न सदस्यों में मुकदमेबाजी होती है। देखा देखा गया है कि मुकदमेबाजी में बड़ी बड़ी सम्पत्तियाँ बिक गयीं और सारा कुटुम्ब तबाह हो गया। यह कथन 'दीवानी करती दीवानी' पूर्ण रूप से चरितार्थ होता है। मुकदमेबाजी में समय एवं धन दोनों का ही दुरुपयोग होता है जिससे निर्धनता और बढ़ती है। यही नहीं मुकदमेबाजी से आपस में ईर्ष्या, द्वेष एवं फूट की भावना की वृद्धि होती है। बँटवारे के कारण ही भाई भाई में शत्रुता होती है और वे एक दूसरे के कट्टर दुश्मन हो जाते हैं। इस प्रकार इन नियमों के कारण सहकारिता की भावना का विनाश हो जाता है।

निर्धनता एवं निम्न रहन सहन का स्तर

सम्पत्ति का बटवारा विभिन्न व्यक्तियों में हो जाने के कारण प्रत्येक व्यक्ति को थोड़ा थोड़ा भाग प्राप्त हो जाता है जिससे प्रत्येक व्यक्ति की आर्थिक स्थिति डावाडोल हो जाती है। सम्पत्ति में थोड़ा थोड़ा भाग मिलने के कारण किसी का भी आर्थिक स्थिति ठीक नहीं रहती। इसका परिणाम यह होता है कि प्रत्येक व्यक्ति का रहन-सहन का स्तर निम्न बना रहता है। निर्धनता के कारण वे अपने भविष्य का भी निर्माण करने में असफल रहते हैं। वास्तव में निर्धनता ही भारत के आर्थिक विकास में बहुत बड़ी बाधा है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उत्तराधिकार के नियमों ने हमारे देश की

आर्थिक प्रगति के मार्ग में बड़े बड़े रोड़े अटका दिये हैं और अनेक सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं को जन्म दिया है।

बाल विवाह एवं पर्दा प्रथा (Early Marriages and Purdah System)

बाल विवाह एवं पर्दा प्रथा भी भारतीय सामाजिक संगठन के दो मुख्य अभिशाप हैं। बाल-विवाह का प्रादुर्भाव तो भारत में संयुक्त परिवार प्रथा के कारण हुआ और पर्दा प्रथा का जन्म भारत में मुसलमानों के शासन के कारण हुआ।

बाल विवाह के कारण छोटी अवस्था से ही मनुष्य के ऊपर गृहस्थी का भार पड़ जाता है जिसके कारण रहन-सहन का स्तर ऊँचा नहीं हो पाता। सन्तानोत्पत्ति भी अधिक होने के कारण मनुष्य का रहन-सहन का स्तर गिर जाता है। छोटी अवस्था में विवाह हो जाने के कारण स्वास्थ्य पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है जिससे मनुष्य की कार्यक्षमता बहुत कम हो जाती है। कार्यक्षमता कम हो जाने के कारण न केवल व्यक्ति विशेष की आर्थिक स्थिति कमजोर हो जाती है वरन् राष्ट्र भी आर्थिक प्रगति भी मन्द हो जाती है।

पर्दा प्रथा का भी राष्ट्र के आर्थिक विकास पर बुरा प्रभाव पड़ा है। पर्दा प्रथा के कारण ही भारत में स्त्रियों को मकान की चहार-दीवारी के अन्दर जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य होना पड़ता है और इस प्रकार वे राष्ट्र के विकास में अपना सहयोग देने से वंचित रह जाती हैं। यह किसी भी राष्ट्र के श्रम का दुरुपयोग है। प्राचीन समय में झाँसी की रानी, रजिया बेगम आदि वीरांगनाओं ने युद्धस्थल में पदार्पण कर देश की स्वतन्त्रता की रक्षा करने में हाथ बटाया था। आज भी पाश्चात्य जगत में स्त्रियाँ बहुत से राष्ट्र निर्माण कार्यों में सक्रिय भाग लेती हैं। यही नहीं पर्दा प्रथा के कारण स्त्रियों का स्वास्थ्य भी खराब रहता है जिसके कारण वे निर्बल सन्तानों को जन्म देती हैं। इन्हीं आने वाली सन्तानों पर ही किसी भी राष्ट्र के आर्थिक विकास का भार रहता है। वास्तव में यही शिशु राष्ट्र के भविष्य के कर्णधार होते हैं। यदि ये भविष्य के निर्माता ही निर्बल हों तो कोई राष्ट्र किस तरह अपने आर्थिक निर्माण की कल्पना कर सकता है। वास्तव में पर्दा प्रथा भारत के आर्थिक विकास के लिए महान् अभिशाप है।

उपसंहार

उपरोक्त वर्णन से यह पूर्णतया स्पष्ट है कि भारत के आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन को यहाँ की सामाजिक व्यवस्था ने पूर्ण रूप से प्रभावित किया है। भारत का अतीत समृद्धि, शान्ति एवं वैभव से परिपूर्ण था और इसका श्रेय हमारे देश

की सामाजिक व्यवस्था को ही था। परन्तु कालान्तर में सामाजिक प्रथाओं के रूढ़िवादिता एवं अन्ध-विश्वास में परिवर्तित हो जाने के कारण, भारत की सामाजिक व्यवस्था यहाँ के आर्थिक विकास का मुख्य अभिशाप बन गई और हमारी आर्थिक प्रगति को प्रोत्साहन देने के स्थान पर उसके मार्ग में रोड़े अटकाने लगी। सामाजिक कुरीतियों की शृङ्खलाओं में जकड़े होने के कारण भारत की प्रगति का पथ अवरुद्ध हो गया और वह अपने अतीत के गौरव को खो बैठा। हर्ष का विषय है कि राजनैतिक दासता की शृङ्खलाओं से मुक्ति के उपरान्त सामाजिक रूढ़ियों एवं राजनीतिक भ्रान्तियों को चीर कर मनुष्य की आन्तरिकता पर आधारित नई मर्यादा का उदय हो रहा है, सामाजिक रूढ़ियों एवं धार्मिक अन्ध विश्वासों के बन्धन शिथिल हो रहे हैं और भारत अपने आर्थिक मोक्ष के द्वार पर खड़ा हुआ स्वर्णिम भविष्य के दर्शन कर रहा है।



३

इङ्गलैंड में औद्योगिक क्रांति

(Industrial Revolution in England)

अठारहवीं शताब्दी के अन्त तथा उन्नीसवीं के प्रारम्भ में इङ्गलैंड में जो औद्योगिक एवं व्यावसायिक क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए वे इतने मौलिक तथा अग्रगामी थे कि उनको 'औद्योगिक क्रान्ति' की संज्ञा प्रदान की गई है। क्रान्ति की पृष्ठभूमि में प्राय: रक्तपात निहित होता है और इसलिए आर्थिक क्षेत्र के इन परिवर्तनों को क्रान्ति के नाम से पुकारना अमात्मक सा प्रतीत होता है, परन्तु राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में जो आमूल परिवर्तन इसके फलस्वरूप हुए जिनसे सारे विश्व का रूप ही बदल गया, क्रान्ति की संज्ञा प्रदान करना कदाचित् अनुचित न होगा। नोल्स (Knowles) के शब्दों में—

'The result was new people, new classes, new policies, new problems and new empires'

वास्तव में औद्योगिक क्रान्ति के उपरान्त विश्व ने एक नए युग में प्रवेश किया। बड़ी बड़ी निर्माणशालाओं की संख्याओं में अपार वृद्धि होने लगी। उत्तमाशा अन्तरीप और अटलांटिक महासागर के वक्षस्थल पर सामग्रियों से भरे हुए जलयान मँडराने लगे। जो सामग्रियाँ किसी समय महलों तथा उच्च अट्टालिकाओं तक ही सीमित थीं अब वे पर्णकुटियों को भी सुलभ हो गईं। नित्य प्रति नये-नये आविष्कारों का जन्म होने लगा। मानव ने प्रकृति पर विजय प्राप्त कर लिया। विज्ञान के प्रचण्ड सूर्य की रश्मियों द्वारा सारा संसार आलोकित हो उठा। मानव जीवन में नवीन चेतना एवं जागृति का प्रादुर्भाव हुआ। मानव के ऐश्वर्य एवं प्रतिभा पर स्वर्ग की अप्सराएँ लज्जित होने लगीं। प्रोफेसर दुबे ने ठीक ही लिखा है—

"In the early days the English farm with its natural surroundings was the most typical feature of the country, now the factory chimney belching out soot laden smoke is the most outstanding landmark of England"

गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ, भीमकाय उद्योग, विकसित आवागमन के साधन

एव विश्वव्यापी व्यापार तथा वाणिज्य मानव के वैभव की पराकाष्ठा थीं। प्रो० हैमन्ड (Prof Hammond) के शब्दों में—

"The vast oceans became the high-ways and by ways between the doorways of two nations."

नवीन आविष्कारों ने मानव को नव-जीवन प्रदान किया। विश्व ने करवट बदली और मानव ने अपने को पाया उस जगत में जो केवल कल्पना की वस्तु था। इन चमत्कारी एव आश्चर्यजनक परिवर्तनों को यदि औद्योगिक क्रान्ति के नाम से पुकारा जाय तो इसमें अतिशयोक्ति क्या होगी।

औद्योगिक क्रान्ति के कारण

प्राय: यह आश्चर्यजनक प्रतीत होता है कि सर्व प्रथम इङ्गलैण्ड को ही औद्योगिक क्रान्ति के रगमच होने का श्रेय क्यों प्राप्त हुआ। फ्रास एव हालैंड भी उस समय विश्व के उन्नतशील राष्ट्रों में थे। इन देशों में भी पर्याप्त औद्योगिक विकास हो चुका था और यहाँ की जनसख्या भी अधिक थी। इन देशों की सामुद्रिक शक्ति भी इङ्गलैंड से पीछे नहीं थी। इतना होते हुए भी इङ्गलैंड ही औद्योगिक क्रान्ति का पथ प्रदर्शक रहा, इसका कारण वहाँ की स्थिति, प्राकृतिक परिस्थितियाँ, राजनैतिक वातावरण एव देशवासियों में साहस एव स्फूर्ति का होना था। इन सभी का योरोप के अन्य राष्ट्रों में अभाव था जैसा कि निम्नलिखित विवेचन से स्पष्ट हो जाता है—

औद्योगिक विकास की पृष्ठभूमि प्रशस्त थी

सत्रहवीं शताब्दी में ही इङ्गलैण्ड ने औद्योगिक क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति कर ली थी। इङ्गलैण्ड का ऊन उद्योग अपनी उन्नति की चरम सीमा पर था। मशीनों का प्रादुर्भाव हो चुका था और इङ्गलैण्ड के घरेलू उद्योग धन्धों में पूँजीवाद का अकुर पनप चुका था। ऐसी अवस्था में पुरानी मशीनों के स्थान पर नई मशीनों का प्रयोग इङ्गलैण्ड के लिए अत्यन्त सरल था। बड़े पैमाने की उत्पत्ति में इसका अपना गत वर्षों का अनुभव भी था। प्रो० हेमन्ड (Prof Hammond) के शब्दों में—

"Before great inventions began, England had a government favourable to commerce, internal free trade, a prosperous and growing textile industry, exporting its products to the continent with large commercial connections, joint stock companies and a banking system"

वास्तव में इन्हीं परिस्थितियों ने इङ्गलैंड में औद्योगिक क्रान्ति की पृष्ठभूमि

प्रस्तुत कर दिया और इङ्गलैंड सर्व प्रथम औद्योगिक क्रान्ति का श्रेय प्राप्त करने में सफल हो सका। प्रो० नोल्स (Prof Knowles) के शब्दों में —

"She had a long start and although that meant that she had to bear the burden of the experiments and that other countries could begin where she left off, it did mean that she had evolved a race of skilled and trained workers such as no other country in the world possessed and this enabled her to improve upon or adapt machines invented elsewhere."

पूजी, विस्तृत बाजार एवं कौशल का उपलब्ध होना

बड़े पैमाने की उत्पत्ति के लिये पर्याप्त पूँजी, विस्तृत बाजार एवं कौशल मूलाधार हैं। प्रत्येक राष्ट्र में औद्योगिक क्रान्ति के लिये ये सभी प्रथम आवश्यकताएँ हैं। इन सभी का इङ्गलैंड में उपस्थित होना औद्योगिक क्रान्ति का श्रीगणेश करने के लिये पर्याप्त था।

(क) पूँजी

पूँजी ही उद्योगों का जीवन रक्त है और यह इङ्गलैंड में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थी। इसका कारण इङ्गलैंड का ऊन उद्योग था। इस उद्योग के कारण यहाँ का व्यापार बड़ा विस्तृत हो गया था और इस देश में विदेशों से धनराशि निरन्तर चला आ रही थी। ऊन के विषय में डिफो (Defoe) के शब्द उद्धृत करना यहाँ पर कदाचित् अनुचित न होगा.—

"The wool is an exclusive grant from heaven to Great Britain, it is peculiar to this country and no other nation has it or anything equal to it in the world. While England has the wool, her trade is invulnerable, at least no mortal, final, destructive blow can be given to it"

नोल्स ने तो लिखा है कि विश्व के समस्त राष्ट्र अपने को इङ्गलैंड के ऊन द्वारा ही गरम रखते थे। इसके अतिरिक्त इङ्गलैंड का सूती व्यवसाय भी उन्नति पर था। इस बड़े-चढ़े व्यापार के कारण अठारहवीं शताब्दी में ही इङ्गलैंड में प्रचुर मात्रा में पूँजी इकट्ठी हो गई थी। टॉड (Todd) के शब्दों में.—

"Great Britain exports about 9/10th of her cotton output if bulk is considered and 8/10th in value, and the

amount she retains for home consumption is worth approximately £30 million "

इसके अतिरिक्त इङ्गलैंड में बैंकिंग व्यवस्था भी सुसङ्गठित रूप में विद्यमान थी। इङ्गलैंड का बैंक सारे विश्व का बैंक बन चुका था। इस बैंकिंग व्यवस्था के कारण इङ्गलैंड न केवल अपने राष्ट्र की धन राशि का वरन् अन्य राष्ट्रों की पूँजी का भी उपयोग करने में समर्थ हो गया। नोल्स (Knowles) के शब्दों में—

Her banking was organized so as to make the capital easily obtainable France with her larger export and import trade might have had more capital but there was no banking system which made credit readily available '

जहां अंग्रेजों का प्रश्न है नोल्स ने लिखा है—

' They understood capital, they understood large scale production, and they knew they would reap where they had sowed "

फेडरल ट्रेड कमीशन (Federal Trade Commission) के शब्दों में—

' Great Britain has provided all the financial facilities needed for its exporters and importers to do business with other men anywhere on the globe In short, wherever British imports are bought or British exports sold there is either a local bank intimately connected with London or there is a British Bank for the accommodation of British Commerce "

(ख) विस्तृत बाजार

विशाल उद्योग विशाल माग पर ही अवलम्बित हैं। बड़े पैमाने की उत्पत्ति के लिये विस्तृत बाजार प्रथम आवश्यकता है। भाग्यवश इङ्गलैंड के पास स्थानीय एवं राष्ट्रीय बाजार के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय बाजार भी उपलब्ध था। ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा ब्रिटिश साम्राज्य निरन्तर बढ़ता चला जा रहा था और साथ ही साथ इङ्गलैंड के बाजार का क्षेत्र भी विस्तृत होता जाता था। जिस समय योरोप के अन्य देश अपने गृह युद्ध में सलग्न थे, इंगलैंड अपनी साम्राज्य की सीमा के विस्तार में सलग्न था। इस प्रकार इंगलैंड को विस्तृत बाजार उपलब्ध था जैसा कि नोल्स के शब्दों से स्पष्ट है—

' At home the new roads and the canals provided a better home market and a richer England could afford to buy more goods, abroad there was a growing trade especially with semi tropical countries where cotton goods would be specially in request "

(ग) कौशल (Skill)

विशालकाय उद्योगों के कुशल संचालन में कुशल श्रमिकों का होना नितान्त आवश्यक है जिसके बिना औद्योगिक विकास सम्भव नहीं हो सकता। विशेष रूप से मशीन के युग में श्रम की कुशलता उद्योगों के संचालन के लिये मूल आवश्यकता है। इस दृष्टि से भी इङ्गलैंड भाग्यशाली था। इङ्गलैंड के श्रमिकों के पास स्वयं उनका गत वर्षों का अनुभव था। नोल्स के शब्दों में—

"Although English machines were exported in large numbers after 1825, foreigners could not work them to anything like the same advantage as the English It is well known that the Lancashire cotton spinner could work more spindles than any cotton operative in the world and that English fine yarns are unsurpassed"

यही नहीं योरोप के अन्य राष्ट्रों में गृहयुद्ध एवं अशान्ति के कारण वहाँ से बहुत से कुशल श्रमिक इंगलैंड में आकर बस गये क्योंकि इंगलैंड ही एक ऐसा राष्ट्र था जहाँ उनको रोजी प्राप्त हो सकती थी। परिणामस्वरूप कुशल श्रमिकों का इङ्गलैंड में अभाव न रह गया और वह औद्योगिक क्रान्ति में सफल होने का गौरव प्राप्त कर सका।

बड़े पैमाने के उद्योगों की आवश्यकता

इङ्गलैंड के बढ़ते हुए व्यापार की माँग को पूरा करने के लिये बड़े पैमाने पर उत्पत्ति करना अनिवार्य हो गया था। अत: यह कथन 'आवश्यकता आविष्कार की जननी है' चरितार्थ हुआ। इङ्गलैंड का बाजार बहुत विस्तृत होने के कारण सम्पूर्ण माँग को पूरा करने के लिए उद्योगों का विकास नितान्त आवश्यक था, परन्तु इस विशाल क्षेत्र को देखते हुए राष्ट्र में श्रमिकों की संख्या बहुत कम थी। परिणामस्वरूप मशीनों का निर्माण एवं आविष्कार इङ्गलैंड के लिए अनिवार्य हो गया। नोल्स के शब्दों में—

"To cater for an export and import trade of £40 million, France had 26 million people, while Great Britain only had 9 million to deal with a foreign trade of £ 32 million"

ऐसी स्थिति में नवीन मशीनों का आविष्कार होना स्वाभाविक ही था जैसा कि जेम्स आगडेन (James Ogden) के शब्दों से स्पष्ट हो जाता है :—

"No exertion of the manufacturers or workmen could have answered the demands of trade without the introduction of spinning jennies"

आन्तरिक शान्ति (Internal Peace)

किसी भी राष्ट्र के आर्थिक, राजनैतिक एवं सामाजिक उत्थान के लिए गृह-शांति का होना अत्यन्त आवश्यक है। भाग्यवश इङ्गलैंड में शांति की पूर्ण व्यवस्था थी। योरोप के अन्य राष्ट्र नेपोलियन युद्धों के कारण या अपनी गृह अशांति के कारण अपने देश के उत्थान के विषय में कल्पना भी नहीं कर सकते थे। ऐसे समय में आन्तरिक शांति के कारण इङ्गलैंड को अपने भाग्य का निर्माण करने का स्वर्ण अवसर मिल गया और वह अन्य राष्ट्रों से आगे बढ़ गया। नोल्स ने ठीक ही लिखा है—

'But for the French Revolution, France and not England might have been the pioneer country of the Industrial Ravolution The economic disturbances caused by the Revolution put France back for 40 years and by 1830 when she had recovered, Great Britain was the workshop of the world"

इस प्रकार आन्तरिक शान्ति के कारण लोग निश्चिन्त होकर व्यापार एवं उद्योग धन्धों के निर्माण करने में लगे हुए थे। ऐसी दशा में इगलैंड का औद्योगिक विकास स्वाभाविक ही था। नोल्स के शब्दों में—

"In France moneyed people were afraid to take the risks of new ventures and preferred land as an investment The political security of Great Britain was so good that people did not hesitate to sink their money in the fixed form necessary for large scale enterprise"

कोयले एवं लोहे का उपलब्ध होना

कोयला एवं लोहा औद्योगिक ढाँचे के मूल स्तम्भ हैं। वास्तव में कोयला उद्योग की जननी है तथा लोहा उसका पिता। बिना इन दोनों के न तो उद्योगों का जन्म हो सकता है और न उनका उचित भरण पोषण ही। जिस प्रकार शिशु को उचित संरक्षण के लिये माता पिता की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार उद्योगों को भी कोयले एवं लोहे की आवश्यकता है। मशीनें, औजार, रेलें, मोटरें, वायुयान, जलपोत एवं असंख्य अन्य वस्तुएँ लोहे पर ही अवलम्बित हैं और इन सभी में जीवन एवं गति प्रदान करने का श्रेय कोयले को ही है। इगलैंड को ये दोनों ही खनिज प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थे। यही नहीं इगलैंड और भी भाग्यशाली था क्योंकि ये दोनों ही खनिज पास पास पाए जाते थे जिसके कारण यातायात की कठिनाई स्वय ही हल हो गई। नोल्स के शब्दों में—

"It is only when one sees how Britain's great industrial rival, France, was hampered by the cost of coal

all through the century that one realises the enormous bounty bestowed by nature upon this country. Cheap and good coke joined to the existence of skilled artisans enabled Great Britain to make cheap machines, cheap locomotives, steamers and engines, and she was thus able to become the world's construction shop and forge . Over and above this the geographical situation of the coal fields was most favourable i e, the coal was not merely there, it was get at able and transportable .. Her coal and Iron also lay together near the coast which minimised the difficulty of transporting the finished goods"

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता (Personal Freedom)

मानव के पूर्ण विकास के लिए उसकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का होना परमावश्यक है। बिना स्वतन्त्रता के मनुष्य अपना विकास तथा राष्ट्र का विकास करने में सदैव असमर्थ रहता है। भाग्यवश इंगलैंड के निवासियों को पूर्ण रूप से व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्राप्त थी। इंगलैंड के निवासी अपने भाग्य का निर्माण करने के लिए स्वतन्त्र थे। नोल्स के शब्दों में—

"Serfdom had disappeared in England, Scotland and Ireland by the end of the 16th century, so that by the middle of 18th century the inhabitants of Great Britain were free to move as perhaps no other people were at that time"

सरकार मुक्त व्यापार नीति (Free trade) का अनुसरण कर रही थी। व्यापार एवं उद्योग में सरकार द्वारा किसी प्रकार का भी हस्तक्षेप न था। वस्तुओं के आयात निर्यात पर भी कोई प्रतिबन्ध न था। ऐसी दशा में इंगलैंड के व्यापार एवं उद्योग धन्धों का पनपना स्वाभाविक ही था। नोल्स के शब्दों में—

"It is only when one contrasts the utter destruction of industrial and commercial life for 10 years after the French Revolution and grasps the fact that it took France till 1830 to get back to the same pitch of commercial prosperity that she enjoyed before the Revolution that one realises how destructive to Economic progress political insecurity may become..... It is clear that the political and economic freedom in England was one of the contributing causes of her industrial expansion."

सामुद्रिक शक्ति (Maritime Power)

प्राचीन समय में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए एवं राजनैतिक स्वतन्त्रता कायम

रखने के लिए सामुद्रिक शक्ति का होना अनिवार्य था। वस्तुओं का आयात निर्यात जलपोतों पर ही निर्भर था। इंगलैंड की जहाजी शक्ति उस समय अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा अतुलनीय थी। इसी जहाजी शक्ति के कारण ही इंगलैंड अपना विस्तृत साम्राज्य स्थापित करने में सफल हो सका। इंगलैंड का विश्वव्यापी व्यापार इन्हीं जलपोतों की देन था जिसके कारण ही इंगलैंड का औद्योगीकरण बड़ी द्रुतगामी गति से सम्भव हो सका। श्री नोल्स के शब्दों में—

'Her ubiquitous tramp has given her facilities for the receipt and despatch of goods which were unrivalled by any other country before 1914 It is scarcely realised however what an important asset the English ship captain has been in pushing English trade As he goes all over the world it is his business to get freights, and he is willing to carry for any one who will charter him, but he wishes above all to get back to England, and will work towards that end in getting cargoes He is one of the best agents for British trade and he is found everywhere"

सगठन की योग्यता (Ability of Organization)

बड़े पैमाने की उत्पत्ति में सगठन का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। वास्तविकता तो यह है कि बिना कुशल सगठन के किसी भी राष्ट्र का व्यापार एवं औद्योगिक विकास उन्नति नहीं कर सकता। 'सगठन में ही बल है' यह एक कटु सत्य है। उचित सगठन ही कुशल उत्पादन की मूल आवश्यकता है। उद्योग धन्धों का सचालन एवं उनका विकास बिना सगठन के सम्भव नहीं। इंगलैंड के औद्योगिक विकास की पृष्ठ भूमि में वहा के लोगों में सगठन की योग्यता का होना ही है। इंगलैंड के निवासियों ने वृहत् व्यापार के कारण सगठन की योग्यता प्राप्त करने में सफल हो चुके थे। नोल्स के शब्दों में—

'To the Englishman who had catered for a century for large foreign Markets of the most diverse character, large scale production was perfectly familiar–he had trading connections all over the world with hot climates and with cold ones He could and did sell his stuff from the Arctic to Mexico"

इङ्गलैंड की भौगोलिक स्थिति (Geographical Location of England)

इंगलैंड की औद्योगिक क्रांति में प्रकृति का भी बड़ा शक्तिशाली हाथ रहा है। वास्तव में बहुत कुछ इंगलैंड के व्यापार एवं उद्योग-धन्धों का विकास उसकी भौगोलिक स्थिति के कारण सम्भव हो सका। नोल्स के शब्दों में—

"The Geographical position of Great Britain on the out skirts of Europe at the head of the Atlantic and commanding the approach to northern Europe gave her unrivalled opportunities for selling in any market"[1]

अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण ही इगलैंड पुन निर्यात व्यापार में आशातीत सफलता प्राप्त कर सका। प्रो० टामस (Prof. Thomas) ने ठीक ही लिखा है—

'England was first in the field and her natural resources have enabled her to remain first amongst nations'

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विस्तृत बाजार, पूँजी की प्रचुरता, उद्योग सचालन की योग्यता, आन्तरिक शान्ति, लोहे एव कोयले की प्रचुरता देशवासियों में साहस की भावना एव अनुकूल प्राकृतिक वातावरण के कारण इगलैंड ही ऐसा राष्ट्र था जिसको औद्योगिक क्रान्ति का सर्वप्रथम सौभाग्य प्राप्त हो सकता था।

औद्योगिक क्रान्ति के आर्थिक एव सामाजिक प्रभाव

(Economic & Social Effects of Industrial Revolution)

औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप नवीन आविष्कारों का क्रम सा लग गया जिसने इगलैंड के आर्थिक, सामाजिक एव राजनैतिक जीवन का स्वरूप ही बदल दिया। विशालकाय उद्योग, आवागमन के साधनों एव अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ने इगलैंड को आर्थिक क्षेत्र में विश्व का पद प्रदर्शक बना दिया। आर्थिक वैभव एव सम्पन्नता में आशातीत वृद्धि होने पर देशवासियों के रहन-सहन के स्तर में वृद्धि होना स्वाभाविक ही था। राजनैतिक क्षेत्र में भी इगलैंड अपना प्रभुत्व जमा कर इतने बड़े साम्राज्य के स्थापित करने में, जिसमे कभी सूर्य ही न अस्त होता हो, सफल हो सका। नोल्स के शब्दों में—

"The Industrial and commercial Revolutions had created new social classes, a new trading class, a new industrial class and a new moneyed power arose, and the old landed interest declined correspondingly in importance These new classes constituted the new democracy of the 19th century'

आर्थिक प्रभाव

नये उद्योगों का जन्म

औद्योगिक क्रान्ति के कारण ही इङ्गलैण्ड में नए-नए उद्योगों का जन्म हुआ। उदाहरणस्वरूप कोयला उद्योग, लौह एव इस्पात उद्योग, रसायनिक उद्योग, इजीनियरिंग उद्योग आदि। औद्योगिक विकास के कारण अन्य बहुत से पूरक उद्योगों का

पनपना स्वाभाविक ही था। वास्तव में इङ्गलैंड औद्योगिक क्रान्ति के उपरान्त विशाल काय उद्योगों का द्वीप बन गया।

कुटीर उद्योगों का पतन

बड़े पैमाने पर उत्पत्ति प्रारम्भ हो जाने के कारण कुटीर उद्योग उनकी प्रतियोगिता में न ठहर सके और क्रमश उनका स्थान बड़े उद्योगों ने ले लिया। प्रो० हैमण्ड (Prof Hammond) के शब्दों में—

'The handicraft system of manufacturing industry passed through domestic system in which the germ of capitalism was sown to the present factory system"

व्यापार के स्वरूप में अन्तर

औद्योगिक क्रान्ति के उपरान्त व्यापार का स्वरूप ही बदल गया। प्राचीन समय में आवागमन के साधनों के विकसित न होने के कारण व्यापार केवल एक राष्ट्र की चहारदीवारी तक ही सीमित रहता था। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बहुत सीमित वस्तुओं में सम्भव हो सकता था क्योंकि खर्च अधिक होने के कारण सभी वस्तुएं इसको वहन नहीं कर सकती थीं। क्रान्ति के उपरान्त प्राय प्रत्येक वस्तु का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होने लगा। भौगोलिक श्रम विभाजन के फलस्वरूप प्रत्येक राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर ही निर्भर रहने लगा। प्रो० हैमण्ड (Prof. Hammond) ने ठीक ही लिखा है—

'Before the Revolution Luxury goods for the use of the rich were the most important in the foreign commerce After the revolution goods of daily use for popular consumption occupied the most important place '

बड़े पैमाने पर कृषि

औद्योगिक विकास के फलस्वरूप लोग ग्रामीण क्षेत्रों को छोड़कर औद्योगिक क्षेत्रों में आने लगे जिसके कारण जनसंख्या का भार भूमि पर बहुत कम हो गया। नवीन आविष्कारों के फलस्वरूप कृषि में यन्त्रों का उपयोग सम्भव हो गया। श्रम की कमी हो जाने के कारण ऐसा अनिवार्य भी था। परिणामस्वरूप इङ्गलैंड में कृषि बड़े पैमाने पर होना शुरू हो गई। इससे उत्पादन में वृद्धि हुई और कृषकों की आर्थिक स्थिति में भी सुधार हुआ।

वृहत उत्पादन एवं रहन सहन के स्तर में वृद्धि

विशालकाय उद्योगों के कारण बड़े पैमाने पर उत्पत्ति होने लगी। विभिन्न प्रकार

की वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि के साथ ही साथ वस्तुओं के मूल्य भी बहुत कम हो गये। परिणामस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति उन वस्तुओं के उपभोग करने की क्षमता रखने लगा। ऐसी अवस्था में रहन-सहन के स्तर में वृद्धि स्वाभाविक ही थी। प्रो० हैमन्ड (Prof Hammond) के शब्दों में—

"Two centuries ago not one person in a thousand wore stockings, one century ago not one person in five hundred wore them, now not one person in a thousand is without them"

शहरों की उत्पत्ति तथा श्रमिकों के स्वास्थ्य एवं आवास की समस्या का प्रादुर्भाव

औद्योगिक क्षेत्रों में क्रमशः जनसंख्या की वृद्धि होने लगी। नोल्स के शब्दों में—

"Before 1760, the south east of England had been the richest and most populous part of the country, but after the revolution the north western part became more prominent"

शहरों की उत्पत्ति के साथ ही विभिन्न सामाजिक समस्याओं का प्रादुर्भाव हुआ। जनसंख्या के आधिक्य के कारण आवास की समस्या अत्यन्त जटिल हो गई। गन्दी बस्तियों का प्रादुर्भाव हुआ और परिणामस्वरूप सरकार के सम्मुख शहर निवासियों के स्वास्थ्य-रक्षा का प्रश्न मुख्य रूप से उपस्थित हुआ। नोल्स के शब्दों में—

"There were no arrangements for disposing of the house refuse which always accumulates, ash pits overflowed and spread "a layer of abomination" about the courts and streets Town had always been insanitary places suffering from plague, small pox and other virulent fevers....The piling of the population on new areas made an existing evil much worse, it aggravated the filth, congestion and infection, and no machinery existed to grapple with the problem On the top of the dirt and disease came the great difficulty of the disposal of the dead The overcrowded state of the little town burial grounds added to the horrors of town life and poisoned the water supply"

उपर्युक्त समस्याओं के प्रादुर्भाव के कारण सरकार के दायित्व अत्यधिक बढ़ गये जिसके कारण नये करों की व्यवस्था एवं राजस्व में आमूल परिवर्तन करने की

आवश्यकता हुई। वास्तव में यह राज्य के लिए एक नवीन जटिल आर्थिक समस्या थी।

श्रमिकों की आर्थिक स्वतन्त्रता का अभाव

बड़े पैमाने की उत्पत्ति में श्रम विभाजन का होना अनिवार्य होता है। श्रम विभाजन के फलस्वरूप प्रत्येक श्रमिक को केवल एक ही कार्य सदैव करना पड़ता है। इसका परिणाम यह हुआ कि वह केवल सम्पूर्ण कार्य के एक भाग का ही जानने वाला बन बैठा और अपने प्राचीन कौशल को खो बैठा। एक विशेष कार्य के सम्पादित करने की योग्यता रखने के कारण वह अन्य स्थानों पर कार्य छोड़कर जाने में असमर्थ हो गया और इसलिये पूर्णरूप से वह अपने मालिकों पर आश्रित रहने लगा। अब वह केवल मशीन का दास था और अपनी आर्थिक सम्पन्नता को बढ़ाने में पूर्ण रूप से असमर्थ था।

कार्य में नीरसता

श्रम विभाजन के कारण एक ही कार्य निरन्तर करते रहने से श्रमिक अपने कार्य म नीरसता का अनुभव करने लगा और उसकी कार्यक्षमता गिर गई और इसके साथ ही उसकी आय भी। नोल्स के शब्दों में—

"A spinner is required to do but one thing through out his whole life to watch a pair of wheels and to walk three steps forward and three steps backward"

श्रमिकों का शोषण

बड़े पैमाने की उत्पत्ति में उद्योगपति पूँजी तथा कच्चे माल का मालिक था और श्रमिक केवल कुछ द्रव्य के बदले में उत्पादन क्रिया का सम्पादन करता था। अब वह स्वय अपने भाग्य का निर्माता नहीं था, वरन् अपनी जीविका के लिए पूर्ण रूप से अपने पूँजीपति मालिकों पर आश्रित था। मालिकों का उद्देश्य अधिक लाभ कमाना था। परिणामस्वरूप उन्होंने श्रमिकों की दयनीय स्थिति का लाभ उठाया और उनका प्रत्येक रूप से शोषण किया। काम के घन्टे अधिक एव मजदूरी कम थी, परन्तु फिर भी श्रमिक आश्रित होने के कारण उसके विरुद्ध एक शब्द भी कहने में अपने को असमर्थ पाता था। ऐसी दशाओं में श्रमिकों की आर्थिक स्थिति दयनीय हो जाना स्वाभाविक ही था।

श्री टामस के शब्दों में—

"Labourers became mere attendants on machines, pro pertyless, moneyless and homeless"

औद्योगिक संघर्ष एवं शान्ति का अभाव

श्रमिकों में शोषण के कारण उनको पूँजीपतियों के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए विवश होना पड़ा। हड़ताल एवं तालेबन्दी आमतौर पर होने लगे। इन औद्योगिक संघर्षों के कारण सामाजिक शांति का भंग होना स्वाभाविक ही था।

श्रमिक संघों का प्रादुर्भाव

निर्धन एवं शक्तिहीन श्रमिक अपने प्रतिद्वन्द्वी पूँजीपति से अकेले संघर्ष करने एवं अपनी दशा में सुधार करने के प्रयत्न में कभी भी सफल नहीं हो सकता था। परिणामस्वरूप उनको संघों का स्थापित करना अनिवार्य हो गया क्योंकि बिना सामूहिक शक्ति के वे विजय नहीं प्राप्त कर सकते थे। नोल्स के शब्दों में—

"Massed together they could discuss their grievances and the operative became 'class conscious' All through the 18th century trade Unions had been developing.'

संयुक्त प्रमण्डलों का प्रादुर्भाव (Birth of Joint Stock Companies)

बड़े पैमाने की उत्पत्ति के लिये बहुत पूँजी की आवश्यकता पड़ती है। इतनी सब की सब पूँजी की पूर्ति केवल एक ही व्यक्ति के शक्ति के बाहर थी। परिणामस्वरूप संयुक्त प्रमण्डलों का जन्म हुआ जिसकी पूँजी विभिन्न अंशों (Shares) में विभक्त थी और उसको कई मनुष्य मिलकर संगठित करते थे। इस प्रकार इंगलैंड में पूँजी का उपयोग समुचित रूप से सम्भव हो गया। प्रत्येक व्यक्ति बड़े बड़े संस्थानों में केवल कुछ अंश खरीद कर ही उसके मालिक होने का गौरव प्राप्त कर सकता था। इन प्रमण्डलों के कारण इंगलैण्ड की औद्योगिक उन्नति को और भी प्रोत्साहन मिला।

नवीन व्यावसायिक संस्थाओं का जन्म

बड़े पैमाने की उत्पत्ति के कारण नवीन व्यावसायिक संस्थाओं जैसे बैंकिंग, बीमा, थोक व्यापार एवं फुटकर व्यापार, दलाली आदि का स्थापित होना आवश्यक ही था। बिना इसके बड़े पैमाने की उत्पत्ति सुचारु रूप से नहीं चलाई जा सकती थी। वास्तव में बृहत् उत्पादन के ये सभी आवश्यक प्रसाधन हैं।

इङ्गलैंड का कच्चे माल तथा खाद्यान्न के लिये अन्य राष्ट्रों पर निर्भर होना

भौगोलिक श्रम विभाजन के कारण इंगलैण्ड के लिए यह लाभप्रद था कि वह केवल उद्योगों द्वारा कच्चे माल से वस्तुओं का उत्पादन करके अन्य राष्ट्रों से अपनी खाद्यान्न की कमी को पूरा करे। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सुविधाओं के कारण ऐसा सम्भव भी हो सकता था। परिणामस्वरूप इंगलैण्ड ने कच्चा माल तथा खाद्यान्न

अन्य देशों से आयात करना प्रारम्भ कर दिया और निर्मित माल को उसके बदले में देने लगा। अब वह खाद्यान्न की पूर्ति के लिये दूसरे देशों पर निर्भर हो गया और यह कथन सिद्ध हुआ कि यदि इगलैण्ड का व्यापार चला जाय तो उसकी आधी जन-सख्या चली जाय। नोल्स के शब्दों में—

"By the beginning of the 20th century Great Britain had become a great food importing nation, only one in ten of her male workers were still in agriculture, 77% of the population was massed in urban areas in 1901"

राष्ट्रीय सम्पत्ति में वृद्धि

औद्योगिक उत्थान एव वृहत् व्यापार के कारण विश्व की सम्पत्ति क्रमशः इगलैण्ड में आने लगी। इगलैण्ड का वैभव एव सम्पन्नता अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। ऐसी दशा में वहाँ के निवासियों के रहन सहन के स्तर में वृद्धि स्वाभाविक ही थी।

श्रमिकों की कार्यक्षमता मे वृद्धि एवं उनकी आर्थिक सम्पन्नता

नवीन मशीनों के प्रादुर्भाव के कारण इगलैण्ड के श्रमिकों की कार्यक्षमता में वृद्धि स्वाभाविक ही थी। औद्योगिक विकास के फलस्वरूप श्रमिकों को रोजगार मिलने की सुविधाएँ भी अधिक थीं। प्रत्येक व्यक्ति को रोजगार मिल जाने के कारण श्रमिकों की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी हो गई। नोल्स के शब्दों में—

"It is admitted by every one that our skill is unrivalled, the industry and power of our people unequalled, their ingenuity as displayed in the continual improvement of machinery and production of commodities without parallel."

सामाजिक प्रभाव

औद्योगिक क्रान्ति का परिणाम समाज का दो प्रतिरोधी वर्गों में विभाजित हो जाना था—एक ओर धनी वर्ग और दूसरी ओर निर्धन एव अभावग्रस्त। इस वर्ग विभाजन का परिणाम समाज में धन के असमान वितरण की समस्या का प्रादुर्भाव था। धनी वर्ग समाज में अपने प्रभुत्व के कारण निर्धनों का शोषण करने लगा जिससे वह और अधिक वैभवशाली एव सम्पन्न बनता गया, परन्तु दूसरी ओर निरीह निर्धन वर्ग और अधिक निर्धन बनता चला गया। इस प्रकार धन के विषम-वितरण की समस्या का प्रादुर्भाव हुआ।

श्रमिकों की स्वतत्रता का अभाव

श्रमिकों की स्वतन्त्रता वास्तव मे औद्योगिक विकास के कारण सदैव के लिए

छिन गई। अब वह केवल एक मजदूर के रूप में उद्योगपतियों पर निर्भर हो गया। पहले वह स्वतन्त्र रूप से खुले एवं स्वच्छ वातावरण में अपना कार्य करता था अब उसको फैक्ट्री की चहारदीवारी के अन्दर अस्वच्छ वातावरण में एक दास के रूप में कार्य करना पड़ता था। अब वह केवल आज्ञा का पालन करने वाला सेवक ही रह गया। नोल्स के शब्दों में —

"The worker disliked the regularity and the tyranny of the factory bell."

सामाजिक समस्याओं का प्रादुर्भाव

श्रमिकों की दशा के सुधार, आवास की व्यवस्था, स्वास्थ्य की व्यवस्था आदि तमाम सामाजिक समस्याओं का प्रादुर्भाव केवल औद्योगिक क्षेत्रों के विकास के परिणामस्वरूप हुआ। बच्चों तथा स्त्रियों की फैक्ट्री में काम करने की समस्या ने भी एक जटिल रूप धारण कर लिया जिसके कारण उसका सुधार करना भी आवश्यक हो गया।

शान्ति का अभाव

औद्योगिक संघर्ष के कारण समाज में शान्ति की व्यवस्था भी एक नवीन समस्या थी जिसका प्रादुर्भाव औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप हुआ।

इङ्गलैंड एक कृषि प्रधान देश न रह कर औद्योगिक राष्ट्र हो गया

औद्योगिक विकास के कारण इङ्गलैंड की लगभग ७७ प्रतिशत जनता उद्योगों में लग गई। इङ्गलैंड खाद्यान्न के लिए दूसरे देशों पर निर्भर रहने लगा। नोल्स के शब्दों में —

"Before Industrial Revolution the typical picture of John Bull represents him as a prosperous farmer, not as a captain of indutry."

उपर्युक्त बुरे प्रभावों के अतिरिक्त औद्योगिक क्रान्ति के कुछ सामाजिक प्रभाव अच्छे भी थे। सर्वप्रथम औद्योगिक विकास के कारण इङ्गलैंड के वैभव एवं समृद्धि में वृद्धि हुई जिसके कारण सारे समाज का रहन-सहन का स्तर बढ़ गया। लोगों की आय में पर्याप्त वृद्धि सम्भव हो सकी। अब कुटुम्ब के सभी व्यक्ति अलग-अलग धन-उपार्जन करने लगे जिससे सभी की आर्थिक सम्पन्नता में वृद्धि सम्भव हो सकी।

द्वितीय, काम करने की दशाओं में भी सुधार हुआ। क्रान्ति के पहले सभी कुटुम्ब के व्यक्ति मिलकर अपने निवास स्थान पर ही कार्य किया करते थे परिणामस्वरूप स्थान का अभाव रहता था। अब श्रमिक फैक्ट्री में कार्य करता था और उसके रहने का स्थान अलग था। नोल्स के शब्दों में —

"A man was physically better off in a well ventilated factory than when he worked in a home littered with the mess of the family production He no longer ate, drank and slept with the refuse of his work"

तृतीय, सयुक्त परिवार प्रथा के छिन्न भिन्न हो जाने के कारण प्रत्येक व्यक्ति का नैतिक एव आर्थिक उत्थान हुआ। परिवार का प्रत्येक सदस्य अपने पैरों पर खड़ा होकर स्वावलम्बी बन सका। प्रत्येक व्यक्ति के अलग अलग आमदनी के साधन हो गये। नोल्स ने ठीक ही लिखा है —

"Although the sentimentalists were shocked at the break up of family life, yet domestic happiness is not pro moted but impaired by all the members of a family muddling together and jostling each other constantly in the same room The man was improved morally by working regular hours which were said to engender regular habits"

चतुर्थ, परिणाम यह था कि नवीन व्यवसायों के प्रादुर्भाव के कारण लोगों को अधिक काम मिलने लगा।

पाँचवाँ प्रभाव वस्तुओं की किस्मों के सुधार एव उसके सस्ते होने का था। बड़े पैमाने पर उत्पत्ति के कारण वस्तुओं का मूल्य कम होना स्वाभाविक ही था। इसके अतिरिक्त मशीन का बना हुआ माल हाथ द्वारा उत्पादित माल की अपेक्षा अच्छा भी था। इसका परिणाम यह हुआ कि समाज म व्यक्तियों को सस्ती तथा अच्छी वस्तुएँ उपलब्ध होने लगीं और उसके रहन सहन के स्तर में विकास हुआ।

छठे, श्रमिकों की बुद्धि में विकास भी औद्योगिक मशीनों के उपयोग से सभव हुआ। नवीन मशीनों पर कार्य करने के लिए बुद्धि की आवश्यकता थी। वे अपने काम में दक्ष हो गये।

सातवें, कार्य करने की दशायें भी अच्छी हो गईं। स्त्रियों तथा बच्चों को तो बहुत ही राहत मिल गई। नोल्स ने लिखा है —

The creatures were set to work as soon as they could crawl and their parents were the hardest of task masters family work and the family wage aften meant that the mem bers of the family were sweated by their parents or the wife by the husband"

उपसहार

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि औद्योगिक क्रान्ति इङ्गलैंड क लिये वरदान थी। इसके फलस्वरूप हो सकता है कुछ हानियाँ भी हुई हों, परन्तु सक्रमण काल

(Period of Transition) में कुछ अशान्ति होना स्वाभाविक ही है। वास्तविक्ता तो यह है कि औद्योगिक क्रान्ति ने इङ्गलैंड ऐसे छोटे से द्वीप की सत्ता सारे विश्व में राजनैतिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में जमा दिया और वह एक प्रभुत्वशाली राष्ट्र बन गया। नोल्स के शब्दों में :—

"The 16th century was the century when Spain swayed the economic destinies of Europe..... The 17th century belongs to Holland with her vast exchange business and shipping, the 18th is the century of France with her great industrial, commercial and colonial development.. ...but the 19th century is the century of the predominance and world-wide influence of this tiny island on the outskirts of Europe"

यह औद्योगिक क्रान्ति का ही परिणाम था कि इङ्गलैंड अपना राजनैतिक प्रभुत्व समस्त विश्व के लगभग १/४ भाग पर जमा सका। इतना बड़ा साम्राज्य जिसमें कभी सूर्य ही अस्त न होता हो कदाचित् इङ्गलैंड का प्रथम एवं अन्तिम उदा॰ हरण होगा। इङ्गलैंड सारे विश्व के आर्थिक जगत का भाग्य-निर्माता बन गया। नोल्स ने ठीक ही लिखा है —

"England became the forge of the world, the world's carrier, the world's ship-builder, the world's banker, the world's work-shop, the world's clearing house, and the world's entrepot."



द्वितीय खण्ड

"भारतीय कृषि की समस्याएँ"

(१) भारतीय कृषि का विकास
(२) भारत में अकाल
(३) खाद्य-समस्या
(४) सिंचाई व्यवस्था
(५) कृषि भूमि उपविभाजन एवं उपखण्डन
(६) कृषि पदार्थों का विक्रय
(७) भूमि व्यवस्था
(८) कृषि नियोजन
(९) सामुदायिक विकास योजनाएँ
(१०) मूल्यों का स्थिरीकरण

४

भारतीय कृषि का विकास

(Evolution of Indian Agriculture)

"जब खेती फलती फूलती है, तब सब धन्धे पनपते हैं, किन्तु जब भूमि को बजर छोड दिया जाता है तब अन्य सभी धन्धे शीघ्र नष्ट हो जाते हैं।"

सुकरात

भारतवर्ष आदि काल से ही कृषि प्रधान देश रहा है। कृषि ही देश के आर्थिक ढाचे की रीढ़ की हड्डी है। कृषि हमारे देश का न केवल एक उद्योग धंधा ही है और न केवल यह जीविकोपार्जन का साधन मात्र ही, वरन् यह वास्तविक रूप में राष्ट्र का प्राण है। कृषि कार्य एक प्रमुख राष्ट्र सेवा है। राष्ट्र-सम्पत्ति एव समृद्धि एक मात्र कृषि की समृद्धि एव उन्नति पर निर्भर है। आज यह निर्विवाद सत्य है कि कृषि की उन्नति पर ही हमारे सम्पूर्ण राष्ट्र की आर्थिक, सामाजिक एव राजनैतिक शक्ति, शान्ति, सुख एव समृद्धि निर्भर है। आज भी लगभग ८० प्रतिशत भारतीय जनता कृषि उद्योग पर ही निर्भर है। कृषि पर ही किसी देश की खाद्य सामग्री की उपलब्धि निर्भर है और साथ ही साथ अन्य उद्योगों के लिए कच्चा माल भी। यही कारण है कि औद्योगीकरण के इस बढ़ते हुए युग में भारतीय कृषि एव भारतीय कृषक का महत्व और भी अधिक बढ गया है। वस्तुत कृषि ही हमारी राष्ट्रीय सम्पत्ति की मुख्य आधारशिला है। इतना महत्वपूर्ण स्थान होते हुए भी विगत चार सौ वर्षों का भारतीय कृषि का इतिहास, भारतीय कृषक का दयनीय, दुखद एव दरिद्रता की रोमाचकारी एव करुण कहानी है। भारतीय मानवता के इस प्रतीक ने शताब्दियों तक लगान, कर्ज, नजराने का कमर तोड़ देने वाला बोझ ढोया है। लेकिन इतने पर भी वह विचलित नही है। युगों युगों की निराशा और क्लेश ने उसको भाग्यवादी बनाकर छोड दिया है और उसने समझ लिया है कि यह सब किस्मत का खेल है।

प्राचीन काल मे (१८५७ के पूर्व) कृषि की दशा

हमारे देश की जल वायु, भूमि एव अन्य प्राकृतिक परिस्थितियों के अनुसार कृषि ही हमारे देश के आर्थिक विकास की आधारशिला थी। कृषक-परिवार छोटे

छोटे समूहों मे अपने निकट की कृषि भूमि के पास निवास करने लगे और ये स्थान ही उनके ग्राम कहलाने लगे थे। कृषि इन परिवारों द्वारा छोटे पैमाने पर की जाने लगी। इस प्रकार कृषि का विकास एक छोटे पैमाने के उद्योग के रूप में हुआ जिसका मुख्य उद्देश्य प्रत्येक परिवार की आवश्यकताओं के लिए उसे स्वावलम्बी (self sufficient) बना देना था। इस प्रकार प्राचीन काल में ग्राम एक आर्थिक स्वावलम्बी इकाई के रूप मे होता था। प्रत्येक गाँव मे इस प्रकार की व्यवस्था थी कि वहाँ के निवासियों को गाव को छोड़ कर अपनी आवश्यकताओं के लिए किसी अन्य स्थान या व्यक्तियों पर निर्भर न होना पड़े। प्रत्येक गाँव का मुख्य उद्यम कृषि था। कृषि से खाद्य सामग्री के अतिरिक्त कपास, गन्ना, तेलहन, जूट इत्यादि वस्तुएँ भी प्राप्त होती थीं। प्रत्येक गाँव म कपड़ा बनाने वाले जुलाहे, जूतों तथा खेती के लिए चमड़े का सामान बनाने वाले चमार, सफाई करने वाले मेहतर, बच्चा पैदा कराने वाली दाई, कपड़े धोने के लिये धोबी, हजामत बनाने के लिए नाई, अन्य छोटी-छोटी वस्तुओं के बेचने वाले बनिए, उधार धन देने का कार्य करने वाले महाजन, लोहे व लकड़ी का सामान बनाने वाले लोहार बढ़ई, सुरक्षा के लिए चौकीदार, कृषि भूमि का हिसाब किताब रखने के लिये पटवारी, आपसी झगड़ों का निवारण करने के लिए गाँव का मुखिया होता था। इस प्रकार गाँव एक स्वावलम्बी आर्थिक एव सामाजिक इकाई थी। गावों की स्वाधीनता के कारण यातायात के साधनों का विकास नहीं हुआ क्योंकि आवश्यकताएँ ही आविष्कार की जननी हैं। स्वावलम्बिता को पुष्ट करने के लिए आवश्यकताएँ कम से कम हो यह आवश्यक था। आवश्यकताओं की वृद्धि पर धार्मिक भावना अकुश लगाती थी।

कृषि में काम आने वाले पशु तथा दूध देने वाले पशु पाले जाते थे। कृषि में उत्पादित वस्तुओं के द्वारा आवश्यकता की अन्य वस्तुओं के बनाने वाले छोटे छोटे उद्योग प्रत्येक परिवार मे किये जाते थे। इस प्रकार प्रत्येक गाँव कृषि के सहायक एव कृषि पर निर्भर उद्योग धन्धों का केन्द्र था। कृषि वर्षा पर निर्भर थी और वर्षा की अनिश्चितता के कारण प्राय कृषि में उत्पादन अत्यन्त अल्प होता था। उस समय कृषि का सकट काल अर्थात् अकाल की समस्या उपस्थित हो जाती थी। ऐसे अवसरों पर कुटीर उद्योग कृषकों की रक्षा करते थे और सम्पूर्ण ग्राम निवासी सहकारिता के आधार पर एक दूसरे की सहायता करके सकट काल पर विजय प्राप्त कर लेते थे। आवश्यकताओं के न्यूनतम होने के कारण मुद्रा द्रव्य का प्रयोग नहीं होता था। वस्तु विनिमय मुख्यत प्रचलित था। इस प्रकार का विनिमय प्राय. समय-समय पर किसी एक स्थान पर सभी व्यक्ति एकत्रित होकर कर लिया करते थे। इन स्थानों को हाट या बाजार कहा जाता था। तीर्थ स्थानों पर भी लोग एकत्रित होते थे और वहाँ पर

भी वस्तु विनिमय व्यापार किया जाता था। यातायात का मुख्य साधन बैलगाड़ी या खच्चर, घोड़े और गधे थे। कहीं कहीं पर ऊँट गाड़ियाँ भी प्रचलित थीं।

सम्पूर्ण कृषि भूमि उस स्थान के प्रमुख व्यक्ति अर्थात् राजा, तालुकेदार या जमींदार की होती थी। कृषक को राजा के लिए कृषि से उत्पादित वस्तुओं के रूप में जो कि सम्पूर्ण वार्षिक उत्पादन का एक निश्चित अंश होता था लगान के रूप में देना पड़ता था। इसके बदले राजा अपनी प्रजा की रक्षा करना तथा उनको सुविधा प्रदान करना अपना कर्तव्य समझता था।

हिन्दू सम्राटों के युग में भारतीय ग्रामों में धन धान्य, सुख, शान्ति एवं समृद्धि भरपूर थी। जनता सुखी थी तथा उच्च विचार एवं सादा जीवन के सिद्धान्त पर सभी चलते थे। इसी कारण से प्राचीन काल में हमारे देश में बड़े से बड़े विद्वान, कवि, कलाकार तथा सत महात्मा उत्पन्न हुए जिनके अतीत गौरव से हम अब भी अपना मस्तक गर्व से ऊपर उठा सकते हैं। मौर्य काल एवं गुप्तकाल में विदेशी यात्रियों ने कृषि उद्योग एवं यहाँ की आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्थाओं का भी वर्णन किया है उससे सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में हमारे देश की कृषि अत्यन्त समृद्धशाली एवं उन्नतिशील थी।

मध्यकालीन युग में (१८५७ से पूर्व) कृषि की दशा

हिन्दू राज्य काल के समाप्त होने पर हमारे देश में मुसलमानों का राज्य शासन स्थापित हुआ। इन बादशाहों ने हमारे ग्राम सगठन से कोई छेड़ छाड़ नहीं की अतः हमारे ग्रामों के सगठन की रूप रेखा लगभग वही बनी रही जो कि प्राचीन काल में थी। इन शासकों में से कुछ ने तो कृषि की उन्नति के लिए बहुत प्रयत्न किये जैसे शेरशाह के समय में भूमि की नाप जोख हुई तथा उवराऊपन के अनुसार कृषि का वर्गीकरण भी किया गया। सिंचाई के लिए कुओं तथा तालाबों एवं नहरों के निर्माण भी किये गये। अकबर, शाहजहाँ और जहाँगीर के समय में भी इसी प्रकार राज्य की ओर से कृषि की उन्नति के प्रयत्न किये गये।

औरंगजेब के शासन काल में मुगल साम्राज्य के अधःपतन का काल आया। केन्द्रीय शासन कुछ ढीला पड़ने लगा तथा कर वसूल करने में कठिनाइयाँ आने लगीं। कर एकत्रित करने के लिए राज्य की ओर से कुछ व्यक्तियों को कृषकों से कर वसूलने के ठेके दिये जाने लगे। इधर जनसंख्या का भार कृषि पर अत्याधिक बढ़ गया। सन् १६७० ई० के बर्नियर इतिहासकार के वर्णन से पता चलता है कि राज्य कर्मचारियों, जागीरदारों तथा ठेकेदारों के भ्रष्टाचार एवं अनुशासनहीनता के कारण कृषकों पर अत्याचार तथा उनका शोषण होने लगा और इन सब कारणों से कृषि की दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई थी। कृषकों से जबरदस्ती बेगार ली जाती

थी। व गाधों को छोड़ कर अत्याचार से पीड़ित होकर भागे-भागे फिरते थे। कृषकों की दशा का दयनीय वर्णन करते हुए पेलसर्ट महोदय लिखते हैं—

"इन अभागों के जीवन की यह संक्षिप्त कथा है। इन दासों की तुलना उन घृणित केंचुआ तथा छोटी छोटी मछलियां से की जा सकती है जो चाहे जितना प्रयत्न करने पर भी सामुद्रिक बड़े बड़े दानवाकार जलजीवों से अपनी रक्षा में असमर्थ हैं और किसी भी समय उनके द्वारा भक्षण कर लिए जा सकते हैं। इस देश के महलों में यहाँ की सम्पत्ति केन्द्रित है। वह सम्पत्ति जो कि वास्तव में चमचमाती हुई है किन्तु यह असहाय एवं निर्धन व्यक्तियों की पसीने की कमाई एवं संग्रहीत सम्पत्ति है जो उनसे छीन ली गई है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्यकालीन युग में कृषि की दशा अत्यन्त शोचनीय थी और मध्यस्थों, जागीरदारों, जमींदारों, ठेकेदारों तथा ताल्लुकेदारों के खूनी पञ्जों में भोली भाली, निर्धन एवं असहाय कृषक जनता तड़प तड़प कर जीवित रहने का प्रयत्न कर रही थी।

इधर एक ओर तो मुगल साम्राज्य का अधःपतन हो रहा था और उधर अंग्रेज शासन की नींव ईस्ट इंडिया कम्पनी के रूप में पड़ रही थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन के समय में भी कृषकों की वही दयनीय एवं शोचनीय दशा रही। अंग्रेज भी मध्यस्थों एवं जमींदारों के सहयोग से कृषकों का भरसक शोषण करते रहे। उन्होंने निर्दयतापूर्वक कृषकों का शोषण करके और उनकी समस्त सम्पत्ति उनसे छीन कर अपने देश को ले जाते रहे। इस काल में अनेक रोमांचकारी अकाल पड़े जिनमें बड़ी संख्या में ग्रामीण जनता का नाश हो गया। कुटीर उद्योगों का ह्रास, असह्य दरिद्रता, निरक्षरता, असहाय शोषण एवं अत्याचार का बोलबाला हो गया। इस काल की कृषि का इतिहास अत्यन्त शोचनीय एवं दयनीय इतिहास है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मुगलकाल एवं ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन काल में कृषि के ढाँचे में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। कृषि करने के जिन तरीकों को कृषक चिरकाल से अपनाते चले आ रहे थे वही ढंग अपनाये रहे। सन् १८१२ में जब ईस्ट इंडिया कम्पनी ने यहाँ के शासन की बागडोर सभाली तब उसका उद्देश्य एवं उसकी नीति का मूल मंत्र भारत में ब्रिटिश राज्य की जड़ों को मजबूत करना तथा राज्य संचालन के लिए कृषकों का शोषण करके अधिक से अधिक मालगुजारी प्राप्त करना था। कम्पनी का मुख्य उद्देश्य भारतीय जनता को आर्थिक शृङ्खलाओं में जकड़ कर ब्रिटिश शासन की नींव दृढ़ करना और साथ ही साथ इङ्गलैंड के वैभव को भारतीय सम्पत्ति द्वारा और अधिक वैभवशाली बनाना था। यही नहीं भारतीय एकता

को नष्ट करना भी शासन को दृढ़ करने के लिये आवश्यक था। इन सभी उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मध्यस्थों का बाहुल्य आवश्यक था। अतः जमींदारों के रूप में कम्पनी ने अपने जी हुजूरों एवं पिट्ठुओं को जन्म दिया जिन्होंने अपने भाइयों पर ही अत्याचार करके भारतीय एकता को छिन्न-भिन्न कर दिया। इनके कारण ही भारतीय कृषकों का निरंतर आर्थिक शोषण होता रहा और परिणामस्वरूप ये कृषक निराशावादी, हतोत्साहित एवं किंकर्तव्यविमूढ़ हो बैठे। उनकी उत्पादक कार्यक्षमता नष्ट हो गई और वे क्रमशः अवनति की ओर अग्रसर होते चले गये। सन् १८५७ तक भारतीय कृषि पतन की सीमा पार कर चुकी थी और भारतीय कृषक पूर्ण रूप से जर्जरित हो गया था। वास्तव में १८५७ की क्रान्ति की पृष्ठभूमि में जनता की यह असतोष की भावना ही मुख्य थी।

१८५७ के उपरान्त कृषि की दशा

सन् १८५७ के बाद देश का राज्य शासन ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथ से ब्रिटिश पार्लियामेन्ट के हाथ में चला गया। अँग्रेजी शासन ने भारत पर पूर्णतया शासन करने का निश्चय कर लिया था और उन्हें पूर्णतया विदित हो गया था कि भारतीय बजट की समृद्धि यहाँ की कृषि पर ही निर्भर है। अतः सरकार ने कृषि की ओर अपनी सहानुभूति दृष्टि डालना प्रारम्भ कर दिया। एक ओर तो सरकारी नीति में परिवर्तन हुआ और दूसरी ओर इस समय तक इंगलैंड की औद्योगिक क्रान्ति का प्रभाव भी पूर्णतया भारत पर पड़ रहा था। बड़ी बड़ी मशीनों के द्वारा उत्पादन करने वाले उद्योगों की जहाँ-तहाँ स्थापना होने लगी। विदेशी माल के मुकाबले देशी कुटीर उद्योगों में उत्पादित माल बाजार में न ठहर सका। कृषि उद्योग की पिछड़ी हुई दशा, कुटीर उद्योगों का ह्रास, गाँवों से लोगों का नगरों मे निरन्तर आना इत्यादि परिवर्तन प्रारम्भ हो गये। औद्योगिक क्रान्तिजनित परिवर्तनों के कारण हमारे देश के आर्थिक ढाँचे में भी बड़े बड़े परिवर्तन होने लगे। १८५७ की क्रान्ति ने अंग्रेजों को यह स्पष्ट रूप से आभास दिला दिया कि जनता की भावनाओं के साथ खिलवाड़ नहीं किया जा सकता और बिना कृषकों की असतोष की भावना को निर्मूल नष्ट किए अंग्रेजी शासन की नींव दृढ़ नहीं की जा सकती है। इसके अतिरिक्त शासन को नियमपूर्वक चलाने के लिए आवागमन के साधनों के विकसित करने की समस्या का भी प्रादुर्भाव हुआ। परिणामस्वरूप सरकार की कृषि नीति में परिवर्तन हुआ और साथ ही साथ आवागमन के साधनों में भी पर्याप्त वृद्धि होने लगी। इन परिवर्तनों के कारण भारतीय कृषि में भी परिवर्तन होना स्वाभाविक ही था। इन परिवर्तनों की मुख्य मुख्य बातों का वर्णन निम्नलिखित है।

गाँवों की स्वावलम्बिता का ह्रास

यातायात के साधनों में वृद्धि हुई। विदेशी माल के बाजार में प्रचुर मात्रा में होने के कारण लोगों की नवीन आवश्यकताएँ बढ़ीं और ग्रामीण जनता ग्रामों से नगर की ओर जाने लगी। इन सबका परिणाम यह हुआ कि गाँवों की स्वावलम्बिता और आर्थिक सगठन छिन्न भिन्न हो गया। ग्रामीण जनता वस्तुओं का क्रय-विक्रय अन्य स्थानों से करने लगी। आवागमन के साधनों के विकसित हो जाने के कारण ग्रामवासी समस्त विश्व से सम्पर्क स्थापित करने में सफल हो सके। वे वस्तुएँ जो केवल शहरवासियों के लिये ही सुलभ थीं ग्रामवासियों की दैनिक आवश्यकता की वस्तुएँ बन गईं। कृषक केवल उन वस्तुओं का उत्पादन करने लगा जो उसके लिये आर्थिक दृष्टि से लाभकारी थीं और अपनी दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुओं को अन्य स्थानों से क्रय करने लगा और इस प्रकार दूसरों पर आत्म निर्भर रहने लगा। वस्तुओं के क्रय विक्रय में प्रतियोगिता होनी प्रारम्भ हो गई। प्रतियोगिता के कारण वस्तुओं के मूल्य में बहुत परिवर्तन होने लगे। अब मूल्य स्थानीय नहीं रहा, वरन् समस्त ससार में प्रचलित मूल्य से प्रभावित होने लगा।

सयुक्त परिवारों का विघटीकरण

पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क में आने के कारण और पाश्चात्य नियमों के चालू हो जाने के कारण लोगों में स्वार्थ बुद्धि की प्रेरणा मिली। नए-नए अँग्रेजी कानूनों के द्वारा भी इस भावना को प्रोत्साहन मिला। अत सयुक्त परिवार छिन्न-भिन्न होने लगे। निधनता एव यातायात के साधन की उपलब्धता के कारण ग्रामीण जनता अपने घर छोड़ छोड़कर जीविकोपार्जन करने के लिए अपने गाँवों को छोड़कर दूसरे स्थानों को जाने लगी और इस प्रकार भी सयुक्त परिवारों का सगठन बहुत कुछ शिथिल हो गया।

वस्तु विनिमय के स्थान पर द्रव्य (Money) विनिमय

वस्तु विनिमय के स्थान पर अब द्रव्य विनिमय को प्रोत्साहन मिलने लगा। लगान भी द्रव्य में ही लिया जाने लगा। वस्तुओं के बाजार अब बहुत दीर्घकाय तथा विस्तृत हो गए। अत द्रव्य विनिमय की आवश्यकता पड़ी। वस्तु विनमय धीरे धीरे समाप्त होने लगा तथा द्रव्य विनमय का प्रचलन शीघ्रता से होने लगा। इसका एक महत्वपूर्ण प्रभाव यह भी हुआ कि कृषि का व्यापारीकरण हो गया अर्थात् कृषि का उद्देश्य कृषि वस्तुओं को बेच कर लाभ कमाना हो गया। आवागमन के साधनों में विकास होने के कारण बाहर से वस्तुओं का आदान प्रदान बढ़ जाना स्वाभाविक ही था। ऐसी अवस्था में वस्तु विनिमय सम्भव नहीं हो सकता था। अत द्रव्य विनिमय का होना

अनिवार्य हो गया। खेतों का लगान, श्रमिकों की मजदूरी एवं वस्तुओं का क्रय विक्रय सभी मुद्रा में होने लगा।

यातायात, सिंचाई एवं कृषि-विज्ञान की उन्नति

यातायात के साधन पर्याप्त मात्रा में विकसित हुए। रेलवे व मोटरकार इत्यादि का प्रयोग होने लगा। सड़कें बनाई गईं। देश का प्रत्येक स्थान एक दूसरे से सम्बन्धित हो गया। सामुद्रिक यातायात के उपलब्ध होने के कारण देश का सम्पर्क विश्व के अन्य प्रगतिशील देशों से हो गया। सिंचाई के साधनों में भी पर्याप्त वृद्धि हुई तथा कृषि में वैज्ञानिक आविष्कारों तथा खोजों का प्रयोग होना प्रारम्भ हो गया। बैंकों और सहकारी समितियों का प्रचार हुआ और कृषि उद्योग को आर्थिक सहायता सुगमता से उपलब्ध होने लगी। यातायात के साधनों एवं सिंचाई के साधनों में वृद्धि होने के कारण कृषि एवं कृषकों की दशा में सुधार हुआ तथा देश की सुप्त प्राकृतिक साधनों का विकास सम्भव हो सका। इस प्रकार इन सबका देश के आर्थिक विकास पर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा।

कृषि का व्यापारीकरण होना

इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति के प्रभाव, रेलों एवं सड़कों के निर्माण, स्वेज नहर के निर्माण, सवाद के साधनों का विकास तथा अमरीकी गृहयुद्ध के फलस्वरूप भारतीय कृषि का व्यापारीकरण हुआ अर्थात् कृषि कार्य व्यापारिक उद्देश्य से किया जाने लगा। कृषि में उत्पादित वस्तुयें ससार के सुदूर देशों में जाकर बिकने लगी। भारत का विदेशी व्यापार बढ़ा और भारतवर्ष विश्व के कच्चे माल के निर्यात करने वाले देशों में एक प्रमुख देश बन गया। भारत के कच्चे माल जैसे रुई, जूट, तेलहन, कहवा, और चाय के लिए बहुत बड़ा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक क्षेत्र उपलब्ध हो गया। सन् १८५९ से १८६४ तक इंग्लैण्ड के लिए भारत की रुई का निर्यात ५,०६,६६५ गाँठों से बढ़ कर १४,००,००० गाँठें हो गया था। रुई का भाव भी काफी बढ़ गया था। भारत से गेहूं और चावल भी निर्यात किया जाने लगा। इस प्रकार हमारे देश की कृषि वस्तुएँ दो वर्गों में बँट गई—(क) खाद्य वस्तुएँ और (ख) व्यापारिक वस्तुएँ। सिंचाई के साधनों में पर्याप्त वृद्धि के कारण भारतीय कृषकों को व्यापारिक फसलों के उत्पादन में बहुत सहायता मिली। इस सुविधा के कारण उत्पादन व्यय भी कम होने लगा। विश्वव्यापी बाजार में इन वस्तुओं की माँग होने के कारण, व्यापारिक फसलों के बेचने पर अधिक लाभ भी होने लगा। इन सबका परिणाम यह हुआ कि भारतीय कृषक क्रमश: व्यापारिक फसलों की ओर अधिक आकृष्ट होने लगा। अब वह केवल अपने ग्राम का ही उत्पादक नहीं था वरन् समस्त ससार का उत्पादक बन चुका था। डा० बलजीत सिंह ने ठीक ही लिखा है—

"A village is, however, no longer isolated, and marketing has become an integral part of the farmer's job. Commercialization of agriculture in the sense of its organization as a business is nowhere to be found except on the industrial plantations, but the ordinary cultivator has been obliged to grow more for commerce Unlike his forefathers, an Indian cultivator today is both a farmer and a dealer"

भूमि की मालगुजारी का निश्चित किया जाना

सन् १८५७ के पश्चात् सम्पूर्ण भारत की कृषि भूमि की नाप तथा उपजाऊ शक्ति के आधार पर उसका लगान निश्चित किया गया। विभिन्न प्रदेशों की कृषि भूमि स्थायी, महलवारी, जमींदारी तथा रैयतवाड़ी लगान व्यवस्था के अन्तर्गत कर दी गई। कृषकों के हितों की रक्षा के लिए कृषि अधिनियम बनाए गए। इन सब कार्यों का प्रभाव यह हुआ कि कृषि की दशा बहुत कुछ पहले की अपेक्षा सुधरी और कृषि उद्योग एवं लाभकारी उद्योग माना जाने लगा परन्तु भूमि वितरण एवं व्यवस्था के दूषित होने के कारण कृषि की उन्नति से प्राप्त लाभ कृषक को न मिलकर मध्यस्थों के हाथों में ही केन्द्रित होने लगा। सन् १८५७ के उपरान्त जब ब्रिटिश शासन की नींव दृढ़ हो गई तब समस्या जनता द्वारा अधिक कर वसूल करने की उत्पन्न हुई। सरकार बिना करों के अपनी शासन व्यवस्था ठीक प्रकार से नहीं चला सकती थी। भारतीय बजट मानसून पर निर्भर है, केवल इसीलिये कहा जाता है कि यहाँ की अधिकांश जनता कृषि पर ही निर्भर है और राजकीय कोष का अधिक भाग इन्हीं कृषकों से कर के रूप में आता है। यदि कृषि की दशा अच्छी होगी तो कर भी अधिक मात्रा में वसूल किये जा सकते हैं, अन्यथा नहीं। इसके अतिरिक्त भारतीय कृषि पर इङ्गलैण्ड की कच्चे माल की प्राप्ति निर्भर थी। यही नहीं कृषकों की दरिद्रता एवं असन्तोष की भावना ब्रिटिश राज्य की नींव दृढ़ करने में बाधक थे। परिणाम स्वरूप कृषकों की दशा सुधारना विदेशी सरकार का प्रथम कर्तव्य हो गया। उनको शोषण से बचाने के लिए एवं अपनी आय में पर्याप्त वृद्धि करने के उद्देश्य से मालगुजारी का निश्चित करना आवश्यक हो गया।

कृषि भूमि का छोटे छोटे टुकड़ों मे खण्डन एवं उपखण्डन

औद्योगिक क्रान्ति के प्रभाव, भूमि के मूल्य में वृद्धि, पाश्चात्य देशों से प्राप्त व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना की वृद्धि, जनसंख्या की वृद्धि, कुटीर उद्योगों के ह्रास तथा ऋणग्रस्तता इत्यादि कारणों से हमारे देश की कृषि भूमि तेजी के साथ छोटे छोटे टुकड़ों में विभाजित होने लगी तथा एक व्यक्ति के अधिकार में रहने वाले टुकड़े

एक-दूसरे से पर्याप्त दूरी पर स्थित हो गए। भूमि उपखण्डन तथा उनके छितरे होने की समस्या आगे कृषि की प्रमुख समस्याओं के वर्णन में विस्तृत रूप से की गई है।

कृषि-मजदूरों के वर्ग का प्रकट होना

औद्योगिक-क्रान्ति के प्रभाव के फलस्वरूप गावों की स्वावलम्बिता नष्ट हो गई। देश के मशीन उद्योगों ने कुटीर उद्योगों को नष्ट कर दिया। अतः फलस्वरूप गावों में एक भूमि-हीन कृषि-मजदूर वर्ग उत्पन्न हो गया। ये लोग या तो नगरों में जाकर मशीन उद्योगों में कार्य करने लगे या जमींदारों तथा बड़े-बड़े किसानों के यहाँ मजदूरी पर कार्य करने लगे। खेतिहर मजदूरों के वर्ग की दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई। कृषि-मजदूरों का धनी कृषकों द्वारा बुरी तरह शोषण किया जाने लगा। आज भी हमारे देश में कृषि मजदूरों की समस्या एक जटिल समस्या बनी हुई है।

भूमि का वास्तविक खेतिहरों के हाथों से निकल कर महाजनों आदि के हाथ में आ जाना

भारतीय कृषक की अशिक्षिता के कारण पूँजीपतियों ने उनका शोषण प्रत्येक रूप से किया। जमींदारों ने अत्यधिक लगान लेकर एवं महाजनों ने अत्यधिक ब्याज पर ऋण देकर निरीह किसानों को दरिद्रता के सागर में डुबो दिया। अशिक्षता के कारण ही कृषक बढ़ते हुए कृषि-पदार्थों के मूल्यों से कोई भी लाभ न उठा सके। कृषि में किसी प्रकार के स्थायी सुधार न होने के कारण कृषि उपज में भी निरन्तर ह्रास होता गया। परिणामस्वरूप खेतों को रेहन रखकर ही कृषक ऋण लेने लगा। ऋण का अदा करना ऐसी दुरूह परिस्थितियों में उनकी क्षमता के बाहर था और साहूकार के ब्याज के कारण तो और भी कठिन हो गया। इस प्रकार उनकी भूमि क्रमशः साहूकारों के पास जाने लगी जो स्वय खेती नहीं करते थे और वास्तविक कृषक केवल भूमिहीन कृषि श्रमिक ही रह गया। इसका प्रभाव कृषि उत्पादन के ह्रास में और भी अधिक पड़ना स्वाभाविक ही था। कृषि उद्योग के निरन्तर अवनति की ओर अग्रसर होने का यही मुख्य कारण रहा है क्योंकि स्थायी अधिकार न होने के कारण वास्तविक कृषकों ने भूमि पर स्थायी सुधार करने की तरफ ध्यान नहीं दिया जिसके कारण भूमि की उर्वरा शक्ति में निरन्तर ह्रास होता चला गया।

अकाल की प्रकृति में अन्तर

आवागमन के साधनों में विकास होने के कारण अकाल की प्रकृति ही बिल्कुल बदल गई। प्राचीन समय में रेलों तथा सड़कों के अभाव में एक स्थान से दूसरे स्थान पर खाद्यान्न भेजना अत्यन्त कठिन कार्य था। यही कारण रहा कि प्राचीन समय में

जब दक्षिण भारत में अकाल पड़ता था तब उत्तरी भारत में खाद्यान्न का आधिक्य रहता था, परन्तु ऐसा होते हुए भी एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में गल्ला न भेज सकने की कठिनाई के कारण लाखों व्यक्ति भूख से व्याकुल होकर काल के गाल में चले जाते थे। परन्तु अब आवागमन के साधनों में पर्याप्त विकास हो जाने के कारण खाद्यान्न न केवल एक राष्ट्र के विभिन्न स्थानों से वरन् विश्व के किसी कोने से भी उपलब्ध किया जा सकता है बशर्ते कि उसका मूल्य भुगतान करने की क्षमता हो। अतः अब अकाल खाद्य सामग्री के अभाव का प्रतीक न होकर, देशवासियों की क्रय शक्ति के अभाव का प्रतीक बन गया।

कुटीर उद्योग धन्धों की अवनति एवं असंतुलित आर्थिक विकास

आवागमन के साधनों में सुधार हुआ एवं ब्रिटिश शासकों की स्वतंत्र व्यापारिक नीति के फलस्वरूप भारतीय कुटीर उद्योगों को इङ्गलैंड के विशालकाय उद्योगों से प्रतियोगिता में अपना अस्तित्व खोना पड़ा। इन बड़े-बड़े उद्योगों की प्रतियोगिता में भारत के छोटे उद्योग अधिक समय तक न टिक सके और भारत अपने अतीत के कला-कौशल के गौरव को खो बैठा। श्री आर० सी० दत्त के शब्दों में—

"इङ्गलैंड में मशीन से चलने वाले करघे के आविष्कार ने भारतीय उद्योगों के पतन को सम्पूर्ण कर दिया।"

इन उद्योगों के विनाश के कारण भारत पूर्णतया कृषिप्रधान देश रह गया और यहाँ का आर्थिक विकास असंतुलित हो गया। इसके अतिरिक्त इन उद्योगों की विस्थापित जनसंख्या के लिए कृषि के अतिरिक्त कोई और साधन न था। परिणाम स्वरूप जनसंख्या का भार भूमि पर और अधिक बढ़ गया। कृषकों की आर्थिक दशा और बिगड़ने लगी। उनके पास अपने आर्थिक विकास का कोई अन्य साधन न रह गया। भारत प्रमुख रूप से कच्चे माल का निर्यात करने वाला देश बन गया और यहाँ के औद्योगिक विकास का मार्ग अवरुद्ध हो गया।

सरकारी कृषि नीति

सन् १८५७ तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासनकाल में किसी भी प्रकार की स्थायी कृषि नीति नहीं अपनाई गई। १८५७ के उपरान्त भारत का शासन इङ्गलैंड की सरकार के द्वारा होने लगा। तभी से जनता की आर्थिक समस्याएँ सरकार का ध्यान आकर्षित कर सकीं। सरकारी नीति के कारण इस काल में कृषि की पर्याप्त उन्नति हुई। यदि इसे कृषि के पुनर्निर्माण का काल कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी। इस काल में हमारे देश में बड़े बड़े भयंकर दुर्भिक्ष भी पड़े जिनसे कृषि की उन्नति की आवश्यकता की अनिवार्यता से सरकार पूर्णतया परिचित हो गई। दुर्भिक्ष

कमीशनें नियुक्त की गईं जिनका विस्तृत वर्णन आगामी अध्याय में 'भारत में अकाल की समस्या' के अन्तर्गत किया गया है। इन कमीशनों ने कृषि की उन्नति के पर्याप्त सुझाव दिए परन्तु भारत सरकार ने कृषि में सुधार करने का कोई ठोस कदम नहीं उठाया और करीब-करीब १० वर्ष केवल सम्मेलन बुलाने एवं वस्तु-स्थिति की जांच करने में व्यतीत हो गए। १८६६ के लगभग भारत सरकार ने कृषि-विभाग की स्थापना की। १६०४ में कृषि को पूँजी प्राप्त कराने तथा कृषकों की आर्थिक दशा के सुधारने के उद्देश्य से सर्वप्रथम सहकारिता अधिनियम बनाया गया जिसका संशोधन सन् १६१८ में किया गया और सहकारिता आन्दोलन का क्षेत्र विस्तृत कर दिया गया। सन् १६०५ में इम्पीरियल तथा प्रान्तीय कृषि विभागों की स्थापना हुई। १६०६ में भारतीय-कृषि सेवा का संगठन किया गया। इसके अतिरिक्त कृषि उन्नति के विषय में विचार-विमर्श के लिए कई सम्मेलन इत्यादि बुलाए गए। कृषि-अनुसंधान तथा खोज करने के भी प्रयत्न किये गये तथा कृषि शिक्षा की भी व्यवस्था की गई। इस प्रकार सन् १८५७ के उपरान्त बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशकों तक के समय में कृषि उद्योग में सुधार हुए और सरकार द्वारा प्रयत्न भी किए गए, परन्तु कृषि विकास एवं इसके नवीनीकरण करने की राष्ट्र व्यापी ठोस योजना नहीं बनाई जा सकी। प्रान्तीय सरकारों ने कृषि अनुसंधान तथा सुधार के निमित्त कुछ छुटपुट प्रयत्न अवश्य किये किन्तु रायल कमीशन के मतानुसार—

"यह समस्या जिसका उन्हें सामना करना पड़ रहा था, उसका रूप इतना गंभीर था कि कुछ भी करना उनके लिये कठिन हो रहा था। न तो उनके पास दक्ष कर्मचारी ही थे और न अपनी सिफारिशों को मनवाने के लिये उनके पास कोई संगठन ही था।"

इसका परिणाम यह हुआ कि साधारण कृषकों की आर्थिक दशा में सुधार नहीं हुआ तथा अधिक उत्पादन एवं उससे प्राप्त लाभों का केन्द्रीयकरण मुख्यतः मध्यस्थ वर्गों के हाथ में हुआ। इसके अतिरिक्त औद्योगिक क्रान्ति के प्रभाव के फलस्वरूप उत्पन्न अनेक कृषि समस्याएँ उत्पन्न हो गईं जिन्होंने कृषि सुधार कार्य को अत्यन्त जटिल बना दिया। परिणामस्वरूप भारतीय कृषि आज भी अपने उन्हीं रास्तों पर चली आ रही है जिन पर वह शताब्दियों से चल रही थी। कृषकों का वही संकीर्ण दृष्टिकोण, उनकी गरीबी, उनका संगठन, उनके उत्पत्ति के तरीके तथा उनकी प्रति एकड़ उपज सभी में कुछ विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। इतना अवश्य हुआ कि भारतीय कृषक जहाँ पहले खाद्य पदार्थों का ही उत्पादन करता था वहाँ अब व्यापारिक फसलों की माँग के कारण इनका भी उत्पादन करने लगा जिससे उसकी आय में कुछ वृद्धि अवश्य हुई। परन्तु भारतीय कृषि एवं कृषकों का मूल ढाँचा वैसा ही बना रहा। अंग्रेजी

शासन में तो देश की अर्थ-व्यवस्था असन्तुलित होती चली गई क्योंकि विदेशी सरकार की शोषण नीति के फलस्वरूप हमारे देश की औद्योगीकरण की गति बहुत ही मन्द रही और खेतों पर ही अधिकाधिक लोग निर्भर रहने लगे। परिणामस्वरूप कृषि अविकसित और हीन होती गई, पैदावार गिरती चली गई और अलाभकर आराजियों पर बहुत अधिक मानव श्रम नष्ट होने लगा। भूमि खेती न करने वाले मालिकों के हाथ में जा पहुँची जो केवल लगान वसूल करने में ही दिलचस्पी रखते थे और इस प्रकार भूमिहीन खेतिहरों की संख्या बेतरह बढ़ती चली गई। ऋण-ग्रस्तता और भी अधिक बढ़ने लगी। भारत का मुख्य उद्योग कृषि भी एक पिछड़ा उद्योग रह गया, अन्य उद्योगों की प्रगति का तो प्रश्न ही नहीं। यही कारण है कि वीरा एन्सटे (Mr Vera Anstey) ने लिखा है—

"The crumbling of the authority of caste, the loosened bonds of religion, the adoption of the western 'Economic outlook' and acceptance of western methods and ideals have as yet affected only a tiny percentage of the people. The masses undoubtedly still live in the material surroundings and retain the social outlook of mediaevalism."

परन्तु विदेशी सत्ता की शृङ्खलाओं के टूट जाने के उपरांत भारत अपने निर्माण के पथ पर शीघ्रता से चल पड़ा है। भारतीय कृषकों के जीवन में नवीन चेतना एवं जागृति का प्रादुर्भाव हो चुका है। आवागमन के साधनों में विकास, बहुमुखी सिंचाई योजनाओं, भूमि व्यवस्था में सुधार, सामुदायिक योजनाओं एवं कृषि में वैज्ञानीकरण के कारण आज भारतीय ग्राम्य जीवन नवीन आशा की किरण से जगमगा उठा है। अब भारतीय कृषक अपनी भूमि का स्वयं मालिक एवं अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है। उसकी आर्थिक शृङ्खलाएँ क्रमशः शिथिल होती जा रही हैं और वह स्वतन्त्रता की स्वर्णिम आभा से प्रदीप्त उल्लास एवं उत्साह के मध्य अपने नव-निर्माण के पथ पर अग्रसर हो रहा है। साथ ही साथ भारत का औद्योगिक विकास भी निरन्तर प्रगति की ओर जा रहा है। इस प्रकार संतुलित अर्थ-व्यवस्था का शिलान्यास हो चुका है और कृषि अर्थ व्यवस्था में संक्रमण-काल का अन्त स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने लगा है। निःसन्देह वह समय दूर नहीं जब भारतीय कृषि पुनः अपने अतीत के गौरव को प्राप्त कर सकेगी और भारतीय जनजीवन नवीन आभा से पुनः प्रदीप्त हो उठेगा।

५

भारत में अकाल

(Famines in India)

ऐतिहासिक सिंहावलोकन

भारतीय आर्थिक विकास का इतिहास प्रलयकारी एवं वीभत्स अकालों का इतिहास है। वास्तव में इन अकालों में अपार नरसंहार एवं मानव की दयनीय स्थिति का वर्णन करने में लेखनी काँपने लगती है, हृदय रोमांच से भर उठता है और मानव विवेकशून्य हो जाता है। हमारे राष्ट्र का प्रमुख उद्योग कृषि, जिस पर सम्पूर्ण देश का जन जीवन निर्भर है, मानसून की वर्षा का जुआँ है। सिंचाई के साधनों के अविकसित होने के कारण, भारतीय कृषि का भाग्य सदैव वर्षा पर निर्भर रहा है और मानसून की अनिश्चितता के कारण अनावृष्टि एवं अतिवृष्टि दोनों का ही शिकार होता रहा। परिणामस्वरूप प्रकृति का विनाशकारी ताण्डव नृत्य अकाल के रूप में भारत के वक्षस्थल पर सदैव होता रहा और भारतीय अर्थ-व्यवस्था अस्त व्यस्त होती रही। इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारत में स्वाभाविक रूप से अकाल प्रति पाँच वर्ष बाद एवं बड़े अकाल प्रति दस वर्ष उपरान्त दृष्टिगोचर होते रहे हैं। इन अकालों में खाद्यान्न के अभाव के साथ ही साथ चारे की कमी हो जाने के कारण पशुओं का संहार भी लाखों की संख्या में प्रारम्भ हो जाता था। अकाल के प्रादुर्भाव होने पर छूत की बीमारियों का प्रकोप भी बड़ा उग्र रूप धारण कर लाखों मनुष्यों को काल के गाल में ले जाता था। आवागमन के साधनों के अविकसित होने एवं सिंचाई के साधन उपलब्ध न होने के कारण भारतीय कृषक इन अकालों से अपनी सुरक्षा करने में असमर्थ था और परिणाम स्वरूप अकालों को दैवी प्रकोप समझ कर उनके समक्ष आत्मसमर्पण करने एवं भाग्य पर निर्भर रहने के लिए विवश हो गया। अत्यन्त प्राचीन काल का इतिहास अपूर्ण है, अतः अकालों का सत्य वर्णन उपलब्ध नहीं है। जो कुछ भी इस विषय पर वर्णन प्राप्त होता है वह परम्परागत दन्त-कथाओं पर आधारित है। इतिहास के अनुसार सर्वप्रथम अकाल का वर्णन ६५० ई० में मिलता है जिसने सम्पूर्ण देश को आक्रान्त कर डाला था। इसके उपरान्त सन् ६४१, १०२२, १०३३, ११४८ एवं ११५६ ई० में भी अकालों का वर्णन मिलता है। सन्

१३४४ में मुहम्मद तुगलक के शासन काल में उत्तरी भारत मे बहुत बड़ा अकाल पड़ा था जिसमे राज्य परिवार को ही खाद्यान्न उपलब्ध न हो सकने के कारण दिल्ली छोड़कर दकन में देवगिरी स्थान पर जाना पड़ा था।

सन् १६३० मे गुजरात का भीषण दुर्भिक्ष पड़ा। इसका विस्तृत विवरण इतिहास मे मिलता है। एक डच व्यापारी वान ट्विस्ट (Van Twist) ने इसका वर्णन निम्न शब्दों मे किया है—

"The corpses at the corner of the streets lie twenty together, no bodyburying them Thirty thousand had perished in the town alone

औरगजेब के शासन काल मे अकाल का वर्णन करते हुए अमीन रिजवनी (Amin Razwiny) ने लिखा है—

'Life was offered for a loaf but none would buy, rank was sold for a cake, but none cared for it For a long time dog's flesh was sold for goat's flesh..Men began to devour one another and the flesh of a son was preferred to his love."

इसी प्रकार एक अन्य अकाल का वर्णन करते हुए एडवर्ड टामस (Edward Thomas) ने लिखा है—

"The roads were beginning to be lined with living skeletons, pondering processions drifting aimlessly, anywhere, they did not know where Tormented by hunger every one thought only of his belly and forgot in his misery love for his wife, affection for his children and tender regard for his parents"

इस प्रकार के वीभत्स अकाल सन् १६०० तक पड़ते रहे जिनका रोमाचकारी दृश्य शब्दों द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता। इन अकालों का सक्षिप्त वर्णन निम्न लिखित सचेपिका से सरलतापूर्वक हृदयगम किया जा सकता है—

वर्ष	स्थान	टिप्पणी
१७६६–७०	बगाल	१ करोड़ व्यक्तियों की मृत्यु
१७८४	बगाल तथा उत्तरी भारत एव मद्रास	
१७६०–६२	दक्षिणी भारत	अत्यन्त भीषण था।
१८१३	बम्बई	
१८२३ और	मद्रास	
१८३७	उत्तरी भारत एव देशव्यापी	अत्यन्त भीषण, करोड़ों व्यक्ति मरे।

श्री० आर० सी० दत्त ने १८३७ के इस अकाल का उल्लेख करते हुए लिखा है—

"मृत्यु संख्या असंख्य एवं अगणित थी। कानपुर में एक विशेष सैनिक टुकड़ी सड़कों तथा नदी का मृत लाशों को हटाने के लिए लगाती थी। सुदूर गाँवों में तो सहस्रों की संख्या में लोग मर गये जिनके विषय में न तो कोई ज्ञान पाया और न कोई उनका प्रबन्ध कर सका। सड़कों पर लाशें बिना जली और बिना दफनाई हुई तब तक पड़ी रहती थीं जब तक कि आकर उन्हें जंगली जानवर नहीं खा जाते थे।"

१८३८	उत्तरी भारत	८ लाख व्यक्ति मरे।
१८६०	उत्तरी भारत	१३० लाख व्यक्ति मरे।
१८६५–६७	उड़ीसा	लगभग ४½ करोड़ व्यक्ति पीड़ित हुए।
१८७७	मद्रास	

सन् १८७७ के इस अकाल का वर्णन इबिद (Ibid) के शब्दों में—

'Large villages were depopulated Vast tracts of country were left uncultivated and five millions of people—The population of a fair sized country—perished in this Madras famine in one single year"

१८७८	उत्तरी भारत	मुख्यतः बिहार प्रान्त में अधिक विनाश हुआ।
१८९६–९७	बम्बई, मद्रास तथा मध्यप्रान्त	१० लाख व्यक्ति मरे।
१८९९–१९००	बम्बई, मध्यप्रान्त, हैदराबाद, और मध्यभारत	लगभग ६ करोड़ व्यक्ति प्रभावित हुए।

रमेश दत्त के शब्दों में—"मध्य प्रान्त तो बिल्कुल ही नष्ट हो गया। जिले के जिले उजड़ गये। हरे भरे खेत जंगल हो गये। कृषि एवं जनसंख्या दोनों ही कम हो गये।"

सन् १९०० के उपरान्त अकाल

सन् १९०० के उपरान्त ब्रिटिश सरकार द्वारा आवागमन के साधनों में विकास एवं सिंचाई के साधनों में वृद्धि के कारण अकालों की प्रकृति में परिवर्तन हो गया। अब अकाल का अर्थ खाद्यान्न की कमी नहीं वरन् जनता की क्रय शक्ति में कमी होना था। आवागमन के साधनों में वृद्धि के कारण सारा विश्व एक लड़ी में पिरो दिया गया और अन्य देशों से खाद्यान्न की कमी की पूर्ति सम्भव हो गई। इसके अतिरिक्त सरकारी अकाल निवारण नीति के कार्यान्वित होने के फलस्वरूप

अकालों की भीषणता म भी कमी आ गई। अन्न की पूर्ति एक स्थान से दूसरे स्थान को होने लगी। विदेशों से भी अन्न के आयात की सुविधा हो गई। सरकार की आमदनी कृषि पर ही निर्भर होने के कारण सरकार की नीति में भी परिवर्तन हुआ और कृषि सुधार की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। इन सब का परिणाम यह हुआ कि सन् १९०० से १९४२ तक छुटपुट अकाल पड़े तो अवश्य परन्तु वे प्राचीन समय के अकालों की तरह विनाशकारी नहीं रहे और विशेष जन हानि भी नहीं होने पाई। इस प्रकार विनाशकारी अकाल लोगों की स्मृति से निकल गये और केवल अतीत की कल्पना मे परिवर्तित हो गए। परन्तु सन् १९४३ में बगाल का भीषण दुर्भिक्ष पुन अपनी पूर्ण शक्ति के साथ प्रकट हुआ और हमारी आशाओं को मिट्टी में मिला दिया। सरकार की अकाल नीति पूर्ण रूप से असफल हो गई और देशवासियों को पुन दुर्भिक्ष के आतक और भीषणता का नग्न नृत्य खुली आँखों से देखना पड़ा। लगभग ३० लाख व्यक्ति काल के गाल में चले गए। अकाल के साथ ही साथ सक्रामक रोगों की भी बाढ़ आई और स्थिति और भी अधिक भयकर हो उठी। श्री जे० पे० मित्तल, अध्यक्ष बङ्गाल नेशनल चैम्बर आफ कामर्स, के शब्दों में—

ब्रिटिश साम्राज्य का सबसे बड़ा और दूसरा नगर कलकत्ता आज भूखे और नगे लोगों का शिकारगाह बन रहा है। कलकत्ते से भी अधिक दयनीय दशा आस पास के गाँवो की थी जहाँ गरीबी के कारण लोग अपने प्रियजनो की अन्तिम क्रिया भी नहीं कर सकते थे, इसलिए लाशों को नदी या नालो मे फेंक दिया जाता था। बङ्गाल की नई सुन्दर नदियाँ और नाले अपने अन्तस्तल मे भूखे और नगो को लिए चल रहे थे। गीदड़ो के लिए भोजन था, इसलिए कई सुन्दर चेहरे नोचे जाने के कारण पहचाने भी नहीं जाते थे।

भारत की जनता के लिए यह एक भीषण आघात था। इस लोमहर्षण घटना ने देशवासियों की आँखें खोल दीं और राष्ट्रव्यापी खाद्य-स्थिति को सुधारने के लिए प्रयत्न करने को बाध्य कर दिया।

बगाल दुर्भिक्ष के कारण

(क) बगाल के निवासियों का खाद्यान्न मुख्यत चावल था, परन्तु समस्त चावल के उत्पादन द्वारा केवल ८३% जनता का भरण पोषण हो सकता था अत लगभग पूर्ण आवश्यकता का १७% चावल ब्रह्मा से आयात किया जाता था। सन् १९४२ ई० में ब्रह्मा जापानियों के अधिकार में चला गया और वहाँ से चावल का आयात बन्द हो गया। फलत खाद्यान्न की कमी हो गई।

(ख) मिदनापुर जिले में चावल की फसल के कटने के समय भीषण आँधी और तूफ़ान आ गया जिससे १५ लाख टन चावल नष्ट हो गया।

(ग) दामोदर नदी में भीषण बाढ़ आई और दूसरे प्रान्तों से अन्न आने में यातायात की कठिनाई पड़ी। इसके अतिरिक्त द्वितीय महायुद्ध के कारण भारतीय यातायात के साधन युद्ध के कार्यों में व्यस्त रखे गए और यातायात के साधनों का अभाव हो गया। अतः बंगाल के अकाल-पीड़ितों के लिए खाद्यान्न नहीं पहुँचाया जा सका।

(घ) जापानियों के हमले के भय के कारण बङ्गाल में सरकार द्वारा अन्न खरीदने तथा एकत्र किए जाने की नीति के फलस्वरूप खाद्यान्न की कमी हो गई।

(ङ) चोरबाजारी तथा घूसखोरी का बोलबाला था। मुस्लिम लीग प्रान्तीय सरकार में अयोग्य एवं स्वार्थी व्यक्ति घुसे हुए थे जिससे सरकारी नियन्त्रण अत्यन्त निर्बल एवं असन्तोषजनक था।

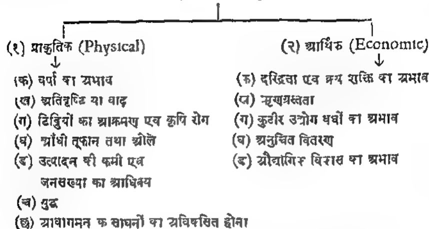
(च) जापानियों के हमले तथा युद्ध सम्बन्धी अफ़वाहों के कारण जनता पर मनोवैज्ञानिक कुप्रभाव पड़ा और उनका साहस नष्ट हो गया।

इस अकाल का मुख्य कारण सरकार की घातक नीति थी और इस कथन में अतिशयोक्ति न होगी कि *यह अकाल मानव द्वारा आयोजित अकाल था।* खाद्यान्न भारत में उपलब्ध था, परन्तु सरकार की अनुचित वितरण नीति के कारण बङ्गाल के निवासियों को उपलब्ध न हो सका। यही नहीं बङ्गाल तो अकाल से पीड़ित था और हमारी विदेशी सरकार खाद्यान्न का निर्यात विदेशों को कर रही थी। सरकार को द्वितीय महायुद्ध में विजयपताका फहराने के लिए यह आवश्यक ही था, भारतवासियों की दयनीय स्थिति से उनको सम्बन्ध ही क्या। ऐसी दशा में बङ्गाल का सामाजिक, आर्थिक एवं पारिवारिक जीवन छिन्न भिन्न हो जाना स्वाभाविक ही था।

सन् १९५० ई० में बिहार में अकाल पड़ा तथा सन् १९५१ में गुजरात, पंजाब, राजस्थान, अजमेर तथा मध्यप्रदेश में वर्षा के अभाव के कारण अकाल के लक्षण दृष्टिगोचर हुए। सन् १९५५ से वर्तमान वर्ष १९५६ में भी अति-वृष्टि के कारण उत्तरप्रदेश के *पूर्वी क्षेत्र अकालग्रस्त हैं।*

इस प्रकार यदि समय समय पर पड़े हुए अकालों की गति विधि का निरीक्षण किया जाय तो पता चलता है कि प्रत्येक शताब्दी के मध्य और अन्त में बहुत बड़े एवं विनाशकारी अकाल पड़ते रहे हैं। कम से कम भीषण अकाल प्रत्येक १० वर्ष और उनसे छोटे अकाल प्रत्येक ५वें वर्ष पड़ते हैं। यों तो प्रायः एक साल छोड़ कर प्रत्येक तीसरे वर्ष या तो अनावृष्टि होती और या अति-वृष्टि और इस प्रकार सम्पूर्ण देश में से कुछ क्षेत्र फसलों के न होने या नाश हो जाने के कारण खाद्यान्न के

अभाव से पीड़ित होते रहते हैं। यही भारतीय इतिहास में अकालों की दुख दर्द भरी कहानी है।



श्री रमेश दत्त के शब्दों में—

"भारत में दुर्भिक्ष प्रत्यक्ष रूप से वार्षिक वर्षा के अभाव में पड़ते हैं किन्तु इन अकालों की दुरूहता तथा इससे उत्पन्न मृत्यु संख्या का अधिकांश में कारण यहाँ के लोगों की दरिद्रता है। यदि साधारणतः लोगों की आर्थिक अवस्था अच्छी होती, तो वह पड़ोसी प्रान्तों से अनाज खरीद कर स्थानीय फसलों की क्षतिपूर्ति कर सकते थे और ऐसी अवस्था में मृत्युएं नहीं होतीं। किन्तु जब लोग नितान्त साधनहीन हैं तो वे आस पास के भागों से अनाज नहीं खरीद सकते। अतः जब कभी स्थानीय फसलें असफल रहती हैं, लोग सैकड़ों हजारों और लाखों की संख्या में नष्ट हो जाते हैं।"

अकालों के कारण मुख्यतः दो हैं—प्राकृतिक एवं आर्थिक। प्राकृतिक कारणों के अन्तर्गत वे सभी बातें आती हैं जिनसे प्रकृति के प्रकोप के कारण फसलें नष्ट हो जाती हैं और खाद्यान्न का अभाव हो जाता है। परन्तु आवागमन के साधनों के विकसित हो जाने के कारण खाद्यान्न की कमी की पूर्ति अन्य स्थानों से की जा सकती है, अतः आर्थिक परिस्थितियों के ठीक होने पर प्राकृतिक प्रकोप के कारण खाद्यान्न के अभाव की पूर्ति की जा सकती है और अकाल को रोका जा सकता है। इसलिए आर्थिक कारण भी आधुनिक युग के अकाल के महत्वपूर्ण कारण हैं जिनके अन्तर्गत वे सभी बातें आती हैं जिनके कारण मनुष्यों की आर्थिक स्थिति दयनीय होने के कारण अकाल की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

प्राकृतिक कारण

प्राकृतिक कारणों के अन्तर्गत निम्नलिखित बातें आती हैं —

वर्षा का अभाव

मारत मानसूनी वर्षा का प्रदेश है और ये मानसूनी सदैव अनिश्चित रहते हैं। सिंचाई के साधनों में विकास न होने के कारण भारतीय कृषि पूर्णरूप से वर्षा के हाथों में खिलौना है। वर्षा के अभाव में लाखों बीघे लहलहाती हुई खेती सूर्य की प्रचण्ड किरणों द्वारा जलकर भस्म हो जाती है। प्राय अकाल का मुख्य कारण वर्षा का अभाव रहा है। सन् १९०१ के दुर्भिक्ष आयोग के अनुसार—

"सभी प्रान्तों में वास्तव में क्रियात्मक सिंचाई के साधनों का अभाव ही नहीं है, किन्तु थोड़े रूप में भी कार्य नहीं हुआ है, अत पानी का संग्रह, बाँध बाँधना और नहरें निकालना आदि कार्यों का क्षेत्र विशाल है।"

अतिवृष्टि या बाढ़

अतिवृष्टि अथवा बाढ़ भी अकालों का दूसरा मुख्य कारण है। बाढ़ के कारण भी लाखों बीघे खेती नष्ट हो जाती है। भारत में सन् १९५० से १९५४ तक बाढ़ द्वारा बिहार, उत्तर प्रदेश, आसाम तथा पश्चिमी बंगाल में लगभग १३५ करोड़ रुपये की फसलों की हानि का अनुमान लगाया गया है। बाढ़ के कारण पकी हुई फसलें नष्ट हो जाती हैं और अकाल की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

टिड्डियों का आक्रमण एवं कृषि रोग

टिड्डियों के आक्रमण एवं कृषि रोगों के कारण भी फसलें नष्ट हो जाती हैं। टिड्डियों द्वारा तो गाँव के गाँव उजड़ जाते हैं। कृषि रोगों के कारण भी फसलों को अत्यधिक नुकसान पहुँचता है। इन फसलों की बर्बादी के कारण खाद्यान्न का अभाव हो जाता है।

आँधी, तूफान तथा ओले

आँधी, तूफान तथा ओलों द्वारा भी प्राय फसलें नष्ट हो जाती हैं। पाला पड़ने पर तो प्रत्येक वर्ष फसलों को बहुत ही अधिक नुकसान पहुँचता है। ऐसी स्थिति में खाद्यान्न का अभाव होना स्वाभाविक ही है।

उत्पादन की कमी एवं जनसंख्या का आधिक्य

भारत में निरन्तर जनसंख्या की वृद्धि भी खाद्यान्न की कमी का एक मुख्य कारण है। जनसंख्या की वृद्धि के साथ ही साथ राष्ट्र का उत्पादन प्रति एकड़ संसार में सबसे कम है। इसका मुख्य कारण कृषि उद्योग का पिछड़ा होना है। भारतीय कृषकों

की दरिद्रता, आधुनिक खेती के तरीकों का अभाव, आधुनिक खादों के प्रयोग का अभाव, कृषि में वैज्ञानीकरण की कमी, खेतों का उपविभाजित एवं उपखंडित होना एवं भूमि व्यवस्था का अनुचित होना आदि मुख्य कारण हैं जिनकी वजह से भारतीय कृषि में किसी प्रकार का सुधार संभव नहीं हो सका जिसके फलस्वरूप आज भी कृषि उद्योग अन्य उन्नतशील राष्ट्रों की अपेक्षा पिछड़ा हुआ है और, कृषि उत्पादन बहुत कम है। ऐसी अवस्था में खाद्यान्न की कमी होना स्वाभाविक ही है।

युद्ध

प्राचीन समय में युद्ध तथा लूट से भी अकाल की स्थिति उत्पन्न हो जाती थी। एक शासक द्वारा दूसरे शासक पर आक्रमण करने पर कृषि नष्ट कर दी जाती थी। वास्तव में आज भी युद्ध के विनाशकारी बादल जो सारे विश्व पर मंडरा रहे हैं बहुत कुछ खाद्यान्न की कमी के कारण हैं। प्रत्येक राष्ट्र अपनी सुरक्षा के लिए लाखों रुपये केवल युद्ध के सामान बनाने में व्यय करता है। भारत में भी वह व्यय कम नहीं, बल्कि विभाजन के फलस्वरूप यह बढ़ ही गया है। यदि यह धन राष्ट्र के विकास पर व्यय किया जाय तो इसमें सन्देह नहीं खाद्यान्न की कमी को बहुत बड़े अंशों में पूरा किया जा सकता है।

आवागमन के साधनों का अविकसित होना

भारत में आवागमन के साधनों का विकसित न होना भी अकालों का एक मुख्य कारण रहा है। इन साधनों के उपलब्ध न होने के कारण भारत में अन्य स्थानों पर खाद्यान्न उपलब्ध होते हुए भी लोगों को अकाल का सामना करना पड़ा।

आर्थिक कारण

दरिद्रता एवं क्रय शक्ति का अभाव

प्राचीन समय में तो खाद्यान्न का अभाव ही अकाल का मुख्य कारण रहता था क्योंकि आवागमन के साधनों का विकास न होने के कारण अन्य स्थानों से खाद्यान्न की पूर्ति सम्भव नहीं थी। परन्तु आज परिस्थितियाँ भिन्न हैं। खाद्यान्न की कमी की पूर्ति अन्य स्थानों तथा विदेशों से अन्न आयात करके की जा सकती है। ऐसी दशा में भारतीय जनसमूह की दरिद्रता एवं उनमें क्रय शक्ति का अभाव ही अकाल का मुख्य कारण कहा जा सकता है। भारतीय दरिद्रता सर्व विदित है। वास्तव में आज भारत विश्व में दरिद्रता का प्रतीक बन गया है। सन् १८६८ के दुर्भिक्ष आयोग का कथन है

"हम सोचते हैं कि भारत का अतिरिक्त उत्पादन विदेशों को भेज दिया

जाता है फिर भी इतना बच रहता है कि यहाँ के लिए पर्याप्त है। अत: यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि भारत मे अन्न का अकाल नहीं वरन धन का अकाल है।"

इस प्रकार भारत की निर्धनता एक कटु सत्य है क्योंकि यहाँ की विशाल जनसंख्या कृषि पर ही निर्भर है और यह उद्योग अपनी पतन की चरम सीमा पर पहुँच चुका है।

ऋणग्रस्तता

ऐसा कहा जाता है कि भारतीय कृषक ऋण में ही जन्म लेता है, ऋण में ही पलता है और ऋण का बोझ लेकर मरता है। भारत की दरिद्रता ही इसका मुख्य कारण है। महाजन एवं साहूकारों के चुंगल में एक बार फँस जाने पर भारतीय कृषक अपने को मुक्ति दिलाने में असमर्थ पाता है। ऋणग्रस्त होने के कारण उसकी आर्थिक स्थिति सदैव डाँवाडोल बनी रहती है। अकालों के अतिरिक्त भी सम्पन्नता की स्थिति में प्राय कृषकों की क्रय शक्ति खत्म रहती है जिसके परिणामस्वरूप सदैव खाद्यान्न की कमी बनी रहती है। अकालों में यह और भी अधिक भीषण रूप धारण कर लेती है। सन् १९०१ के दुर्भिक्ष आयोग के शब्दों में—

"अच्छे वर्षों मे किसान के पास जीवन निर्वाह योग्य सामग्री होती है, लेकिन खराब वर्षों मे वह दूसरा की दया पर ही निर्भर रहता है।

कुटीर उद्योग धधा का अभाव

प्राचीन समय में कुटीर उद्योग धधे भारतीय कृषकों के सकटकाल के अभिन्न एव विश्वासनीय मित्र थे। कुटीर उद्योगों के कारण कृषक अपनी आय में वृद्धि करने में सफल होता था और कृषि बर्बाद हो जाने पर इन उद्योगों के सहारे अपनी जीविका चला सकता था। इन उद्योगों के विनाश ने भारतीय कृषकों की आर्थिक स्थिति और भी दयनीय बना दिया। इन उद्योगों के अभाव में भूमि पर जनसंख्या का भार और भी अधिक बढ़ गया और परिणामस्वरूप खाद्यान्न की कमी दृष्टिगोचर होने लगी।

अनुचित वितरण

खाद्यान्न का अनुचित वितरण भी खाद्यान्न की कमी का एक मुख्य कारण है। भारतवर्ष में कृषक अपनी निर्धनता के कारण खाद्यान्न का सग्रह करने में असमर्थ रहता है। परिणामस्वरूप खाद्यान्न का भडार गृह पूँजी पति व्यापारियों का निवास स्थान होता है। ये व्यापारी अधिक मुनाफा उठाने के दृष्टिकोण से कृषकों की निर्धनता एव विवशता का अनुचित लाभ उठाते हैं। बढ़ते हुए मूल्यों के कारण साधारण जनता अन्न खरीदने में अपने को असमर्थ पाती है और परिणामस्वरूप अन्न का अभाव दृष्टिगोचर होने लगता है।

औद्योगिक विकास का अभाव

भारत में बड़े पैमाने के उद्योगों का विकास नहीं हुआ है और वह औद्योगिक दृष्टि से अत्यन्त पिछड़ा हुआ है। औद्योगिक विकास न होने के कारण भूमि पर जनसंख्या का भार अत्यधिक हो गया है। औद्योगिक विकास न होने के कारण यहाँ के लोगों की क्रय शक्ति भी बहुत कम है। अन्य राष्ट्रों से भी खाद्यान्न आयात करने में हमारा देश केवल इसीलिये असमर्थ रहा है कि विदेशी भुगतान की समस्या का समाधान नहीं हो सका। भारत में बेरोजगारी एवं निर्धनता का एक मात्र कारण यहाँ का औद्योगिक विकास न होना है। निर्धनता के कारण ही लोगों की क्रय-शक्ति कम हो गई है और खाद्यान्न उपलब्ध होने पर भी वे उसको नहीं ख़रीद सकते। यदि लोगों को नियमित उद्यम मिलता रहे जिससे वे पैसा उत्पन्न करके अनाज ख़रीद सकें तो आजकल दुर्भिक्ष ही न पड़े।

अकाल निवारण के उपाय

अकालों से पूर्ण रक्षा के लिए दो बातों की आवश्यकता है। प्रथम तो ऐसे उपाय काम में लाये जायें जिनसे अकाल का प्रादुर्भाव ही न हो और दूसरे वे उपाय जिनके द्वारा यदि अकाल पड़ भी जाय तो उसका प्रकोप एवं भीषणता उग्र रूप धारण न कर सके और इस प्रकार अकाल से होने वाली जन हानि एवं धन हानि को रोका जा सके। इस प्रकार अकाल निवारण के उपायों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) प्रतिबंधक उपाय (Preventive Measures)

(२) रक्षात्मक उपाय (Protective Measures)

प्रतिबंधक उपाय

वास्तव में जो कारण दुर्भिक्ष के हैं यदि उन पर विजय प्राप्त कर ली जाय अथवा उनको समाप्त कर दिया जाय तो अकाल का निवारण स्वाभाविक ही है। इसके लिए कृषि का सर्वाङ्गीण विकास नितान्त आवश्यक है। सिंचाई की पर्याप्त व्यवस्था, भूमि सुधार एवं व्यवस्था, कृषि में वैज्ञानिक तरीकों का प्रयोग, बाढ़ से सुरक्षा एवं फसलों का रोगों एवं टिड्डियों तथा अन्य जंगली पशुओं द्वारा रक्षा कृषि की उन्नति में अत्यन्त सहायक सिद्ध होंगे। यातायात के साधनों में पर्याप्त विकास भी इतना ही आवश्यक है।

देशवासियों की क्रय शक्ति में वृद्धि करने के लिए उनकी जघन्य दरिद्रता को मिटाना भी अत्यन्त आवश्यक है। इस दिशा में कुटीर उद्योग धन्धों का विकास, कृषकों को ऋण से छुटकारा, खाद्यान्न के उचित वितरण की व्यवस्था एवं राष्ट्र का

औद्योगिक विकास बहुत सफलता प्रदान कर सकते हैं। वास्तव में जनता की क्रयशक्ति में वृद्धि ही आज के युग में खाद्यान्न के अभाव को दूर करने का प्रथम एवं आधार-भूत उपाय है।

रक्षात्मक उपाय

अकाल के रोकने के भरसक प्रयत्नों को कार्यान्वित करने के उपरान्त भी खाद्यान्न की कमी की समस्या उत्पन्न होने की सम्भावना नष्ट नहीं होती। अतः खाद्य-सङ्कट से सुरक्षा के लिए रक्षात्मक उपायों का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इसके अन्तर्गत अन्न के व्यापार का नियंत्रण, पशु-रक्षा, कृषकों को औषधियों की सुविधाएँ, लगान की छूट, तकावी ऋणों की व्यवस्था, जन-सेवा कार्यों का संचालन जैसे नहरें, तालाब आदि खुदवाना, किसानों को उत्तम बीज, खाद एवं औजार इत्यादि का प्रबंध करना एवं गरीब व असहाय व्यक्तियों के लिए गरीब गृहों की व्यवस्था आदि शामिल हैं। इन उपायों द्वारा अकाल की भीषणता को रोका जा सकता है और लोगों को राहत प्रदान की जा सकती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अकाल के भूत को सदैव के लिए भगाने के लिए ग्राम सुधार की वृहद् योजना ही मूल मंत्र है। अकाल निवारण के लिए कोई एक उपाय नहीं है। उपर्युक्त दोनों ही प्रकार के विभिन्न प्रतिबंधक एवं रक्षात्मक उपायों द्वारा ही अकाल से सुरक्षा मिल सकती है। डा० राधा कमल मुकर्जी के शब्दों में—

"भारतीय अकाल समस्या का प्रश्न उन गम्भीर भयानक परिस्थितियों से सम्बन्धित है, जिसके अन्तर्गत वर्षा का अभाव, साधनों की कमी, अपव्यय, भूमि व्यवस्था और दुर्बल आर्थिक संगठन आते हैं, इसलिए कोई भी एक कारण अकाल के लिए जिम्मेदार नहीं है। ये सब व्यक्तिगत एवं सामूहिक रूप में भारतीय भूमि पर किसान के लिए अकाल का निमंत्रण देते हैं।"

सरकार द्वारा प्रयत्न

(अकाल-निवारण-नीति का विकास)

प्राचीन समय में हिन्दू शासक अकाल निवारण के लिए नहरें एवं तालाब बनवाते थे, राज कोष से धन एवं अन्न का वितरण करते थे और लगान में छूट, तकावी ऋण आदि की भी व्यवस्था करते थे। अकाल के समय शासकों द्वारा सदा-वर्त्त (free food) बाँटने की भी प्रथा थी। मुसलमान शासकों ने भी इन्हीं उपायों को कार्यान्वित किया। सन् १३४३ ई० में मुहम्मद तुगलक ने अकाल निवारण के हेतु दिल्ली के लोगों में ६ महीने लगातार अन्न बँटवाया था और कुएँ खोदने

के लिए उदारता से रुपये दिए। इसी प्रकार सन् १६३० में शाहजहाँ ने अकाल के समय हर शुक्रवार को ५००० रुपया दरिद्रों में वितरित करने की व्यवस्था की थी। ७० लाख रुपये का लगान माफ कर दिया गया था और अन्न का उदारतापूर्वक वितरण होता था। लोगों को काम देने के लिए फौज में भरती प्रारम्भ कर दी गई थी। औरंगज़ेब के समय में भी इसी प्रकार के सहायता कार्य हुए थे। सन १३६६ में सुलतान महमूद के समय, फरिश्ता के अनुसार १०,००० बैल केवल इसीलिए पाल रक्खे गए थे कि व मालवा तथा गुजरात से सदैव बहमनी म अन्न लाते रहें। हिन्दू तथा मुस्लिम काल में नहरें खुदवाना, बावली बनवाना, कुएँ खुदवाना एवं वृक्ष रोपण कराना शास्त्रों द्वारा धार्मिक एवं पवित्र कार्य समझे जाते रहे। अकाल में सहायता के लिए राज्य का एक अन्न संग्रहालय भी हुआ करता था। परन्तु आवागमन के साधनों के उपलब्ध न होने के कारण अकाल निवारण के सभी उपर्युक्त उपाय अव्यवस्थित एवं अल्प थे।

१८ वीं शताब्दी में मुग़ल साम्राज्य का अधःपतन पूर्ण हो चुका था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी का प्रभाव सम्पूर्ण देश पर व्याप्त हो गया था। इस शताब्दी में पड़े अकालों के प्रति ईस्ट इण्डिया कम्पनी पूर्णतः उदासीन रही। यही नहीं उसके कर्मचारियों ने अकालपीड़ितों से निर्दयतापूर्वक लगान भी वसूल किया। बढ़ता हुई अकाल की भीषणता को देख कर ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अकाल निवारण के लिए केवल इतना ही किया कि अकाल क्षेत्र से खाद्यान्न के निर्यात पर रोक लगाई और खाद्यान्न संग्रह करना अवैध घोषित कर दिया। १७८३ ई० के बाद के अकालों में कम्पनी ने लगान में कुछ छूट भी दी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी न तो यहाँ स्थानीय दशाओं से परिचित थी और न उसका उद्देश्य यहाँ का आर्थिक विकास करना ही था। वह तो यहाँ पर व्यापार के द्वारा लोगों का शोषण करने तथा अधिक-तम लाभ प्राप्त करने के लिए ही स्थापित की गई था।

१६वीं शताब्दी के प्रारम्भ में कम्पनी की अकाल निवारण नीति में कुछ उदारता आई। कुछ निर्माण कार्य भी किए गए। १८०४ में कृषकों को तकावी भी बाटी गई। निर्धन तथा भूख से पीड़ित व्यक्तियों की आर्थिक सहायता भी की गई। परन्तु १६वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक अकाल निवारण की दिशा में न तो कोई निश्चित नीति ही निर्धारित की गई और न कोई सुसंगठित प्रयास ही किया गया।

सन् १८५७ के ग़दर के बाद कम्पनी के राज्य शासन का अन्त हो गया और इङ्गलैण्ड के बादशाह के हाथ में यहाँ का राज्य शासन आ गया। अँग्रेजी सरकार ने अब यहाँ के आर्थिक विकास की ओर भी ध्यान दिया तथा अकाल निवारण की दिशा में भी महत्वपूर्ण कदम उठाए। परन्तु अकाल निवारण नीति का

सुसगठित एव व्यवस्थित रूप सन् १८६० ई० तक नहीं बन सका। वास्तव में सन् १८६० ई० का अकाल प्रथम अकाल था जिसने सरकार का ध्यान सुसगठित अकाल निवारण नीति की ओर आकृष्ट किया। इसी अकाल में आधुनिक दुर्भिक्ष नियम (Modern Famine Codes) के बीज निहित थे। इसी वर्ष आधुनिक अकाल नियमों का भी निर्माण हुआ। नई नीति की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—

(i) जनसख्या का तीन वर्गों में विभाजन (क) शारीरिक श्रम करने योग्य व्यक्ति, (ख) निर्धन एव कम श्रम कर सकने वाले व्यक्ति, (ग) श्रम करने के लिए अयोग्य व्यक्ति।

(ii) नैतिक स्तर उच्च करके आत्म निर्भरता की भावना व्याप्त करना।

(iii) ग्राम सहायता

उपर्युक्त नीति के अनुसार सन् १८६५ के उड़ीसा अकाल में कार्य किया गया परन्तु यह नीति सफल न हो सकी। भारत सरकार ने १८६५–६७ के उड़ीसा के अकाल के समय ३५ मिलियन इकाइयों की सहायता की और १४ ५ मिलियन रुपया व्यय किया गया। इसमें सरकार को सफलता न मिली क्योंकि एक तो कर्मचारी अनुभवहीन थे और दूसरे सहायता कार्य देर से प्रारम्भ किया गया, और यह पूर्व नियोजित तथा सुसगठित नहीं था। परिणामस्वरूप सन् १८६७ में सर जार्ज कैम्पबेल की अध्यक्षता में अकाल जाँच आयोग की नियुक्ति करनी पड़ी।

सर जार्ज कैम्पबेल अकाल समिति (१८६७)

सन् १८६७ में भारत सरकार ने एक अकाल कमीशन नियुक्त किया। इसके चेयरमैन सर जार्ज कैम्पबेल थे। इस कमीशन की सिफारिशों के अनुसार अकाल निवारण का कार्य जिलाधीश को सौंपा गया तथा विस्तृत रूप से तकावी वितरित की गई। सरकार को यह भली भाँति स्पष्ट हो गया कि अकाल एक आकस्मिक सकट न होकर सर्वकालिक सकट है जिसकी सुरक्षा के लिए पहले से ही पर्याप्त प्रबन्ध होना चाहिए। सन् १८७८ ई० में सरकार ने एक अकाल बीमा फण्ड खोल दिया तथा १½ करोड़ रु० वार्षिक इस फण्ड में डालने का निश्चय किया। इसी निधि को स्थायी बनाने के लिए जयपुर महाराज ने सन् १६०० म १५ लाख रुपये का विनियोग करके स्थायी निधि के लिए एक ट्रस्ट का निर्माण किया। इस निधि में प्रान्तीय सरकार भी कुछ वार्षिक राशि जमा करती थीं। इस फण्ड से अकाल निवारण करने में बड़ी सहायता मिली।

सर जान स्ट्रेचे अकाल कमीशन (१८८०)

सन् १८८० ई० में एक दूसरी अकाल समिति बनाई गई जिसके चेयरमैन सर

स्ट्रेचे महोदय थे। इस कमीशन ने अकाल निवारण के लिए निम्नलिखित सिद्धान्तों के अपनाने की सिफारिश की—

(क) स्वस्थ व्यक्तियों को पर्याप्त मजदूरी पर कार्य देने की व्यवस्था की जाय।

(ख) असमर्थ एवं पशु व्यक्तियों को मुफ्त भोजन एवं वस्त्र दिए जायँ।

(ग) जिन क्षेत्रों में खाद्यान्न का अभाव न हो वहाँ पर खाद्य पूर्ति का कार्य निजी व्यापार के हाथ में छोड़ दिया जाय।

(घ) किसानों को ऋण सहायता दी जाय तथा लगान में छूट दी जाय।

इन्हीं शिफारिशों के आधार पर प्रान्तीय अकाल कानूनों का निर्माण किया गया। ये उपरोक्त सिद्धान्त फेमीन कोड्स (Famine Codes) कहलाते हैं तथा १८८० के उपरान्त सभी अकालों में इन्हीं नियमों के अनुसार अकाल निवारण का कार्य संगठित किया जाता रहा, परन्तु परिस्थितियों तथा अनुभव के आधार पर इनमें यथासमय पर संशोधन भी किए गए। इन कानूनों का उद्देश्य साधारण समय में सहायता कार्यों का नियमन तो था ही, परन्तु अकाल की सूचना प्राप्त होते ही अधिकारियों के उचित कदम उठाने पर जोर देना था। अब अकाल सहायता कार्य की जिम्मेदारी प्रान्तीय सरकारों पर थी। इन नियमों के अन्तर्गत स्थानीय सरकारों— जिला बोर्ड, पंचायत आदि—को अकाल का संकेत मिलते ही, उसका सामना करना उनका कर्तव्य हो जाता है। इस आयोग ने निम्नलिखित बातों पर अधिक जोर दिया जिनको सरकार ने स्वीकार कर प्रान्तीय अकाल नियमों में स्थान प्रदान किया।

(१) अकाल की प्रारम्भिक स्थिति में स्थायी एवं अस्थायी कुओं के खोदने तथा सिंचाई के साधनों की उन्नति के लिए अग्रिम राशि दी जाय।

(२) दरिद्राश्रमों की स्थापना की जाय।

(३) कृषकों को लगान की छूट एवं आर्थिक सहायता प्रदान की जाय।

(४) सहायता केन्द्र समुचित नियन्त्रण में चालू किए जायँ।

(५) अकाल से सम्बन्धित आँकड़े इकट्ठे किए जायें और जाँच कार्य चालू किया जाय।

(६) गैर सरकारी रूप में जनता को पुण्य-कार्यों के लिए बढ़ावा दिया जाय।

(७) नहरों तथा रेलों के समुचित विकास की व्यवस्था की जाय।

सर जेम्स लायल अकाल समिति (१८९८)

सन् १८९८ ई० में सर जेम्स लायल की अध्यक्षता में तृतीय अकाल समिति बनाई गई। इस कमीशन ने निम्नाङ्कित सिफारिशें कीं—

(क) दलित वर्गों की विशेष सहायता की जाय।

(ख) अकाल फंडों पर उचित नियन्त्रण रक्खा जाय।

(ग) मुफ्त सहायता बढ़ाई जाय तथा सहायता कार्य विकेन्द्रित किया जाय।

कमीशन का मत था कि अकाल नियमों के आधार पर चलने में कम व्यय में अधिक कुशलतापूर्वक कार्य हो सका। सामयिक एवं उदारता से अकाल में सहायता देने के कारण जनता की अकाल निवारक शक्ति एवं साधन बढ़ गये।

मैकडानेल अकाल कमीशन (१९०१)

सन् १९०१ ई० म सरकार ने मैकडानेल महोदय की अध्यक्षता में चतुर्थ अकाल समिति की स्थापना की। इस कमीशन की सिफारिशों में पहिले के अकाल नियमों (Famin- Codes) पर जोर देने के अतिरिक्त निम्नलिखित नई बातों का समावेश था —

(क) 'साहस बढ़ाने का सिद्धान्त' अकाल निवारण कार्यों की सफलता के लिए आवश्यक है। इसके अनुसार यह आवश्यक है कि सरकारी नीति इस प्रकार की हो कि अकाल से लड़ने के लिए लोगों का साहस बढ़े। वे घबड़ा कर इधर उधर न भागें तथा बहादुरी से अकाल की कठिनाइयों का सामना करने के लिए तत्पर हो जायँ।

(ख) तकावी ऋण अकाल के लक्षण प्रकट होते ही उदारता पूर्वक दिए जायँ।

(ग) गैर सरकारी उदार एवं दानियों की सहायता को प्रोत्साहन दिया जाय तथा सरकार उनकी सहायता सधन्यवाद स्वीकार करे।

(घ) प्रत्येक जिले में अकाल सहायता समितियों की स्थापना की जाय। अकाल के लक्षणों पर कड़ी दृष्टि रक्खी जायँ।

(ङ) पशुओं की रक्षा का भी ध्यान रक्खा जाय तथा उनके चारे का प्रबन्ध किया जाय।

(च) चिकित्सा सुविधा प्रदान की जाय तथा महामारी निरोधक कार्य किए जायँ।

(छ) नहरों का बनना तथा अन्य निर्माण कार्यों के करने के लिये बहुत जोर दिया गया क्योंकि बिना इसके अकालों का स्थायी रूप से निवारण नहीं हो सकता।

(ज) निर्माण कार्यों को दो वर्गों में बाँट दिया गया—(क) रक्षात्मक (Protective works) (ख) उत्पादक (Productive works)। रक्षात्मक कार्य लघु कालीन हों तथा अकाल पीड़ितों की सीधी सहायता के उद्देश्य से किए जायँ और उत्पादक कार्य दीर्घकालीन हों तथा अकालों को स्थायी रूप से रोकने के उद्देश्य से किए जायँ।

उपरोक्त अकाल-निवारण-नियमों (Famine Codes) के अनुसार कार्य करने से सरकार की अकाल निवारण नीति को बड़ी सफलता मिली। फलस्वरूप २०वीं शताब्दी में सन् १६४३ के बंगाल के अकाल के पहले कोई भी अकाल इतना भीषण नहीं होने पाया जिसके द्वारा जन धन का विनाश हुआ हो। सन् १६४३ के बंगाल के अकाल में सरकार की अकाल निवारण नीति असफल रही। परिणामस्वरूप जाँच करने के लिए सन् १६४५ में वुडहेड अकाल आयोग की स्थापना की गई।

वुड हेड अकाल कमीशन—(१६४५)

बंगाल के अकाल के विषय में जाँच करने तथा भविष्य में इस प्रकार के अकालों को रोकने के लिए सुझाव देने के लिए भारत सरकार ने सन् १६४५ में वुड हेड अकाल कमीशन की नियुक्ति की। इस कमीशन ने निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किए—

(क) 'अधिक अन्न उपजाओ योजना' चालू की जाय जिससे कि अन्न की उत्पादन मात्रा में वृद्धि हो।

(ख) खाद्यान्न बाहर से आयात किए जावे और खाद्यान्न का वितरण उचित ढंग से किया जाय।

(ग) खाद्य नीति (Food Policy) को सुसंगठित करने के लिए अखिल भारतीय खाद्य परिषद (All India food council) की स्थापना की जावे। साथ ही क्षेत्रीय खाद्य परिषदें (Regional food councils) भी बनाई जावे।

(घ) सरकार खाद्य खरीदने का एकाधिकार (Monopoly) अपने हाथ में ले ले।

(ङ) खाद्यान्नों का मूल्य पर्याप्त ऊँचा रक्खा जावे।

(च) जन-संख्या की वृद्धि को रोका जाय।

(छ) भोजन में पोषक तत्वों (Nutritive elements) को बढ़ाया जाय।

(ज) जनता और सरकार एक-दूसर पर विश्वास रक्खें और पूर्ण सहयोग की भावना से तथा हिम्मत से अकाल-शत्रु को नाश करने का प्रयत्न करें।

हमारी राष्ट्रीय सरकार ने इस कमीशन के उपरोक्त सुझावों को मान लिया तथा इन्हीं सुझावों के आधार पर अपनी खाद्यान्न नीति का निर्माण किया। इस प्रकार वर्तमान अकाल निवारण नीति के दो पहलू हैं—(१) अकाल पीड़ितों को तत्कालीन सहायता (२) अकाल की पुनरावृत्ति रोकने के लिये दीर्घकालीन प्रयत्न जिसके अन्तर्गत यातायात, सिंचाई, खाद, बीज आदि का वितरण आते हैं।

हमारी राष्ट्रीय सरकार द्वारा विभिन्न सिंचाई की बहुमुखी योजनाएँ कार्यान्वित की जा चुकी हैं तथा बहुत-सी योजनाएँ द्वितीय पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत चल रही हैं जिनके कारण सिंचाई के साधनों में पर्याप्त वृद्धि हो चुकी है, बाढ़ नियंत्रण में सफलता प्राप्त हुई है और विद्युत शक्ति का उपयोग ग्रामीण क्षेत्रों में सम्भव हो सका है। जमींदारी प्रथा का अन्त हो चुका है और कृषक अपने भाग्य का स्वयं निर्माता बन गया है। कृषि करने के तरीकों में भी सुधार किया गया है और उत्तम बीज तथा उर्वरक के वितरण करने की सरकार द्वारा समुचित व्यवस्था कर दी गई है। कुटीर उद्योग धन्धों को पुनः जीवन प्रदान किया जा चुका है। आवागमन के साधनों में पर्याप्त वृद्धि की जा रही है। औद्योगिक विकास की गति तीव्र हो चुकी है। इस प्रकार राष्ट्र का सर्वाङ्गीण विकास निरन्तर होता चला जा रहा है। खाद्य समस्या को सदैव के लिए हल करने के उद्देश्य से प्रथम पञ्चवर्षीय योजना में हमारी सरकार ने कृषि को सर्वोच्च महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। स्पष्ट है कि हमारी राष्ट्रीय सरकार इन समस्याओं के प्रति जागरूक है और सतत् प्रयत्न करती जा रही है। कृषि क्षेत्र में उन्नति के लिये सिंचाई की बहुमुखी योजनाएँ, भूमि सुधार एवं कृषि में वैज्ञानीकरण आदि क्रमशः कार्यान्वित किये जा रहे हैं। आशा ही नहीं वरन् पूर्ण विश्वास है कि इन योजनाओं के फलस्वरूप भारत में अकाल नामक दैवी प्रकोप केवल अतीत का स्वप्न ही रह जायेगा।



६

खाद्य समस्या

(Food Problem)

"Bitter bread! Never before had the lesson of self-reliance and self sufficiency been brought home to the Indian people so pointedly. It would not do to parade the capitals of the world with a begging bowl in hand."

Romesh Thapar—"India in Transition"

"So long as even a dog in my country is without food, my whole religion will be to feed it"—Swami Vivekanand

यह आश्चर्यजनक प्रतीत होता है कि अतीत का भारत जो सारे विश्व का खाद्यान्न-भण्डार कहा जाता था, आज स्वयं अपनी खाद्यान्न की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अन्य राष्ट्रों के सम्मुख हाथ फैलाये दया की भीख माँगने के लिये विवश है। कृषि भारत का प्रमुख उद्योग है। यहाँ की लगभग ७५ प्रतिशत जनता इस उद्योग में लगी हुई है और भारतीय कृषकों के पास अपना विगत ४०० वर्षों का अनुभव भी है। इतना सब कुछ होते हुए भी भारत द्वितीय महायुद्ध से खाद्य संकट का क्रीड़ास्थल बना हुआ है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में इस दिशा में एक नवीन आशा की किरण का प्रादुर्भाव अवश्य हुआ परन्तु पुनः इस स्वर्णिम आशा पर तुषारपात हो गया और क्रमशः खाद्य संकट विषम से विषमतर होता चला गया। वर्तमान समय में तो खाद्य संकट ने अपना विकराल रूप धारण करके न केवल भारतीय शान्ति एवं सुरक्षा को चुनौती दे रहा है, वरन् राष्ट्र के स्वर्णिम भविष्य को भी अन्धकारमय बना दिया है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के भी पैर डगमगाने लगे हैं। वास्तव में आज खाद्य संकट की समस्या खाद्यान्न की ही समस्या नहीं, वरन् भारत के भविष्य के निर्माण की समस्या है। यह समस्या अस्थायी न रहकर क्रमशः स्थायी रूप धारण करती जा रही है जिसके कारण शासनारूढ़ दल तथा विरोधी दल सभी इस संकट की विषमता से चिन्तित ही नहीं भ्रम हो उठे हैं। इस समस्या को अच्छी वर्षा या खराब वर्षा, अथवा सूखा या

बाढ़ के नाम पर नहीं छोड़ा जा सकता। जनता की भावनाओं के साथ अधिक समय तक खिलवाड़ नहीं किया जा सकता है। आज खाद्यान्न के अभाव के कारण सर्वत्र असन्तोष की भावना व्याप्त है और 'असंतोष ही क्रांति की जननी है।'

खाद्य समस्या का उद्भव

खाद्य समस्या का सूत्रपात वास्तव में द्वितीय महायुद्ध काल में बंगाल के भीषण दुर्भिक्ष से हुआ। युद्ध के कारण ब्रह्मा से चावल का आयात बन्द हो गया था। यातायात के साधनों की कमी के कारण अन्य क्षेत्रों से खाद्यान्नों के आयात करने में बड़ी कठिनाई थी। बढ़ती हुई जनसंख्या की खाद्यान्न की माँग बढ़ने के साथ ही साथ युद्ध के कारण सरकार की खाद्यान्न की माँग भी पर्याप्त बढ़ गई। संयोगवश हमारे देश में इसी समय कई आकस्मिक प्राकृतिक दुघटनाएँ जैसे बाढ़ इत्यादि भी प्रकट हुई। बीसवीं शताब्दी में बंगाल दुर्भिक्ष के समान कोई भीषण समस्या मानव के सम्मुख उपस्थित हो सकती है, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। इस दुर्भिक्ष में खाद्य संकट के काले बादलों की घनघोर घटाओं का आच्छादन ही वास्तव में भारत पर आने वाले खाद्य संकट की पूर्व सूचना थी। हमारी विदेशी सरकार ने इस दिशा में कुछ भी ध्यान नहीं दिया और यह स्वाभाविक ही था क्योंकि उनका भारतीय जनता की सम्पन्नता एवं समस्याओं से सम्बन्ध ही क्या था।

सन् १९४७ में भारत विदेशी दासता की शृंखलाओं से मुक्त हुआ, परन्तु विभाजन के फलस्वरूप स्वतंत्रता का आनन्द एवं उल्लास विषाद में परिणित हो गया। अभी भारत बंगाल के भीषण दुर्भिक्ष के प्रभावों से अपने को पूर्ण रूप से मुक्त भी न कर पाया था कि विभाजन के रूप में दूसरा कठोर आघात लगा और हमारी खाद्य समस्या और भी अधिक दुरूह बन गयी। विभाजन के कारण भारतीय कृषि क्षेत्र का सबसे उत्तम भाग पंजाब जिसको भारत का गेहूँ का भंडार कहा जाता था पाकिस्तान के क्षेत्र में चला गया। यही नहीं विभाजन के उपरान्त लाखों की संख्या में पाकिस्तान से शरणार्थी भी भारत में आ गये और खाद्य संकट अधिक गम्भीर हो उठा। पूर्वी पाकिस्तान के कारण ही जूट के प्रदेश भारत के हाथ से निकल गये, परन्तु जूट उद्योग भारत में ही रहा। परिणामस्वरूप जूट उद्योग को जीवित रखने के लिये जूट की फसलें उत्पन्न करना आवश्यक हो गया। खाद्य उत्पादन के क्षेत्र में और भी कमी हो गया और भारतीय खाद्य समस्या ने एक मुख्य राष्ट्रीय समस्या का रूप धारण कर लिया। परन्तु इन कठिन परिस्थितियों में भी भारतवासी विचलित नहीं हुए। हमारे राष्ट्र के कर्णधारों एवं निर्माताओं ने दृढ़ संकल्प से नव-निर्माण एवं आर्थिक विकास की अनेक योजनाएँ बनायीं और भारतवासी उनको कार्यान्वित करने के प्रयत्न में जुट गये। फलस्वरूप प्रथम पंचवर्षीय योजना में खाद्य समस्या का समाधान स्पष्ट रूप से

दृष्टिगोचर होने लगा और भारतवासियों की खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता की आशायें सक्रिय हो उठीं। परन्तु दुर्भाग्यवश प्रकृति ने भारत के भाग्य का साथ नहीं दिया और आज भी भारत अपने भगीरथ प्रयत्नों के बावजूद भी खाद्य समस्या के गहन अन्धकार में भटक रहा है।

वर्तमान खाद्य समस्या के रूप एवं उसके कारण

हमारी खाद्य समस्या के दो मुख्य रूप हैं—

(१) खाद्य पदार्थों में पोषक तत्वों का अभाव।

(२) खाद्यान्न की मात्रा में कमी।

खाद्य पदार्थों में पोषक तत्वों का अभाव एवं उसके कारण

हमारे देश में लोगों को असन्तुलित तथा आवश्यक पोषक तत्वों से रहित भोजन प्राप्त होता है। सरजान मेगा, सी एराइड तथा डाक्टर राधाकमल मुकर्जी ऐसे प्रधान अर्थशास्त्रवेत्ताओं ने खाद्य समस्या के इस रूप पर खोजबीन की है और उन सभी ने एक मत से निर्णय दिया है कि हमारे खाद्य पदार्थों में साधारणतया उन पोषक तत्वों का अभाव रहता है जो कि एक स्वस्थ व्यक्ति के लिये आवश्यक हैं।

'Colories intake in some 30% of families is below requirement and that even when the diet is quantitatively adequate it is most invariably ill balanced containing a preponderance of cereals and insufficient 'protective food' of higher nutritive value Intake of milk, pulses, meat, fish, vegetables and fruit is generally insufficient"

(Nutritive Advisory Committee)

कारण

(क) भूमि की उर्वरा शक्ति की कमी के कारण गेहूँ इत्यादि उत्तम पोषक फसलों के स्थान पर निम्नकोटि की फसलों का बोया जाना।

(ख) बागवानी तथा पशु-पक्षी पालन उद्योगों का अभाव।

(ग) जनता की निरक्षरता के कारण पोषक तत्वों की आवश्यकता सम्बन्धी ज्ञान का अभाव।

(घ) अहिंसक भावना के कारण गोश्त, अण्डा तथा मछली के प्रयोग का तिरस्कार करना।

(ङ) निर्धनता के कारण पोषक तत्वों को खरीदने की क्षमता का अभाव होना।

खाद्यान्न की मात्रा की कमी के कारण

वर्तमान खाद्य समस्या का कारण विशेष रूप से खाद्यान्न की कमी है। इसके कारणों को मुख्यत तीन भागों में बाँटा जा सकता है—

(१) राजनैतिक कारण
(२) संवैधानिक कारण
(३) व्यावहारिक कारण

राजनैतिक कारण (Political Causes)

राजनैतिक गुटबन्दी

कांग्रेस की वर्तमान आन्तरिक गुटबन्दी बहुत कुछ सीमा तक वर्तमान खाद्य संकट के लिए उत्तरदायी है। गुटबन्दी के कारण खाद्यान्न का वितरण विभिन्न राज्यों में उचित रूप से नहीं हो पाता जिसके कारण खाद्य संकट की समस्या उत्पन्न हो जाती है। उत्तर प्रदेश में खाद्य संकट बहुत कुछ इसी का परिणाम है। श्री के० संथानम् के शब्दों में—

"संग्रह, वितरण, मूल्यों का निर्धारण, सस्ते गल्ले की दूकानों को खोलने तथा उन दूकानों को गल्ला प्रदान करने आदि का एक मात्र दायित्व केन्द्रीय सरकार का है।"

श्री जय प्रकाश नारायण ने अभी कुछ समय पूर्व अपनी विदेश यात्रा से लौटने के उपरान्त अपने सार्वजनिक भाषण में यह घोषणा की है कि संसदीय गणतन्त्र की वर्तमान व्यवस्था भारत के अनुकूल नहीं है। उन्होंने कहा कि विभिन्न राजनैतिक दलों के बीच स्वार्थों का संघर्ष इस तीव्रता के साथ चल रहा है कि निकट भविष्य में ही यहाँ तानाशाही की स्थापना की सम्भावना उपस्थित हो गई है। उनकी यह आलोचना निराधार नहीं है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि भारत में राष्ट्रीय हितों की अपेक्षा इस समय दलीय हितों को अधिक महत्व प्राप्त हो रहा है। लखनऊ में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के महामन्त्री श्री अजय घोष के अनुसार केरल में ७,००० सस्ते गल्ले की दूकान हैं जब कि उत्तर प्रदेश में लगभग ३८०० । चूँकि सस्ते गल्ले की दूकानें खोलने का दायित्व केन्द्रीय सरकार का है, अतः इस पक्षपातपूर्ण नीति से ऐसा आभास मिलता है कि या तो केन्द्र सरकार कम्युनिस्टों के प्रचार से भयभीत है अथवा उसका कम्युनिस्टों से प्रेम है। एक विधान सभाई सदस्य के अनुसार—

'मजे की बात यह है कि दिल्ली से चलने वाली गल्ले की गाड़ियाँ बिहार और बंगाल चली जाती हैं, किंतु उत्तर प्रदेश नहीं आ पातीं।"

उपर्युक्त उदाहरण केवल इसलिये महत्वपूर्ण नहीं कि उत्तर प्रदेश की खाद्य

समस्या ही खाद्य सकट हो, वरन् यह इस बात को स्पष्ट करते हैं कि खाद्य सकट को जन्म देने में राजनीति का कहाँ तक हाथ है। ऐसी नीति किसी भी राज्य के साथ बरती जा सकती है।

सवैधानिक (Constitutional)

श्री अजित प्रसाद जैन के अनुसार—

"सविधान खाद्य उत्पादन के सबन्ध मे मूलभूत दायित्व प्रदेश सरकारो पर डालता है।"

श्री जैन का यह कथन ठीक है क्योंकि सविधान में कृषि प्रदेश का विषय है, परन्तु खाद्य समस्या के अन्तगत केवल उत्पादन ही निहित नहीं है, इसमें वितरण भी सम्मिलित है। जहाँ तक वितरण का प्रश्न है यह केन्द्रीय सूची में है। अत एक जटिल समस्या उत्पन्न हो जाती है कि खाद्य समस्या के सम्बन्ध में दायित्व राज्य सरकार का है अथवा केन्द्रीय सरकार का। प० नेहरू के अनुसार केन्द्र सरकार का नैतिक दायित्व भले ही हो, सवैधानिक दायित्व कदइ नहीं है। राज्य सरकारों का वितरण म कुछ भी हाथ न होने के कारण, प्रदेश सरकारें केवल अधीनस्थ एजन्सियाँ रह जाती हैं। यही कारण है कि प्रादेशिक सरकारों का उत्साह खाद्योत्पादन के सम्बन्ध में बहुत मन्द पड़ जाता है और उनके अधिकांश कार्य केवल प्रदर्शनी की वस्तु ही रहते हैं। यह अनावश्यक एव अव्यावहारिक सवैधानिक केन्द्रीयकरण का ही परिणाम है।

व्यावहारिक (Practical)

व्यावहारिक कारणों के अन्तगत वर्तमान खाद्य सकट के मुख्य कारण निम्न लिखित हैं—

द्वितीय पचवर्षीय योजना मे कृषि को गौण स्थान देना

हमारी सरकार ने प्रथम पचवर्षीय योजना में कृषि एव खाद्योत्पादन को प्रमुख स्थान देकर उचित दिशा में कदम उठाया था। इस योजना काल में इस दिशा में बहुत कुछ सफलता मिली, परन्तु हम आत्म निर्भर न हो पाये। सन् १९४६ से लेकर अब तक १२ वर्षों में सरकार ने लगभग ३०० लाख टन गल्ले का विदेशों से आयात किया है। यह इस बात का द्योतक है कि देश म अन्न का उत्पादन आवश्यकता के अनुकूल पर्याप्त मात्रा में नहीं किया जा सका है। ऐसी अवस्था में द्वितीय पचवर्षीय योजना म कृषि एव खाद्योत्पादन को प्रमुख स्थान न प्रदान करना एक महान भूल थी जिसका ही परिणाम वतमान खाद्य सकट है जैसा कि भूतपर्व केन्द्रीय मन्त्री श्री मोहन लाल सक्सेना के शब्दों से स्पष्ट है—

"यह बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण है कि योजना निर्माताओं तथा प्रशासकों ने गत योजना के समान इस योजना के अंतर्गत कृषि तथा खाद्योत्पादन को अधिक महत्व नहीं दिया है और पूर्व चेतावनियों की उपेक्षा कर खतरे को मोल लिया है।"

योजना में घाटे की अर्थ-व्यवस्था

विश्व बैंक के जिन दो विशेषज्ञों को भारत की विकास योजनाओं का अध्ययन करके अपने सुझाव प्रस्तुत करने का भार सौंपा गया था उन्होंने अपनी रिपोर्ट में यह मत प्रदर्शित किया है कि भारत अपने विकास अभियान के तारतम्य में एक ऐसे स्तर पर आ गया है कि आगे बढ़ने की अपेक्षा कुछ ठहर कर प्राप्त सफलताओं का दृढ़ीकरण अधिक वाञ्छनीय बात होगी। इनके मत को व्यक्तिगत मतव्य के रूप में उपेक्षित नहीं किया जा सकता क्योंकि यह सभी जानते हैं कि देश के अन्दर भी बहुत से अर्थशास्त्रियों की ओर से यह मत प्रदर्शित किया गया है कि योजना आवश्यकता से अधिक महत्वाकांक्षिणी हो गयी है अर्थात् उसके लक्ष्यों तथा कार्यक्रमों को निर्धारित करते समय साधनों की अपर्याप्तता को दृष्टिगत नहीं किया गया है। यथार्थता यह है कि शासन ने अनाप शनाप बडी और घाटे की योजना बनाकर मुद्रा स्फीति को जन्म दिया है और यही खाद्य संकट का स्थायी कारण बनता जा रहा है। प० नेहरू ने स्वयं स्वीकार किया है कि खाद्यान्न उत्पादन के आधारभूत महत्व को शासन ने अभी समझा है, किन्तु फिर भी भविष्य न खाद्यान्नों के उत्पादन की वृद्धि करने अथवा वर्तमान अभाव जन्य कठिनाइयों को दूर करने के लिए कोई वास्तविक एवं प्रभावी पग नहीं उठाया गया है। शासन बराबर घाटे की अर्थ व्यवस्था का सहारा लेता चला जा रहा है।

योजना में धन की बर्बादी एवं असफलता

योजना में धन के अपव्यय होने के कारण भी खाद्यान्न उत्पादन में उतनी सफलता नहीं मिली जितनी मिलनी चाहिए। खाद्यान्न में कुछ वृद्धि अवश्य हुई परन्तु उसको प्राकृतिक परिस्थितियाँ अनुकूल होने का परिणाम कहा जाना चाहिये। उदाहरणस्वरूप १९५२-५३ में खाद्यान्न का उत्पादन ५८३ लाख टन हुआ जब कि १९५३-५४ में ६८७ लाख टन हुआ। एक वर्ष में ही लगभग १०० लाख टन की वृद्धि योजना का परिणाम नहीं, वरन् किसी प्राकृतिक कारण का परिणाम ही माना जा सकता है। यदि योजनाबद्ध वृद्धि हुई होती तो अगले वर्षों में इसी क्रम से वृद्धि होना चाहिये थी, परन्तु निम्न आंकड़े ऐसा प्रकट नहीं करते—

१९५४-५५	६६६.६ लाख टन
१९५५-५६	६७७.६ " "

१९५६-५७	६८७.५ लाख टन
१९५७-५८	६२०.३ ,,

ये आँकड़े स्पष्टतः संकेत करते हैं कि उत्पादन की मात्रा साथे साथे प्राकृतिक कारणों से सम्बद्ध रही है। इनसे यह भी स्पष्ट होता है कि शासन द्वारा कृषि क्षेत्र में किये गये व्यय का यथोचित परिणाम नहीं प्राप्त हो सका है। आज स्थिति यह है कि लक्ष्यों की पूर्ति हो या न हो, किन्तु व्यय का कोटा पूर्ण कर लेने का उतावलापन छाया हुआ है। केन्द्र कोष प्रदान करता है और प्रदेश सरकारें धन खर्च करती हैं।

बहुत सी योजनाएँ ऐसी थीं जिनको चलाया गया परन्तु वे असफल रहीं। बहुत से बाँध बनाये गये परन्तु वर्षा ऋतु में बह गये। ऐसा कहा जाता है कि काफी रुपया कर्मचारियों के भ्रष्टाचार के कारण बीच में ही चला जाता है और योजना पर निर्धारित रकम से बहुत कम रकम लग पाती है जिसके कारण योजना का असफल होना स्वाभाविक ही है। सिंचाई की छोटी छोटी जो योजनाएँ चलती हैं उनमें भी किस प्रकार धन का अपव्यय होता है, निम्न आँकड़ों से स्पष्ट होता है—

प्रदेश	निश्चित किया गया धन	व्यय हुआ धन (करोड़ रुपये में)	सींचित क्षेत्र का लक्ष्य (लाख एकड़ों में)	वास्तविक सींचित भूमि (लाख एकड़ों में)
	(करोड़ रुपये में)			
बिहार	४.७८	४.७६	१७.४	१.६३
मध्यप्रदेश	७.८६	४.७	७.७५	१.८
मद्रास	३.३	२.२	५.०५	.६५

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत बाढ़ तैयार करने के लिए खेतों की योजना करने का निश्चय किया गया, किन्तु अधिकांश प्रदेश सरकारें इस प्रकार के भूखण्ड प्राप्त करने में ही असफल रहीं। भूमि के दाम अधिक होने के कारण प्रदेश सरकारों ने येन केन-प्रकारेण दिखावटी बीज उत्पादक खेतों का साज सजाया केवल इसलिये कि धन व्यय करके कुछ न कुछ तो खड़ा ही किया जाना चाहिये।

जनता में क्रय शक्ति की कमी

खाद्यान्न की कमी के कारण उसके मूल्यों में वृद्धि स्वाभाविक ही थी, परन्तु जनता की क्रय शक्ति कम होने के कारण संकट और भी अधिक तीव्र हो गया। पूँजी प्रधान योजना ने जिसको भारी करों से पूरा किया जा रहा है, जनता की क्रय शक्ति

को घटा दिया है। विदेशी मुद्रा संकट के कारण लगाये गये आयात नियंत्रणों के परिणामस्वरूप उद्योग-धन्धों पर भी बुरा प्रभाव पड़ा जिसके कारण बेकारी और बढ़ गई। कानपुर में ही सूती मिल उद्योग में संकट उपस्थित होने के कारण हजारों मजदूर बेकार हो गये। बेकारी के कारण जनता की क्रय शक्ति में और भी कमी हो गई और खाद्य संकट का रूप गम्भीर हो गया।

जनसंख्या में वृद्धि

भारतवर्ष में जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि भी वर्तमान खाद्य संकट का एक मुख्य कारण है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि हमारे देश में ५० लाख प्रतिवर्ष के हिसाब से जनसंख्या में वृद्धि हो रही है। यह कहा जाता है कि नवजात शिशु केवल मुँह लेकर ही नहीं वरन् दो हाथ भी लेकर आता है और यदि हाथों को काम मिलता रहे तो मुँह भरने की कोई समस्या उपस्थित नहीं हो सकती। परन्तु यह कथन निराधार-सा प्रतीत होता है क्योंकि प्रारम्भ से ही शिशु इस योग्य नहीं होता कि वह किसी प्रकार का उत्पादक कार्य कर सके। अतः जनसंख्या की वृद्धि की समस्या को टाला नहीं जा सकता। वास्तव में ऐसे समय में जब पूर्व से विद्यमान हाथों को ही काम देने की समस्या उपस्थित हो, जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि खाद्य संकट की पूर्व सूचना ही कही जा सकती है।

कृषि उपज का कम होना

एक ओर तो जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है और दूसरी ओर प्रति एकड़ उत्पादन में कोई भी वृद्धि सम्भव नहीं हो सकी। ऐसी दशा में खाद्य संकट का उपस्थित होना स्वाभाविक ही है। इसमें सन्देह नहीं कि स्वतंत्रता के उपरान्त भूमि व्यवस्था में सुधार, सिंचाई के साधनों में विकास एवं ग्राम सुधार की अन्य योजनाएँ कार्यान्वित की जा चुकी हैं, परन्तु कृषि उपज में वृद्धि अधिक नहीं हो पाई। इसका कारण केवल यही है कि सभी कार्य सरकारी स्तर पर किए गये हैं और जनता के सहयोग का अभाव रहा है। कृषि योग्य भूमि की मात्रा में भले ही वृद्धि हुई हो किन्तु प्रति एकड़ उत्पादन में वृद्धि नहीं हो रही। भारतीय कृषकों के खेती करने के ढंग अब भी पुराने ही हैं। वैज्ञानिक खादों का उपयोग अब भी वे नहीं जानते। वास्तव में सरकारी कर्मचारियों द्वारा कृषकों को वैज्ञानिक ढंग पर खेती करने के लाभों को बतलाना ही काफी नहीं, उनको पर्याप्त साधन भी उपलब्ध कराना आवश्यक है। जब तक कृषकों की वर्तमान परिस्थितियों में परिवर्तन न हो, आधुनिक ढंग वास्तव में उपयुक्त हो सकते हैं या नहीं, इस पर भी ध्यान देना आवश्यक है। केवल कागज पर योजनाएँ बनाने से ही उपज में वृद्धि सम्भव नहीं हो सकती। प्रचार तो अवश्य बहुत

अधिक किया जाता है, परन्तु ठोस कार्य बहुत कम। भारतीय कृषक आज भी उसी स्थिति में है जिसमें वह दस वर्ष पूर्व था।

नये कानूनों के भय से खेतिहर अपने खेतों को खाली छोड़े रहते हैं किन्तु किसी को बटाई पर नहीं देते जिसके कारण ऐसा अनुमान लगाया गया है कि लगभग ५० लाख एकड़ भूमि बेकार पड़ी रहती है।

प्राकृतिक प्रकोप

वास्तव में वर्तमान खाद्य संकट का मूल कारण प्रकृति का भारत के भाग्य का साथ न देना है। पिछले दो वर्षों से भीषण बाढ़ों के कारण लाखों बीघे लहलहाती हुई खेती नष्ट हो गई। मानसून के देर में प्रारम्भ होने के कारण धान की फसल को भी काफी आघात पहुँचा। परिणामस्वरूप यह कहावत "Man proposes and God disposes" चरितार्थ हुई और सरकार द्वारा संचालित योजनाएँ सफल न हो सकीं। यदि सरकार द्वारा संचालित योजनाओं को प्रकृति का सहयोग एवं आशीर्वाद प्राप्त हो जाता तो इसमें सन्देह नहीं कि वर्तमान खाद्य समस्या का इतना विकराल रूप न होने पाता और कदाचित् स्वर्गीय श्री रफी अहमद किदवई के अप्रैल १९५४ के निम्नलिखित शब्द यथार्थ सिद्ध होते—

"यदि आज की भाँति हमारी खाद्य परिस्थिति संतोषप्रद रहती है तो अगले वर्षों में, हम केवल आत्मनिर्भर ही नहीं हो जायेंगे, वरन् कुछ निर्यात करने की क्षमता भी प्राप्त कर लेंगे।"

व्यापारियों की दूषित मनोवृत्ति

व्यापारियों की दूषित मनोवृत्ति भी वर्तमान खाद्य संकट के लिए बहुत कुछ उत्तरदायी है। व्यापारियों का मुख्य उद्देश्य अधिक लाभ प्राप्त करना है, अतः उन्होंने वर्तमान परिस्थितियों का लाभ उठाने के लिए खाद्यान्न का बहुत अधिक मात्रा में संग्रह कर लिया और अधिक मूल्य पर बेचना प्रारम्भ कर दिया। परिणामस्वरूप खाद्य संकट और भी गम्भीर हो गया है। अब तो बड़े एवं मध्यम श्रेणी के किसानों में भी स्टाक जमा करने की प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव हो गया है। इसी प्रवृत्ति के कारण खाद्यान्न के मूल्य निरन्तर बढ़ते चले जाते हैं। यदि खाद्यान्न का उचित वितरण किया जाय तो खाद्य संकट की समस्या बहुत कुछ हल हो सकती है।

खाद्य समस्या के हल करने के सुझाव

(क) वर्तमान संकट काल के निवारण के लिए अस्थायी समय के लिए बाह्य देशों से खाद्य पदार्थों का आयात करना चाहिए।

(ख) कृषि प्रणाली में परिवर्तन, न्यायपूर्ण भूमि व्यवस्था, सिंचाई के साधनों का विकास, वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग तथा उत्तम खाद और बीज के वितरण इत्यादि के द्वारा प्रति एकड़ उपज में वृद्धि करनी चाहिए।

(ग) फल, शाक, दूध, घी, मछली, मांस और अण्डों के उत्पादन में वृद्धि करनी चाहिए।

(घ) उचित वितरण के लिए यातायात के साधनों में वृद्धि तथा विपणन की सुविधाओं में वृद्धि होनी चाहिए। खाद्य पदार्थों के मूल्यों के स्थायी-करण के उपाय अति आवश्यक हैं।

(ङ) निर्धनता एवं क्रय-शक्ति के अभाव को दूर करने के लिए देश में औद्योगीकरण, कृषि में सुधार, कुटीर उद्योगों की उन्नति, जनसंख्या वृद्धि पर नियन्त्रण तथा शोषण का उन्मूलन करना आवश्यक है।

(च) खाद्य समस्या को किसी दल का विषय न बनाया जाकर पूर्ण राष्ट्रीय विषय बनाया जाना चाहिए। शासन को अन्य दलों का सहयोग प्राप्त करना इसके लिए अत्यन्त आवश्यक है।

(छ) नगर भूमि की ओर कृषकों को आकर्षित करने के उद्देश्य से यह घोषणा की जानी चाहिये कि भूमि को उपजाऊ बनाने वाले से निश्चित समय तक लगान नहीं लिया जायगा।

(ज) कानूनों की पेचीदगी समाप्त की जानी चाहिये जिससे खेतिहर छोड़ी गई भूमि को मजदूरों से जुतवा सकें अथवा बटाई पर दे सकें।

सरकार द्वारा प्रयत्न
(Government Measures)

द्वितीय महायुद्ध काल में हमारी खाद्य समस्या ने अत्यन्त सङ्कटकाल उपस्थित कर दिया और हमारे सम्मुख केवल दो ही रास्ते रह गये, करो या मरो। अतः हमारी सरकार ने अप्रैल १९४२ में अन्न के उत्पादन में वृद्धि करने के लिए एक खाद्य उत्पादन सम्मेलन बुलाने का आयोजन किया। इस सम्मेलन की सिफारिशों के फल स्वरूप सन् १९४३ में 'अधिक अन्न उपजाओ योजना' (Grow more food campaign) चालू की गई।

अधिक अन्न उपजाओ योजना

उत्पादन में वृद्धि के लिए इस योजना के अन्तर्गत निम्नलिखित उपाय अपनाये गये :—

(क) नई भूमि को उपजाऊ बनाकर और परती भूमि पर खेती करके खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि करना।

(ख) वर्तमान सिंचाई के साधनों की मरम्मत करना, उनमें वृद्धि करना और नये कुओं व तालाबों का निर्माण करना।

(ग) रसायनिक खादों का विस्तृत प्रयोग करना।

(घ) उत्तम बीजों के उत्पादन में वृद्धि व उनके वितरण की अच्छी व्यवस्था करना।

योजना के अन्तर्गत कार्य

केन्द्रीय सरकार ने राज्यों को आर्थिक सहायता एवं ऋण देकर योजना को सफल बनाने का प्रयत्न किया। राज्यों में नई बंजर भूमि उपजाऊ बनाई गई, कुएँ खुदवाये गये, तालाब बने, हरी खाद, रसायनिक खाद इत्यादि का वितरण हुआ तथा विदेशों से कृषि औजार एवं मशीनरी मँगाई गई। इन सब प्रयासों के होते हुए भी खाद्य स्थिति न सुधर सकी। इस योजना के फलस्वरूप खाद्यान्नों के अन्तर्गत १० मिलियन एकड़ भूमि का विस्तार हुआ और अन्त में ढाई मिलियन टन की वृद्धि हुई। खाद्य समस्या की गम्भीरता को देखते हुए यह परिणाम सागर में कुछ बूँदों के समान थे।

योजना की असफलता के कारण

इस योजना के सफल न होने के निम्नलिखित कारण थे—

(क) यह एक कागजी योजना ही रह गई, रचनात्मक ठोस कार्य कम किया गया।

(ख) जो कुछ भी प्रयत्न किये गये वे सरकारी स्तर पर किये गये और वास्तविक किसान तक सुधारों का फल न पहुँच सका।

(ग) योजना का स्वरूप अस्थायी था। नियोजन का अभाव था। अतः खाद्य संकट की जड़ों को उखाड़ फेंकने में यह योजना नितान्त असफल रही।

(घ) धन का व्यय तो बहुत हुआ परन्तु उसका सदुपयोग न हो सका। निरीक्षण के अभाव में तथा सरकारी कर्मचारियों में भ्रष्टाचार फैले होने के कारण खेतों पर कुएँ बनने के स्थान पर लोगों के घरों में कुएँ बने, उत्तम बीज बोये जाने के स्थान पर खाये गये और इसी प्रकार अन्य गड़बड़ियाँ हुईं।

(ट) युद्ध के उपरान्त निर्माण सामग्री का भी अभाव रहा और इस प्रकार आवश्यक निर्माण न हो सका।

अधिक अन्न उपजाओ योजना का पुनर्संगठन

प्रथम योजना की असफलता के कारण हमारी सरकार ने सन् १९४७ ई० में द्वितीय खाद्यान्न नीति समिति (Food Grains Policy Committee)

नियुक्त की। इस समिति ने सम्पूर्ण स्थिति का अध्ययन किया और निम्नलिखित सुझाव दिये—

(क) सिंचाई की बहुमुखी योजनाएँ बनाई जावें और उनके द्वारा सिंचाई के क्षेत्र में १६ मिलियन एकड़ भूमि की वृद्धि की जाय।

(ख) खाद्य संकट के निवारण के लिए कृषि नियोजन अत्यन्त आवश्यक है अतः एक केन्द्रीय बोर्ड कृषि नियोजन के लिए स्थापित किया जाय।

(ग) नई भूमि को तोड़ने और ऊसर भूमि को उपजाऊ बनाने में भरसक प्रयत्न किया जाय।

(घ) एक केन्द्रीय भूमि उपजाऊ बनाने वाला संगठन (Central Land Reclamation Organization) बनाया जावे।

(ङ) खाद्य संकट के निवारण के लिए एक पंचवर्षीय योजना बनाई जावे जिसका उद्देश्य प्रति वर्ष दस मिलियन टन अधिक अन्न उत्पन्न करना हो।

पुनः संगठित अधिक अन्न उपजाओ योजना के अन्तर्गत कार्य

इस योजना के अन्तर्गत लाखों कुएँ खोदे गये, बहुत से तालाबों का निर्माण हुआ, लाखों एकड़ भूमि तोड़ कर उपजाऊ बनाई गई और हजारों टन उत्तम बीज तथा रासायनिक खादों का वितरण किया गया। मुख्यतः उत्तर प्रदेश और पंजाब के राज्यों में सराहनीय कार्य हुआ। श्री क० एम० मुंशी के शब्दों में —

"It is important to note, however, that the loss would have been even greater if the defferent Grow More Food Schemes had not been in operation and the additional pro duction due to them had not taken place"

भारत सरकार की नई खाद्य नीति की घोषणा

२४ सितम्बर सन् १६४८ को भारत सरकार ने अपनी खाद्य नीति की घोषणा की जिसकी निम्न मुख्य बातें थीं—

(क) देश को अधिक उत्पादन, आत्मनिर्भर और खाद्य की कमी वाले क्षेत्रों में विभाजित किया जाय। इन क्षेत्रों में खाद्य पदार्थों का आदान प्रदान करने का एकाधिकार सरकार को हो।

(ख) केन्द्रीय सरकार द्वारा स्वीकृत मूल्य पर अधिक अन्न वाले क्षेत्रों से राज्य सरकारों के नियन्त्रण में अन्न की खरीद की जाय।

(ग) बिना लाइसेन्स के कोई भी व्यापारी अन्न का क्रय विक्रय तथा संग्रह न कर सके।

(घ) खाद्यान्नों के राशनिंग क्षेत्रों में विस्तार किया जावे।

इस नीति की अपेक्षाकृत भी खाद्य संकट दूर न हो सका। सन् १९४६ ई० में एक खाद्य उत्पादन कमिश्नर की नियुक्ति की गई और उसकी सहायता के लिए एक खाद्य उत्पादन बोर्ड स्थापित किया गया। अगस्त सन् १९५० ई० में दिल्ली में राज्यों के खाद्य मंत्रियों का एक सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में निम्न लिखित सुझाव दिये गए—

(क) खाद्य नीति के विषय में राज्य सरकारों तथा केन्द्रीय सरकार के मध्य पूर्ण सहयोग होना चाहिये।

(ख) खाद्य उत्पादन, उसकी खरीद तथा वितरण युद्धस्तर पर होना चाहिये।

(ग) अन्न संग्रह करने वाले तथा चोर बाजारी करने वालों के साथ कड़ी कार्यवाही की जानी चाहिये।

(घ) विभिन्न राज्यों में अन्नों के मूल्य में स्थिरता लाने का प्रयत्न करना चाहिये।

इतना सब होते हुए भी मार्च १९५२ तक देश अन्न के विषय में आत्म निर्भर न हो सका। सन् १९५२ ई० में भारत सरकार ने एक अधिक अन्न उपजाओ जाँच समिति (Grow More Food Enquiry Committee) की स्थापना की। इस समिति की सिफारिश के अनुसार अधिक अन्न उत्पादन योजना सम्पूर्ण ग्राम सुधार योजना का एक अंग बना दी गयी।

देश में अन्न का उत्पादन बढ़ाने के लिए १९५७ में भी 'अधिक अन्न उपजाओ' कार्यक्रम के अन्तर्गत योजनाएँ चलती रहीं। इसके लिये १९५७-५८ वित्तीय वर्ष में २५ करोड़ ६७ लाख रु० की राशि रखी गई। इससे राज्य सरकारों को वित्तीय सहायता दी जायगी। अधिकतर सहायता, अर्थात् २२ करोड़ ६५ लाख ७० ऋण के रूप में दिया जायगा। इसमें १० करोड़ ६७ लाख रु० की वह राशि भी शामिल है जो राज्य सरकारों को कम समय के ऋण के रूप में खाद, उर्वरक और बढ़िया बीज खरीद कर बाँटने के लिए दी जायगी। शेष ३ करोड़ २ लाख रु० राज्यों को सहायता के रूप में दिये जायगे। इस प्रकार के छोटे सिंचाई कार्यों और भूमि सुधार आदि का स्थायी सुधार योजनाओं को पूरा करने के लिए ऋण के रूप में प्रविधिक सहायता देने की नीति इस वर्ष भी जारी रखी गयी। १९५७-५८ वित्तीय वर्ष के लिए जो धनराशि स्वीकृत हुई थी उसमें से ३१ जनवरी १९५८ तक, भारत सरकार राज्य सरकार को ३ करोड़ ४४ लाख रु० तो अनुदान के और २३ करोड़ ४२ लाख रु० ऋण के रूप में देना स्वीकार कर चुकी थी।

अन्न की उपज बढ़ाने के लिए नाइट्रोजन वाले उर्वरकों का घना प्रयोग करने का विशेष प्रचार इस वर्ष भी किया जाता रहा और इस वर्ष ८ लाख टन अमोनियम सल्फेट की खपत हुई। बहुत-सी राज्य सरकारों ने गाँव में ही अधिक खाद तैयार करवाई और हरी खाद का प्रयोग बढ़ाने का उपाय किया। यह भी निश्चय किया गया कि १९५७-५८ से "अधिक अन्न उपजाओ" कोष में से सहायता चकबन्दी करने के लिए भी दी जाय। आशा है कि राज्यों ने १९५७-५८ के जो "अधिक अन्न उपजाओ" कार्यक्रम बनाये हैं, उनसे २१ लाख ६० हजार टन अतिरिक्त अन्न उत्पन्न हो सकेगा। इन कार्यक्रमों के अन्तर्गत, अनेक राज्यों में २८,१३७ कुएँ और ३२० तालाब नये बनवाये जा सकेंगे और पुराने मरम्मत करके ठीक किये जा सकेंगे। इन कुओं और तालाबों के पूरा हो जाने पर इनसे लगभग १७२ हजार एकड़ भूमि में सिंचाई हो सकेगी। नदियों, नालों और कुओं में १३ हजार से अधिक रहट लगवा दिये जाने की आशा है। उनसे ११८ हजार एकड़ में सिंचाई हो सकेगी। इनके अतिरिक्त भी, राज्य सरकारों का विचार अनेक बाँध, नाले और रजबहे आदि बनवाने का है। उनके पूरे हो जाने पर उनसे १४ लाख ६० हजार एकड़ भूमि में सिंचाई होने लगने की आशा है। आशा है कि १९५७-५८ में, "अधिक अन्न उपजाओ" कार्यक्रम के अनुसार सिंचाई की जो छोटी-छोटी अनेक योजनाएँ चलायी जायेंगी उनसे और नल-कूप लगाने के विशेष कार्यक्रम से लगभग २२ लाख एकड़ भूमि में सिंचाई होने लगेगी।

प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजना में खाद्यान्न उत्पादन

प्रथम पंचवर्षीय योजना को यदि कृषि विकास योजना कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी। इस योजना में खाद्य-पदार्थों के उत्पादन की वृद्धि को प्राथमिकता प्रदान की गयी। ७६ लाख टन अधिक उत्पादन का लक्ष्य रखा गया तथा सामुदायिक विकास योजनाएँ, सिंचाई योजनाएँ, एवं जापानी पद्धति से धान की खेती करने की योजनाएँ कार्य रूप में परिणित की गयीं। योजना के तृतीय वर्ष में लक्ष्य से कहीं अधिक उत्पादन में वृद्धि हुई। अतः खाद्यान्न पर कन्ट्रोल हटा दिये गये, तथा खाद्यान्न आयात बन्द कर दिया गया। खाद्यान्नों के उत्पादन वृद्धि हो जाने के कारण ऐसा प्रतीत होने लगा कि खाद्य संकट का सदैव के लिए अन्त हो गया जैसा कि तत्कालीन खाद्य मंत्री का वक्तव्य था:—

"हम सब केवल अन्न में स्वावलम्बी ही नहीं बल्कि भविष्य के लिए कुछ संचित करने योग्य भी अपने को बना सके हैं।

इस प्रकार योजना की सफलता को आँका गया और इसी सफलता की आशा से द्वितीय पंचवर्षीय योजना बनाते समय केवल आवश्यकतानुसार ही अतिरिक्त अन्न की आशा के लिये खर्चे की रकम निर्धारित की गयी। इस योजना के अन्तर्गत सन् १९६१ तक २५ मिलियन टन अतिरिक्त अन्न उत्पादन करने का लक्ष्य रखा गया है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में जिस आशा से अन्न उत्पादन के लक्ष्य रखे गये थे, परिस्थिति उसके विपरीत दृष्टिगोचर हुई। योजना के प्रथम वर्ष में ही स्थिति चिन्ताजनक रही। एक ओर लोगों के पास बढ़ी हुई क्रय शक्ति और फलस्वरूप उनकी अन्न के लिए अधिक माँग और दूसरी ओर अन्न उत्पादन आशा के प्रतिकूल रहा। विशेषकर उत्तरी भारत व पूर्वी क्षेत्रों में—बिहार, पश्चिमी बंगाल, पूर्वी उत्तर प्रदेश और उत्तरी मध्य प्रदेश आदि में बाढ़, सूखा आदि के कारण फसलें खराब हो गयीं। योजना के द्वितीय वर्ष में अन्न का अभाव और भी बढ़ गया, साथ ही अन्न के मूल्य काफी चढ़ गये। कीमतों में होने वाली इस वृद्धि के कारण जनता और सरकार दोनों को ही परेशानी में पड़ जाना पड़ा। अतः सरकार को सोचना पड़ा कि उसका कैसे सामना किया जाय। फलस्वरूप सरकार ने खाद्य अभाव और मूल्य जाँच के लिए श्री अशोक मेहता की अध्यक्षता में जून सन् १९५७ में खाद्यान्न जाँच समिति (The Food Grains Enquiry Committee) की नियुक्ति की। समिति ने अपनी रिपोर्ट नवम्बर सन् १९५७ में सरकार के समक्ष रख दी।

खाद्यान्न जाँच समिति (१९५७) का प्रतिवेदन

इस समिति ने देश में खाद्यान्न का उत्पादन, वितरण और दाम की मूल समस्या पर समग्र दृष्टि से विचार किया है। पूर्वी भारत में जो सूखा पड़ा था उस पर समिति विचार नहीं कर सकी, परन्तु उसने कहा है कि इन क्षेत्रों के बारे में उसने जो साधारण सुझाव दिए हैं उनके पूरे होने पर भविष्य में इस प्रकार की आपत्तियों से काफी हद तक बचाव हो सकेगा।

समिति का मुख्य निष्कर्ष यह है कि आर्थिक विकास की क्रिया में दामों का चढ़ना स्वाभाविक है। उत्पादन, आमदनी, काम, माँग, दाम आदि के बढ़ने का असर एक दूसरे पर होता है और इस कारण दामों का चढ़ाव उतार होता रहता है। पर साधारण रुख चढ़ाव का ही होता है। हाँ एक दम से बहुत अधिक दाम बढ़ने से लोगों को कष्ट होता है। इसलिए उसे बचाना चाहिए।

समिति ने पूर्ण नियन्त्रण और पूर्ण विनियन्त्रण दोनों को ही अस्वीकृत करते हुए सुझाव दिया है कि नियन्त्रण का स्वरूप प्रतिबन्धक न होकर प्रतिकर के रूप में अथवा नियामक होना चाहिए। खाद्य मन्त्री श्री अजीत प्रसाद जैन द्वारा संसद में

खाद्यान्न जाँच रिपोर्ट में आगामी कुछ वर्षों तक २० से ३० लाख टन खाद्यान्नों के वार्षिक निर्यात की आवश्यकता पर बल दिया गया है।

समिति की सिफारिशें

मूल्य स्थिरीकरण मंडल (Price Stabilization Board) की स्थापना

समिति ने सुझाव दिया है कि अनाज के मूल्यों में स्थिरता लाने के लिए ठोस कदम उठाना अत्यन्त आवश्यक है। समिति ने इसके लिए उच्च अधिकार प्राप्त 'मूल्य स्थिरता मंडल' स्थापित करने का सुझाव दिया है जो सामान्य रूप से भाव स्थिरीकरण के सम्बन्ध में अपनी नीति निर्धारण करने के साथ साथ उसे समय समय पर लागू करने के लिए कार्य-क्रम निश्चित करेगा। समिति का यह भी सुझाव है कि एक 'केन्द्रीय खाद्य सलाहकार परिषद्' की भी स्थापना की जाय जिसका कार्य केन्द्रीय खाद्य मन्त्रालय और मूल्य स्थिरीकरण संगठन की मदद करना होगा। सरकार को खाद्यन्नों के मूल्यों में होने वाले परिवर्तनों का पता लगता रहे, इसके लिए एक अलग 'मूल्य सूचना विभाग' स्थापित किया जाना चाहिए।

यह संगठन अनाज की खरीद-बिक्री का काम करेगा। जब किसी क्षेत्र में दाम गिरने लगेंगे तो यह संगठन उचित मूल्य पर खरीद शुरू करेगा और इसी प्रकार भावों की तेजी होने पर बिक्री करेगा। इस प्रकार यह अनाज के व्यापार पर काबू रखेगा। सब मंडियों में इसकी शाखाएँ रहेंगी।

अन्न का वितरण

समिति का कहना है कि अन्न का वितरण सस्ते अनाज की दूकानों या नए ढंग की राशन की दूकानों या सहकारी संस्थाओं द्वारा होना चाहिए। जहाँ तक सरकार का सम्बन्ध है, सस्ते अनाज की दूकानों पर अनाज इस आधार पर बिकना चाहिए कि न नफा हो और न घाटा पड़े।

अन्न का आयात

समिति ने इस बात पर जोर दिया है कि अगले कुछ वर्षों में अन्न का काफी मात्रा में आयात किए बिना, अन्न का भंडार जमा करना या अभावग्रस्त लोगों की जरूरतें पूरी करना सम्भव नहीं होगा। इसलिए विदेशों से अन्न का आयात करना आवश्यक है। समिति का अनुमान है कि यह आयात २० से ३० लाख टन के बीच करना होगा। यह बहुत जरूरी है कि हम चावल के आयात के लिए बर्मा से कोई दीर्घकालीन समझौता करें। अमेरिका से काफी मात्रा में गेहूँ और थोड़ा-सा चावल मँगाना भी हमारे लिए लाभकारी रहेगा।

अन्न भंडार

खाद्यान्न संगठन के सबसे महत्वपूर्ण कार्यों में से एक कार्य यह होना चाहिये कि वह २० लाख टन अन्न का भंडार रखे। १६५५ का अनुभव यह है कि वास्तविक संकट के समय १५ लाख टन अन्न का भंडार भी काफी नहीं होता। यह सुरक्षित भंडार महत्वपूर्ण स्थानों पर जमा रहना चाहिये।

गल्ला वसूली

समिति का मत है कि फिलहाल गेहूं और मोटे अनाज की अनिवार्य वसूली जरूरी नहीं है। इन्हें मंडी से खरीद लेना काफी होगा। लेकिन चावल की कुछ हद तक अनिवार्य वसूली जरूरी होगी जिससे सरकारी भंडार में ६–७ लाख टन चावल रखा जा सके। इसका सबसे सरल उपाय यह है कि उड़ीसा, पंजाब, आन्ध्र और छत्तीसगढ़ आदि कुछ क्षेत्रों की घेराबन्दी कर दी जाय और इनमें खाद्यान्न मूल्य संगठन को ही क्षेत्र से बाहर भेजने के लिए खरीद का एकमात्र अधिकार दिया जाय।

व्यापारियों को लाइसेन्स

उपर्युक्त प्रणाली को वास्तव में सफल बनाने के लिए यह जरूरी होगा कि खाद्यान्न के व्यापार पर नियन्त्रण किया जाय। इस दृष्टि से अनाज के सभी व्यापारियों एवं कुछ उत्पादकों को जो १०० मन से अधिक अनाज का व्यापार करते हैं, लाइसेंस दिये जायं। लाइसेंस की एक शर्त यह होनी चाहिये कि व्यापारी अपने भंडार, बिक्री एवं खरीद के बारे में नियत अधिकारियों को पाक्षिक हिसाब दें। व्यापारियों के स्टाक जमा करने से भी चीजों की खींच बढ़ी है। सन् १६५५-५६ में तो बड़े व्यापारी ही माल जमा कर रहे थे, पर १६५६-५७ में बड़े और मध्यम श्रेणी के किसान भी यही करने लगे।

बाजार में अनाज की आमद

अगले कुछ वर्षों में शहरों में अनाज की जरूरत और भी बढ़ेगी, लेकिन यह निश्चित नहीं कि गाँवों से उतना ही अधिक अन्न शहरों में बराबर आता रहेगा। बाजार में किसान अपनी अधिक से अधिक उपज बेचे, इसके लिये सहकारी समितियों की ओर से बिक्री के अनुसार कर्ज मिलने की व्यवस्था होनी चाहिये। किसानों को प्रोत्साहन देने के लिये बाजार का रुख भी स्थिर होना बहुत आवश्यक है। इसलिये बाजारों के उतार चढ़ाव और भावों पर असर डालने वाला सब बातों की पूरी पूरी जानकारी एकत्र करने के लिए यत्न होना चाहिये।

उत्पादन वृद्धि

अन्न के उत्पादन के विषय में समिति ने कहा है कि दूसरी योजना में १ करोड़

३ लाख टन अर्थात लक्ष्य का दो-तिहाई अनाज ही अधिक उत्पन्न हो सकेगा। लक्ष्य से कम इस उत्पादन के लिए भी बहुत अधिक प्रयत्न करने की जरूरत होगी। समिति ने अन्न का उत्पादन बढ़ाने के लिए अनेक सुझाव दिये हैं। ये सुझाव सिंचाई की छोटी-बड़ी योजनाओं, उत्तम बीजों की पैदावार बढ़ाने एवं उनके उचित वितरण करने, देशी खाद के उपयोग बढ़ाने और रसायनिक खाद की उत्पत्ति बढ़ाने, भूमि क्षरण को रोकने और वन विकास करने तथा पशु-धन का उचित प्रयोग करने से सम्बंधित हैं। समिति ने कहा है कि सब बड़ी-बड़ी सिंचाई योजनाओं के खर्च की बड़ी सावधानी से जाँच की जानी चाहिए और यदि कहीं कुछ धन बच सके तो उसे बचाकर छोटी सिंचाई की योजनाओं में लगाना चाहिए क्योंकि प्रथम पंचवर्षीय योजना में इनका लाभ जल्दी सामने आया था।

परिवार नियोजन

खाद्य समस्या के प्रभावी समाधान के लिए समिति ने केवल सुदृढ़ और प्रत्येक सम्भव प्रयास पर ही बल नहीं दिया है, वरन् उत्पादन बढ़ाकर तेजी से बढ़ती हुई आबादी की रोकथाम के लिए परिवार नियोजन का राष्ट्रव्यापी अभियान भी छेड़ देने का आह्वान किया है। इस काम में समाज सेवकों, स्त्रियों, डाक्टरों, वैज्ञानिकों, अर्थ शास्त्रियों, राजनीतिक नेताओं और प्रशासकों इत्यादि की शक्ति और बुद्धि का उपयोग करना चाहिए। यदि इस दिशा में देशव्यापी आन्दोलन न किया गया तो देश की खाद्य समस्या भयानक रूप धारण कर सकती है।

उपयुक्त सिफ़ारिशों के अतिरिक्त समिति का विचार है कि सरकार को शनैः शनैः गल्ले के पूरे थोक व्यापार को अपने हाथ में ले लेना चाहिये। अन्त में समिति ने यह कहा है कि देश की खाद्य समस्या इतनी गम्भीर है कि दलगत राजनीति और मतभेदों से ऊपर उठकर इसको हल करने के लिए राष्ट्रव्यापी प्रयत्न होने चाहिए। शासन की ओर से सहानुभूति और उचित नीति का आश्वासन पाने पर हमारे किसान पैदावार बहुत बढ़ा सकते हैं। खाद्य नीति की सफलता देशवासियों के सहयोग और समझदारी पर निर्भर है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मेहता समिति ने अन्न समस्या का एक नये ढंग से अध्ययन किया है जो इसके पूर्व कभी नहीं किया गया। इसमें सन्देह नहीं कि इस समिति के अनेक सुझावों को सरकार द्वारा कार्यान्वित करने से वर्तमान खाद्य समस्या के सुलझाने में काफ़ी सहायता मिलेगी। सस्ते गल्ले की दूकानों पर सरकार ३ करोड़ रुपया मासिक व्यय कर रही है। नवम्बर १६५८ से सरकार ने गल्ले के राजकीय व्यापार सम्बन्धी नीति घोषित कर दी है। गल्ले के थोक व्यापारियों द्वारा दी गई हड़ताल की धमकी के प्रत्युत्तर में हमारे माननीय प्रधान मंत्री ने अभी ७-

दिसम्बर १९५८ के एक जन सभा के भाषण में स्पष्ट कह दिया कि सरकार उनकी धमकियों के सामने कभी नहीं झुकेगी और घोषित नीति में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता। पं० नेहरू ने यह भी कहा कि सरकार का उद्देश्य थोक व्यापारियों का रोजगार छीनना नहीं, वरन् उनकी बेजा मुनाफाखोरी को रोकना है। वे उचित लाभ के अधिकारी हर समय बने रह सकते हैं। यदि देश का व्यापारी वर्ग अपने उत्तरदायित्वों के प्रति जागरूक होता और अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए राष्ट्रीय हितों का अतिक्रमण न करता तो सरकारी हस्तक्षेप की कोई आवश्यकता न थी। परन्तु वर्तमान परिस्थितियों के अन्तर्गत सरकार द्वारा उठाया गया यह कदम निश्चित रूप से अनिवार्य है, भले ही यह सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से अनुचित हो।

उपसंहार

खाद्य संकट को दूर करने के लिए सरकार द्वारा किए गए प्रयत्न कम सराहनीय नहीं हैं। सिंचाई की बहुमुखी योजनाएँ लगभग पूर्ण हो रही है, परिवार नियोजन की प्रगति हो रही है तथा कृषक की स्थिति भी धीरे धीरे सुधर रही है। सरकार खाद्य संकट के प्रति पूर्ण रूप से जागरूक है, परन्तु परिस्थितियों के कारण इस समस्या का पूर्ण रूप से निराकरण नहीं कर पाई है। जहां तक हमारी पंचवर्षीय योजना का अधिक महत्वाकांक्षिणी होने का प्रश्न है इसमें कोई सन्देह नहीं कि विशुद्ध आर्थिक दृष्टिकोण से ऐसा ही प्रतीत होता है और लक्ष्यों की तुलना में साधन अपर्याप्त प्रतीत होते हैं, किन्तु अगर आवश्यकताओं के दृष्टिकोण से देखा जाय तो अपने वर्तमान स्वरूप में योजना महत्वाकांक्षिणी नहीं बल्कि अपर्याप्त प्रतीत होगी। मानव जीवन में महत्वाकांक्षी आशाओं एवं अभिलाषाओं का होना प्रगति के लिए नितान्त आवश्यक है। अतः वर्तमान, खाद्य संकट के लिए योजना को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। वास्तव में विरोधी दलों की प्रदर्शन, नारों एवं सत्याग्रह की नीति ने इस समस्या को और भी जटिल बना दिया है। समस्या अधिक उत्पादन की है जिसको नारों एवं प्रदर्शनों से हल नहीं किया जा सकता। इस समय संगठित प्रयास की आवश्यकता है जैसा कि श्री वी० वी० गिरि ने अभी अपने सार्वजनिक भाषण में व्यक्त किया था—

'The demon of unemployment and starvation which had to be fought on a war footing could only be accomplished with a spirit of oneness and a complete sense of unity of all sections of the population sinking all political differences.'

अभी हमारा देश आर्थिक संकट से होकर गुजर रहा है। देश के भविष्य एवं उसके स्वाभिमान का प्रश्न आज हमारे सामने उपस्थित है। हमें आज संगठित

होकर अतिरिक्त खाद्यान्न उत्पादन करके संसार को दिखलाना है कि भारतवासी संकटों से घबराते नहीं, उनका सामना करना जानते हैं। भारत की खाद्य समस्या का समाधान अधिक उत्पादन पर ही निर्भर है। भारत की परीक्षा है। रुकने में मृत्यु है। बढ़ते हुए कदम के आगे बढ़ने में ही आत्म सम्मान की रक्षा है और यही समृद्धि का मार्ग है। जुलाई १९५८ के अंतिम सप्ताह में हमारे प्रधान मंत्री ने उत्तर भारत के गेहूं उत्पादक क्षेत्र में रबी फसल के सम्बन्ध में उत्पादन आन्दोलन चलाने के लिए शिक्षकों, विद्यार्थियों तथा स्वयंसेवकों का जो उच्चस्तरीय सम्मेलन बुलाया था वह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि सरकार हमारी अर्थ व्यवस्था के लिए एक दृढ़ आधार बनाने के लिए दृढ़ संकल्प है। उपज बढ़ाने के लिए राज्य सरकारों को बहुत से ठोस सुझाव जैसे सिंचाई शुल्क की दर संशोधित करके पानी का अधिक उपयोग, अधिक छोटी सिंचाई के साधन, आदि दिए जा चुके हैं। केन्द्रीय खाद्य एवं कृषि मंत्रालय ने यह महसूस किया है कि ये टुकड़े टुकड़े उपाय काफी नहीं है। अतः उसने आगामी रबी फसल में अनाज की उपज बढ़ाने के उद्देश्य से एक वैज्ञानिक और तेज आन्दोलन की योजना तैयार की है। इस प्रकार जनता तथा सरकार के भगीरथ प्रयत्नों के फलस्वरूप अब हमारे धन धान्य से परिपूर्ण होने की आशाएँ पुनः सक्रिय हो रही हैं और इस दिशा में स्पष्ट रूप से स्वर्णिम भविष्य दृष्टिगोचर होने लगा है।



७

सिंचाई व्यवस्था

(Irrigation)

भारतीय कृषि 'वर्षा में जुआ है'। भारतीय कृषि मानसून पर निर्भर है और मानसून सदैव अनिश्चित रहता है। वास्तव में भारतीय कृषक का भाग्य मानसून पर ही निर्भर है। नौल्स के शब्दों में—

"If mansoons fail, there is a complete lockout in Agriculture"

वर्षा ऋतु में भारतीय कृषक आकाश की ओर नीरभरी बादल की टुकड़ी की ओर आशापूर्ण दृष्टि से टकटकी लगाये देखते रहते हैं क्योंकि उसी पर उनके सम्पन्न एवं सुखी भविष्य की कल्पना अवलम्बित है और वही उनका भाग्य है। यदि कहीं वर्षा न हुई तो उनकी सुन्दर भविष्य की कल्पना पर तुषारापात हो जाता है और सर पर विपत्तियों के बादल मंडराने लगते हैं। इसके अतिरिक्त वर्षा के अनियमित होने के कारण स्थानीय विषमतायें भी बहुत हैं। राजपूताना में १०" और आसाम की पहाड़ियों में ३००" से भी अधिक वर्षा होती है। अनिश्चित एवं अनियमित वर्षा के कारण ही लाखों बीघे भूमि पानी के अभाव में परती पड़ी रहती है और लाखों बीघे लहलहाती हुई खेती तृषित सूर्य की प्रचण्ड किरणों से जलकर भस्म हो जाती है। यही कारण है कि सिंचाई के कृत्रिम साधनों की भारत में अत्यन्त आवश्यकता है। सत्य तो यह है कि पानी ही भारतीय कृषि का जीवन रक्त है। सर चार्ल्स ट्रेवेलियन के शब्दों में—

"Irrigation is everything in India Water is more valuable in India than land, because when water is applied to land it increases its productivity atleast six fold and generally a great deal more."

आज खाद्यान्न की कमी की समस्या भारत की प्रमुख समस्या है। वास्तव में इस समस्या के उचित समाधान के बिना राजनैतिक स्वतन्त्रता का कोई भी अर्थ नहीं है। नहरों द्वारा केवल सिंचित क्षेत्र में ही वृद्धि नहीं होगी वरन् बाढ़ एवं दुर्भिक्ष की

समस्याओं का भी अन्त हो जायगा। सत्य तो यह है कि अकाल का सामना करने के लिए, खाद्यान्न की कमी को दूर करने के लिए एवं कृषकों के जीवन को सुखमय बनाने के लिए सिंचाई ही एक मात्र साधन है। देश के विभाजन के पश्चात् जब काफी नहरें पंजाब में पाकिस्तान के क्षेत्र में चली गई हैं, तब तो सिंचाई के साधनों के विकास का महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है। अब तक हम लगभग केवल १० प्रतिशत नदियों के पानी का ही उपयोग कर पाये हैं और बाकी पानी व्यर्थ समुद्र के अन्दर चला जाता है। पटसन, कपास, गन्ना इत्यादि फसलों को प्रोत्साहन देने के लिए तो कृत्रिम सिंचाई के साधनों की ओर भी आवश्यकता है। विद्युत् शक्ति का भी संचार विभिन्न सिंचाई की योजनाओं के साथ पूर्ण किया जा सकता है। कुटीर उद्योग धन्धों के विकास पर भी इस प्रकार सिंचाई की योजनायें महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। इस प्रकार देश की आर्थिक सम्पन्नता एवं औद्योगिक विकास भी सिंचाई के साधनों पर ही निर्भर हैं। उद्देश्य में कृत्रिम सिंचाई के साधनों का महत्व एक ओर तो बाढ़ एवं अकाल से रक्षा करने के लिए है और दूसरी ओर अधिक उत्पादन एवं कृषकों के जीवन में सुख एवं समृद्धि बढ़ाने के लिए है। इन्हीं समस्याओं के समाधान होने पर ही भारत अपनी आर्थिक मोक्ष के स्वप्न को साकार कर सकता है।

भारतीय आर्थिक विकास की मुख्य आधारशिला कृषि ही है जिस पर सारे राष्ट्र की आर्थिक सम्पन्नता निर्भर है। आज भारत जब अपने नव निर्माण के पथ पर शीघ्रता से अग्रसर हो रहा है, सिंचाई की पर्याप्त व्यवस्था नितान्त आवश्यक है। सिंचाई की व्यवस्था से ही कृषकों के जीवन में नई आशा की किरण का प्रकाश फैलाया जा सकता है। कृषक ही भारत की रीढ़ है।

सिंचाई के विभिन्न साधन

कुएँ (Wells)

सिंचाई के विभिन्न साधनों में कुओं द्वारा सिंचाई सबसे प्राचीन एवं महत्वपूर्ण है। कुछ विद्वानों का मत है कि कुएँ केवल कुछ किसानों को ही जीवन दान देते हैं और सिंचित क्षेत्र सीमित रहता है। परन्तु भारत ऐसे देश में जहाँ कृषि छोटे पैमाने पर होती है, खेत दूर दूर बिखरे हुए हैं और सिंचाई के अन्य साधनों का पर्याप्त व्यवस्था का अभाव है, कुओं का महत्व अत्यधिक है। दुर्भिक्ष जाँच आयोग (Famine Inquiry Commission—1945) ने लिखा है—

"कुएँ सिंचाई के सर्वोत्तम महत्व के साधन हैं और अगर सिंचित क्षेत्र में अधिकतम वृद्धि करनी है, तो व्यक्तिगत कूपों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि करना अनिवार्य है।"

कुओं का प्रचलन अधिकतर उत्तरी भारत म विशेषतया उत्तर प्रदेश, पंजाब एव बिहार में है। बम्बई में भी कुओं द्वारा काफी सिंचाई होती है। भारतवर्ष में कुल बोये हुए क्षेत्र का लगभग २५ प्रतिशत भाग कुओं द्वारा सींचा जाता है। भारत म लगभग २६ लाख कुएं हैं।

कुएँ द्वारा सिंचाई के लाभ

कुओं द्वारा सिंचाई के बहुत से लाभ हैं। सर्वप्रथम नहरों क अपेक्षा कुओं के निर्माण म बहुत कम पूंजी की आवश्यकता होती है। इसक अतिरिक्त नहरों में पानी नदियों क द्वारा आता है। गर्मी क दिनों में जब पानी की अत्यन्त आवश्यकता होती है नदियों म आमतौर पर पानी सूख जाता है अथवा कम हो जाता है। ऐसी दशा म नहरों का कोई भी उपयोग नहीं रह जाता। कुओं द्वारा सिंचाई किसी भी समय की जा सकती है। कुएँ कृषकों को आत्म निर्भर बना देते हैं।

नहरों से सभी किसान अपना खेत पहले सींचना चाहते हैं जिसके कारण आपसी मारपीट की नौबत आ जाती है और मुकदमबाजी में काफी रुपया खराब हो जाता है। कुओं पर व्यक्ति विशेष का अधिकार रहता है और इसलिये किसी प्रकार क झगड़े की सम्भावना नहीं रहती है।

नहरों क पानी का मूल्य कृषकों को चुकाना पड़ता है। यह बहुत अधिक होता है। कुओं द्वारा सिंचाई म इस प्रकार का कोई भी खर्च नहीं होता और किसानों की बचत होती है।

ऐसा अनुमान लगाया गया है कि नहरों क पानी की अपेक्षा कुओं के पानी से उत्पादन म वृद्धि होती है। अत कुएँ किसानों की सहूलियत एव उनक आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त लाभप्रद हैं।

भारत मे प्रगति

सन् १९४४ से १९४७ तक 'अधिक अन्न उपजाओ योजना' के अन्तर्गत लगभग ७२,५०० कुओं का निर्माण किया गया और हजारों पुराने कुओं की मरम्मत की गई। सन् १९४७ और १९४९ क बीच लगभग ५६०० नये कुएँ खुदवाये गये। प्रथम पचवर्षीय योजना म कुओं द्वारा लगभग १६ लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई का विस्तार हुआ। परन्तु सिंचित क्षेत्रफल म कोई खास वृद्धि नहीं हुई। सन् १९०२ ३ ई० म कुल सिंचित भूमि ११ ६ मिलियन एकड़ थी। सन् १९३७ ३८ में यह बढ़ कर १२ ७ मिलियन एकड़ हो गई। सन् १९५० म यह १४ मिलियन एकड़ हुई। कुओं क निर्माण म असन्तोषजनक प्रगति के कई कारण हैं। सर्वप्रथम तो कृषकों की आर्थिक कठिनाई है। कर्ज भी उनको बहुत अधिक सूद पर प्राप्त होता है। भूमि

का उपविभाजन एवं उपखण्डन दूसरा मुख्य कारण है। एक किसान के खेत एक जगह पर ही न होकर दूर दूर फैले हुए हैं और इसलिये वह प्रत्येक खेत पर अलग अलग कुएँ नहीं बनवा सकता। इसके अतिरिक्त कुओं का निर्माण उन्हीं स्थानों पर लाभप्रद हो सकता है जहाँ पर पानी बहुत कम गहराई में उपलब्ध हो सके।

नल कूप (Tube Wells)

नल कूप का प्रादुर्भाव भारत की कुओं द्वारा सिंचाई प्रणाली में एक नवीन अध्याय का श्रीगणेश है। यह सिंचाई का एक उन्नत साधन है और देश भर में इसके विकास के लिए प्रचुर क्षेत्र है। तेल के इंजिन अथवा बिजली की शक्ति से मोटर (मशीन) चलाकर ही इतनी गहराई से पानी निकाला जाता है। इस कार्य में अधिकतर बिजली का प्रयोग किया जाता है। भारतवर्ष में इस तरह के कुएँ अधिकतर उत्तर प्रदेश में हैं।

उत्तर प्रदेश में सबसे पहले सन् १९३० ई० में नल कूपों का निर्माण प्रारम्भ हुआ। शुरू में मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, बुलन्दशहर आदि जिलों में ९५ नल कूप बनाये गये। सन् १९३४ से १९४३ तक विभिन्न जिलों में १९५६ नल-कूप तैयार हुए। सन् १९४७-४८ की योजना के अन्तर्गत गोरखपुर, बस्ती तथा देवरिया जिलों में १०० नल-कूप बनाये गये। इसके बाद 'सुहावल शक्तिगृह' तथा 'शारदा विद्युत क्रम' से प्राप्त बिजली द्वारा ४४० नल कूप अन्य जिलों में बनाये गये। अब कुल ४००० नल कूपों द्वारा करीब १० लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई होती है।

सन् १९५० तक भारत भर में कुल २.५ हजार नल-कूप थे। इसके बाद ९५६ नल-कूप 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन के अन्तर्गत बनाये गये जिनमें ४४० उत्तर प्रदेश में, ३०९ बिहार में और २२५ पंजाब में हैं। इसके बाद संयुक्तराज्य अमेरिका के टेक्निकल सहयोग प्रोग्राम (American Technical Cooperation Assistance Programme) के अनुसार २००० नल कूपों का निर्माण हुआ। इनमें ९९५ उत्तर प्रदेश, ३५० बिहार में, ५५५ पंजाब में और ३०० पटियाला में बने। इनके निर्माण में ७ करोड़ रुपया भारत सरकार ने और ७.२६ करोड़ रुपये संयुक्त राज्य अमरिका ने व्यय किये। इसके उपरान्त ७०० नल कूप और बनाये गये। इस प्रकार प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में ५६०० नल कूप तैयार हुए। अब भारत में करीब ८००० नल-कूप हैं।

नल कूपों के निर्माण के सम्बन्ध में भूगर्भवेत्ताओं के दल विभिन्न राज्यों में पड़ताल कर चुके हैं। इसी सम्बन्ध में एक समिति का भी निर्माण किया गया है जिसमें भारत सरकार के खाद्य एवं कृषि विभाग के विशेषज्ञ, जीओलाजिकल सर्वे के

अधिकारी एवं विभिन्न राज्यों के चीफ इंजीनियर शामिल हैं। इस समिति ने भोपाल, विंध्यप्रदेश तथा मध्यभारत के राज्यों का दौरा कर लिया है। इसके बाद अब सौराष्ट्र, कच्छ तथा बम्बई का दौरा करते हुए यह समिति दक्षिणी भारत में नल-कूपों के निर्माण किये जाने की सम्भावनाओं का अध्ययन करेगी।

तालाब (Tanks)

पहाड़ी क्षेत्रों में जहाँ कुओं एवं नहरों द्वारा सिंचाई की व्यवस्था नहीं की जा सकती है, वास्तव में तालाब ही कृत्रिम सिंचाई के लिये एकमात्र सहारा हैं। तालाब द्वारा सिंचाई भी भारत में प्राचीन काल से प्रचलित है और तालाबों का स्थान भी सिंचाई के साधनों में महत्वपूर्ण है। वैसे तो तालाबों द्वारा सिंचाई कुछ न कुछ प्रत्येक राज्य में होती है, परन्तु विशेष रूप से तालाबों का महत्व दक्षिणी एवं मध्यभारत में है। मद्रास, बम्बई, हैदराबाद, मैसूर इत्यादि में इनका विशेष प्रचलन है। शताब्दियों से इन भागों में तालाबों द्वारा सिंचाई का प्रचार है। शुष्क ऋतु में इन जल भंडारों से छोटे-छोटे नाले निकाल कर सिंचाई की जाती है। मद्रास में करीब २४ हजार तालाब हैं जिनसे करीब १६ लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई होती है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल में तालाबों को साफ करने के कार्य पर ५० लाख रुपया खर्च किया जा रहा है ताकि ये अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकें।

छोटी सिंचाई की योजनाओं की प्रगति

कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिये छोटी सिंचाई योजनाओं का महत्व भी कम नहीं है। इन योजनाओं के सम्बन्ध में सबसे बड़ी बात तो यह है कि इन पर खर्च कम होता है, विदेशी मुद्रा की आवश्यकता नहीं पड़ती एवं फल जल्दी मिल जाता है। छोटी सिंचाई की योजनाओं के लिये बहुत शिल्पिक सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ती। लोग स्वयं ही उन्हें पूरा कर सकते हैं। इसका एक लाभ यह भी होता है कि अपने आप योजना को पूरा करने में गाँव के लोगों में आत्मविश्वास पैदा होता है।

नल कूप भी छोटी सिंचाई की योजनाओं के अन्तर्गत आते हैं।

पहली पंचवर्षीय योजना में प्रगति

पहली पंच वर्षीय योजना में जो छोटी सिंचाई की योजनाएँ पूरी हुई हैं उनसे केवल ६.५ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई की जा सकी है। इस भूमि का ब्योरा इस प्रकार है—

बिहार	१७ लाख ७४ हजार एकड़ भूमि
बम्बई	३ „ ४४ „ „

मध्यप्रदेश	× लाख	६५ हजार एकड़ भूमि		
मद्रास	५ ,,	८ ,,		,,
उड़ीसा	१ ,,	३५ ,,		,,
पंजाब	८ ,,	२७ ,,		,,
उत्तर प्रदेश	१४ ,,	८३ ,,		,,
पश्चिमी बंगाल	१२ ,,	१४ ,,		,,
मैसूर	२ ,,	८१ ,,		,,
हैदराबाद	१ ,,	४५ ,,		,,
आन्ध्र	१ ,	७४ ,,		,,
आसाम	८ ,,	६७ ,,		,,
पटियाला	१ ,,	३६ ,,		,,
राजस्थान और सौराष्ट्र	२ ,,	६१ ,,		,,

प्रथम योजना में केन्द्रीय सरकार ने छोटी सिंचाई योजनाओं के लिए ४६ करोड़ ५२ लाख रुपये ऋण के रूप में और ८ करोड़ २५ लाख रुपये सहायता के रूप में दिया है। इसके अतिरिक्त सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय सेवा विस्तार खण्डों में १६ करोड़ रुपये नल कूप बैठाने तथा ७ करोड़ ३४ लाख रुपया अन्य छोटी सिंचाइ की योजनाओं पर खर्च किया गया।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के लक्ष्य

दूसरी योजना में छोटी सिंचाई की योजनाओं से ९० लाख एकड़ भूमि की *सिंचाई का लक्ष्य है। इसमें से आधी भूमि सामुदायिक विकास क्षेत्रों में होगी।* इन योजनाओं के लिये १ अरब २० करोड़ रुपये रखे गये हैं।

राज्यों से जो विवरण प्राप्त हुआ है उससे पता चलता है कि दूसरी आयोजना क पहले दो वर्षों में इन योजनाओं पर काफी खर्च हुआ है। इन दो वर्षों में ३८ लाख ६० हजार एकड़ भूमि की छोटी सिंचाई योजनाओं द्वारा सिंचाई की सुविधा प्राप्त हुई है। इसमें विकास खण्डों में छोटी सिंचाई योजनाओं से जो लाभ हुआ है वह भी *सम्मिलित है।*

केवल सामुदायिक विकास क्षेत्रों में छोटी सिंचाई योजनाओं तथा भूमि सुधार के कामों पर इन दो वर्षों में ११ करोड़ रुपया खर्च हुआ है, जबकि पहली पंचवर्षीय योजना के पूरे काल में ८ करोड़ रुपया खर्च हुआ था।

सन् १९५७-५८ में इन योजनाओं के लिए विभिन्न राज्यों को निम्न प्रकार से रुपया दिया गया था—

आन्ध्र प्रदेश		६३ लाख	७१ हजार
बिहार		६३ ,,	१० ,,
बम्बई	२ करोड़	५५ ,,	८८ ,,
केरल		५३ ,,	
मध्य प्रदेश	२ ,,	४५ ,,	६ ,,
उड़ीसा	१ ,,	२ ,,	४७ ,,
पंजाब	१ ,,	५७ ,,	१५ ,,
उत्तर प्रदेश	२ ,,	७५ ,,	२७ ,,
पश्चिमी बंगाल		८६ ,,	

सन् १९५८-५९ में इन योजनाओं के लिए विभिन्न राज्यों को निम्न राशियाँ दी गई—

बिहार	१	लाख	१७ लाख	१४	हजार	रुपये
बम्बई	१	,,	७२ ,,	×		×
केरल	३	,,	२६ ,,	५६	,,	,,
मध्यप्रदेश	×	×	५४ ,,	×	×	,,
मद्रास	१	,,	७५ ,,	×	×	,,
पंजाब	१	,,	२० ,,	×	×	,,
राजस्थान	×	×	७८ ,,	×	×	,,
उत्तर प्रदेश	२	,,	७३ ,,	६०	,,	,,
पश्चिमी बंगाल	×		६० ,,	५०	,,	,,

यद्यपि इन वर्षों में बहुत सी सिंचाई योजनाएँ पूरी हुई हैं। फिर भी इस प्रगति को सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता क्योंकि छोटी सिंचाई योजनाओं का जो लक्ष्य रखा गया था उसमें से केवल ४० प्रतिशत लक्ष्य की ही पूर्ति हो सकी।

छोटी सिंचाई की योजनाओं को कार्यान्वित करने में बहुत-सी कठिनाइयाँ सामने आयी हैं, जिसमें मुख्य कठिनाई भूमि अधिग्रहण में देरी, शिल्पिक लोगों की कमी डीजल इंजन तथा अन्य सामान की कमी की है।

सामुदायिक विकास की केन्द्रीय समिति ने इस बात पर जोर दिया है कि जो सिंचाई सुविधाएँ प्राप्त हैं उनका पूरा-पूरा लाभ उठाया जाना चाहिये। इस बात को ध्यान में रखते हुये अब नई योजनाओं को शुरू करने के बजाय इस बात पर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिये कि गावों में जो छोटी सिंचाई योजनाएँ पूरी हो चुकी हैं उनकी उचित देखभाल होती रहे।

उपर्युक्त योजनाओं की पृष्ठभूमि में अभावग्रस्त कृषकों का स्वर्णिम भविष्य प्रतिबिम्बित हो रहा है। इन योजनाओं के कारण अभी तक लाखों एकड़ बंजर भूमि लहलहाते हुये खेतों में परिणत हो गई है। निःसंदेह हमारी इन सिंचाई की योजनाओं में एक समृद्धशाली एवं सम्पन्न भारत का स्पष्ट दिग्दर्शन हो रहा है।

नहरें (Canals)

भारत में सिंचाई के कृत्रिम साधनों में नहरों का विशेष महत्व है। भारत में नहरों की लम्बाई लगभग ६०,००० मील है। भारत की समस्त सिंचित भूमि का ४० प्रतिशत भाग नहरों द्वारा सींचा जाता है। नहरों का विस्तार उत्तर प्रदेश तथा पञ्जाब में अधिक है। परन्तु अब तो सिंचाई की बहुमुखी योजनाओं के कारण नहरों का विस्तार अन्य राज्यों में भी तेजी से हो रहा है। रॉयल कृषि आयोग के शब्दों में—

"भारत में नहरों का महत्व अन्य साधनों के सम्मिलित महत्व से भी अधिक है।"

नहरों से सिंचाई की योजना द्वारा केवल कृषि को कृत्रिम सिंचाई का साधन ही नहीं उपलब्ध होता बल्कि कृषकों एवं राष्ट्र को अन्य लाभ भी साथ ही साथ प्राप्त होते हैं—विद्युत शक्ति, बाढ़ नियन्त्रण एवं आन्तरिक जलमार्ग का विकास अन्य लाभ हैं। विद्युत शक्ति द्वारा औद्योगिक विकास में काफी सहायता प्राप्त होती है। आन्तरिक जल मार्ग के विकास से आवागमन के साधनों में वृद्धि होती है। यही कारण है कि नहरों द्वारा सिंचाई का महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है।

नहरों के विकास की ऐतिहासिक समीक्षा

वैसे तो नहरों का निर्माण मुगल बादशाही के समय से प्रारम्भ हो गया था, परन्तु ये प्राचीन नहरें बहुत कम लम्बी थीं और अनित्यवाही या बाढ़ की नहरें थीं और गर्मी में प्रायः सूखी पड़ी रहती थीं और वास्तव में इनकी उपयोगिता नहीं के बराबर थी। अठारहवीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने पर इन नहरों की मरम्मत न हो सकी और ये नहरें नष्ट भ्रष्ट हो गईं। वास्तव में नहरें अंग्रेजों की देन हैं। प्रारम्भ में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने मुगलकालीन नहरों के साफ एवं मरम्मत कराने का कार्य किया और १९वीं शताब्दी के अन्त तक यह नहरें बिल्कुल ठीक हो गईं। इन पुरानी नहरों के जीर्णोद्धार हो जाने से इंजीनियरों को बड़ा प्रोत्साहन मिला और इसके बाद विभिन्न प्रान्तों में मुख्यतः दुर्भिक्ष के कुप्रभावों को कम करने के लिए नहरों के बनाने के प्रयत्न किये जाने लगे। इस प्रकार १८४२

म प्रसिद्ध उत्तरी गंगा नहर बनाने का कार्य प्रारम्भ हुआ। यह नहर आज संसार की सबसे बड़ी नहरों में से एक है जिससे करीब १५ लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई होती है। इसी प्रकार अन्य नहरों का निर्माण भी ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा किया गया। इन नहरों की सफलता ने व्यक्तिगत कम्पनियों को भी नहरों के निर्माण करने का प्रोत्साहन प्रदान किया, परन्तु ये कम्पनियाँ सफल नहीं हो सकीं। व्यक्तिगत साहस की इस असफलता पर सरकार को नहरों के निर्माण के लिए व्यय जुटाने के लिए नई नीति अपनानी पड़ी। नहरों का वर्गीकरण तीन भागों में किया गया—

(१) उत्पादक नहरें (Productive Canals)—ये नहरें वे थीं जो अपने निर्माण होने के बाद दस वर्ष के भीतर जितनी पूँजी उनमें लगी है उसके ब्याज के बराबर आमदनी प्रदान कर सकने में सामर्थ्य हों। ऐसी नहरों के लिए सरकार ने कर्ज लेकर निर्माण करने की व्यवस्था की। परिणामस्वरूप उत्तर प्रदेश, पंजाब, बम्बई तथा सीमाप्रान्त में बड़ी बड़ी नहरों का निर्माण हुआ।

(२) रक्षात्मक नहरें (Protective Canals)—इन नहरों से प्रत्यक्ष रूप से सरकार को कोई आय नहीं होती थी किन्तु ये कार्य दुर्भिक्ष रोकने में सहायता प्रदान करते थे। इनके निर्माण के लिये दुर्भिक्ष कोष से अर्थ-प्रबन्ध की व्यवस्था की गई।

(३) छोटी छोटी नहरें (Minor Works)—ये नहरें वह थीं जो उत्पादक या रक्षात्मक श्रेणी में नहीं आती थीं। इन कार्यों की जिम्मेदारी प्रान्तीय सरकारों पर रक्खी गई।

उपर्युक्त प्रयत्नों के फलस्वरूप नहरों का खूब विकास हुआ और सिंचित क्षेत्र म भी काफी वृद्धि हुई। लाखों एकड़ बंजर भूमि लहलहाते हुए खेतों में परिणित हो गई। परन्तु भारत का क्षेत्रफल देखते हुये यह विकास कुछ भी नहीं था। वास्तव में दासता के कारण जनता में जागृति का अभाव एवं ब्रिटिश सरकार की शिथिल तथा स्वार्थमयी नीति ही इस धीमी प्रगति के मुख्य कारण थे। इसके अतिरिक्त पूँजी एवं टेकनिकल योग्यता का अभाव भी एक बाधा रहे। श्रीमती वेरा ऐन्स्टे के शब्दों में—

"पूँजी और इञ्जीनियरिंग की योग्यता का अभाव, भूमि अधिकार की अनिश्चितता और उसके परिणामस्वरूप स्थायी सुधारों में पूँजी लगाने के प्रति विरक्ति, बार बार आक्रमणों और आन्तरिक राजनैतिक झगड़ों से देश की अराजकता के फलस्वरूप देश में किसी प्रकार के सिंचाई के साधनों का विस्तार न हो सका।"

"Lack of capital and engineering skill, insecurity of tenure and ever recurring invasions and internal political dissension, seriously checked the extension of irrigation."

—Vera Anstey

वास्तव में सन् १६४७ में राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पश्चात् ही जब भारत विदेशी दासता की श्रृङ्खलाओं से मुक्त हुआ, नहरों का पर्याप्त विकास सम्भव हो सका है। सींचाई के विकास की आवश्यक्ता इस कारण और भी बढ़ गई कि देश के विभाजन के कारण पजाब तथा सिंध में स्थित बहुत सी भारत की गौरवपूर्ण नहरें पाकिस्तान में चली गईं और साथ ही साथ देश के सींचित क्षेत्र का २८ प्रतिशत भाग भी चला गया। दूसरी ओर देश में भयकर रूप से खाद्य सकट उत्पन्न हो गया। इसके अतिरिक्त भारत की लगभग ८० प्रतिशत जनता गावों में निवास करती है और कृषि पर निर्भर है। अत. राष्ट्रीय सरकार का सर्वप्रथम यह कर्तव्य हो गया कि देश की अधिकाश जनता आर्थिक सम्पन्नता प्राप्त करे। यह सिंचाई के साधनों में पूर्ण विकास के बिना सम्भव नहीं हो सकता था। राष्ट्रीय सरकार तो राष्ट्र का हित चाहती है। परिणामस्वरूप स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पश्चात् सिंचाई की वृहत योजनाएँ बनाई गईं। इन योजनाओं में कुछ तो एकमुखी और कुछ बहुमुखी हैं।

विभिन्न राज्यों में प्रगति

उत्तर प्रदेश—उत्तर प्रदेश सरकार ने कई योजनाएँ बनाई हैं जिनका विवरण नीचे दिया जाता है—

नौगढ़ बाँध की नहरें—गाजीपुर जिले में कर्मनाशा नदी पर नौगढ़ स्थान के पास बाँध बन चुका है। इसके द्वारा ८०,००० एकड़ भूमि पर सिंचाई होती है। इसके निर्माण पर १.३ करोड़ रुपया व्यय हुआ।

माताटीला बाँध की नहरें—झाँसी में बेतवा नदी पर यह बाँध बनाया जा रहा है। इसके निर्माण का पहला सोपान पूर्ण हो चुका है और दो नहरें भी निकाली जा चुकी हैं जिनसे २.६ एकड़ भूमि पर सिंचाई होती है। दूसरे सोपान के पूर्ण होने पर उत्तर प्रदेश तथा मध्य प्रदेश राज्यों में ४ लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई हो सकेगी। इसकी कुल लागत का अनुमान ८ करोड़ रुपया लगाया गया है।

ललितपुर बाँध—यह बाँध झाँसी में शाहजाद नदी पर बनाया जा रहा है। इससे ६०० एकड़ भूमि पर सिंचाई की जायगी।

नागरा बाँध—यह बाँध नागरा (जिला झाँसी) स्थान पर कर्मनाशा नदी

पर बनाया जा रहा है। इससे मिर्जापुर के आसपास ६०,००० एकड़ भूमि पर सिंचाई की जायगी और चावल पैदा किया जायगा।

बेलन बाँध की नहरें—यह बाँध बेलन नदी पर बनाया गया है इससे नहरें निकाल कर मध्यप्रदेश क रीवा जिले तथा उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद जिले में लगभग १ लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई होती है।

सपरार बाँध की नहरें—यह बाध जिला झाँसी म बनाया गया है जिससे ४०,००० एकड़ भूमि की सिंचाई होती है। मऊरानीपुर से साढे चार मील दक्षिण की ओर करोदा गाव क समीप एक जलाशय बनाकर नहरें निकाली गई हैं जिससे लहरी धसान दोआब में सिंचाई होती हैं।

रगावन बाध की नहरें—यह बाँध केन की सहायक नदी पर बनाया जा रहा है। इस बाँध से ६०,००० एकड़ भूमि की सिंचाई होगी।

अर्जुन बाँध की नहरें—यह बाँध अर्जुन नदी पर जिला हमीरपुर मे चरखारी नगर के समीप बनाया गया है। यह १६००० हजार फुट लम्बा और ७५ फुट ऊँचा है। इससे नहरें निकाल कर २,६७,००० एकड़ भूमि की सिचाई हमीरपुर जिले मे की जाती है। इस पर १ करोड़ रुपया व्यय हुआ।

बेलन नहर योजना—बेलन की सहायक नदी भारार पर एक जलाशय निर्मित किया गया है। इस प्रोजेक्ट का नाम बेलन नहर योजना है। इस योजना का एक भाग सिरसी बाँध है। यह पूर्णरूपेण मिट्टी का बना है जो ढाई मील लम्बा और ७२ फीट ऊँचा है। इसमें ७ करोड़ ७० लाख घनफुट पानी एकत्र होता है और लगभग १,०२,००० एकड़ भूमि की सिचाई होती है। जून सन् १९५५ म यह कार्य पूर्ण कर लिया गया और अब यहां का मनोरम बाँध तथा सिरसी प्रपात पर्यटकों के लिये आकर्षण के केन्द्र बन गये हैं।

बेलन नहर योजना क अन्तर्गत सभी कार्य पूरे हो चुके हैं और उनकी सहायता से सिंचाई हो रही है।

बेनगगा नहर क्रम—बस्ती जिले में उत्तर प्रदेश नेपाल सीमा पर बेन गगा म एक बाध बनाकर नहरें निकाली गई हैं। इस क्रम की नहरों की लम्बाई ६० मील है। इससे जिला बस्ती की २५,००० एकड़ भूमि पर सिंचाई होती है।

द्वितीय पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत प्रारम्भ होने वाली योजनाएँ

नायर बाँध योजना—यह बाँध गगा की सहायक नदी नायर पर गढ़वाल जिले म मरोड़ा स्थान पर बनाया जा रहा है, जहाँ से नहरे निकाल कर २,३७,००० एकड़ भूमि पर सिंचाई की व्यवस्था की जावेगी।

रामगंगा बाँध—रामगंगा नदी पर कालागढ़ (जिला गढ़वाल) स्थान पर बाँध बनाकर नहरें निकाली जायँगी, जिनसे ६,४८,००० एकड़ भूमि की सिंचाई होगी। यह योजना द्वितीय पंचवर्षीय योजना की समाप्ति (१९६१) तक पूरी होगी।

कोठरी बाँध—इस बाँध की नहरों से गढ़वाल तथा बिजनौर जिले के भाबर क्षेत्रों में सिंचाई की जावेगी।

पंजाब की नहरें

विभाजन से पूर्व ही पंजाब प्रान्त में ही नहरों का सबसे अधिक विस्तार था। संसार की सबसे लम्बी नहरें इसी प्रान्त में थी। अब भी पंजाब प्रदेश में काफी नहरें हैं। द्वितीय पंचवर्षीय योजना की अवधि में १३ करोड़ रुपया व्यय करके सिंचाई की सुविधाओं में और विस्तार करने का इरादा है।

नांगल बाँध की नहरें—भाखरा नाँगल योजना के अधीन नाँगल बाँध का निर्माण कार्य जुलाई सन् १९५५ में हो गया। इस बाँध से नहरें निकाल कर करनाल, पटियाला, नाभा, अम्बाला इत्यादि जिलों में सिंचाई की जा रही है।

गुड़गाँव प्रोजेक्ट की नहर—देहली के समीप ओखला के ऊपर की ओर यमुना से एक नहर निकाली जा रही है, जिसमें ११०५ क्यूसेक जल आ सकेगा। इस पर २.३ करोड़ रुपया व्यय होने का अनुमान है और इससे ८ लाख एकड़ से अधिक क्षेत्र पर सिंचाई होगी।

बिहार राज्य की नहरें

सोन बाँध की नहरें—सोन नदी पर देहरी नामक स्थान पर बाँध बनाया गया है जिससे दो बड़ी नहरें निकाली गई हैं।

कनाडा बाँध की नहरें—बिहार मयूराक्षी (मोर) नदी पर मैसनजोर स्थान पर २१७० फुट लम्बा व १५३ फुट ऊँचा बाँध बनाया गया है। इसे कनाडा बाँध कहते हैं क्योंकि इसके निर्माण में कनाडा से अर्थ सहायता प्राप्त हुई है और कनाडा के विदेश मन्त्री ने इसका उद्घाटन किया था। इस बाँध पर बने जलाशय से नहर निकाल कर १३,२७० एकड़ चावल क्षेत्र पर सिंचाई होती है।

गंडक बाँध योजना—गङ्गा की सहायक नदी गण्डक पर त्रिवेणी घाट स्थान पर एक बाँध बनाया जायगा। इससे दो नहरें निकाली जायँगी, जिससे सारन, चम्पारन, मुजफ्फरपुर व दरभंगा जिलों की २३ लाख एकड़ भूमि सींची जायगी। इस योजना के निर्माण में लगभग २५ करोड़ रुपया व्यय हुआ और निर्माण कार्य सन् १९५८ ई० तक लगभग पूरा हो गया।

पश्चिमी बंगाल की नहरें

तिलपारा बाँध की नहरें—तिलपारा मयूराक्षी नदी का एक अंग है। यह बाँध मैसनजोर के कनाडा बाँध से २२ मील नीचे मयूराक्षी नदी पर बंगाल के वीरभूमि जिले में सूरी स्थान के निकट बनाया गया है। यह १०१३ फुट लम्बा है। इससे दो नहरें निकाली गई हैं जिनसे पश्चिमी बंगाल के वीर भूमि, मुर्शिदाबाद तथा बर्दवान जिलों में ६ लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई की जाती है। इससे बिहार राज्य में भी २१,००० एकड़ भूमि सींची जाती है।

दामोदर योजना की नहरें—आसनसोल, हुगली व बर्दवान जिलों के कुछ भाग पर सिंचाई की आवश्यकता होती है। अतः दामोदर नदी से नहर निकाली गई जो उपरोक्त जिलों में २ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई करती है।

द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना के अन्तर्गत योजना

कंगसावती (Kangsavati)—इस योजना के द्वारा ६$\frac{1}{2}$ लाख एकड़ भूमि में सिंचाई होगी।

आन्ध्र प्रदेश की नहरें

गोदावरी डेल्टे की नहरें—गोदावरी नदी की शाखाओं पर डेल्टा प्रदेश में कई बाँध बनाये गये हैं उनसे २५०० मील लम्बी नहरें निकाली गई हैं। इन नहरों से १० लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई की जाती है।

तुङ्गभद्रा योजना की नहरें—कृष्णा की सहायक नदी तुङ्गभद्रा पर हासपेट स्थान के निकट ८००० फुट लम्बा, १६० फुट ऊँचा एक बाँध बनाया गया है और इसकी नहरों से आन्ध्र प्रदेश के २.५ लाख एकड़ क्षेत्र पर सिंचाई करने की योजना है, जिससे लगभग १८ लाख एकड़ कपास मूंगफली व ज्वार बाजरा तथा ५५ हजार एकड़ पर चावल और २५ हजार एकड़ पर गन्ना उगाया जा सकेगा। नहरों का निर्माण कार्य शुरू हो चुका है।

कृष्णा बैरेज प्रोजेक्ट—कृष्णा नदी पर कृष्णा एनीकट से ६० फुट ऊपर की ओर यह बाँध बनाया गया है। जून सन् १९५६ में इसका निर्माण कार्य पूरा हुआ। इससे नहरें निकाल कर डेल्टा तथा ऊपर के क्षेत्र पर ४६ हजार एकड़ भूमि की सिंचाई होती है और इस पर २.३ करोड़ रुपया व्यय हुआ।

राम पद सागर योजना—यह एक बहु ध्येयी योजना है, परन्तु सिंचाई के लिए इसका विशेष महत्व होगा। इससे विशाखापटनम, कृष्णा, गोदावरी और गन्टूर जिलों में लगभग २७ लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई की जायगी। यह बाँध गोदावरी नदी पर पोलावरम के पास बनाया जा रहा है।

गोदावरी घाटी योजना—गोदावरी नदी पर कबायली गोदाम तथा कुस्तपुरम स्थानों पर दो बाँध बनाये जायँगे और इनसे नहरें निकाल कर आंध्र प्रदेश में ३१ लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई की जायगी। यह एक बहु ध्येयी योजना है और इससे २ लाख किलोवाट जल विद्युत् भी पैदा की जायगी। इस योजना पर ६६ करोड़ रुपया व्यय होगा।

कृष्णा पिनार योजना—इस योजना में एक बाँध कृष्णा नदी पर कर्नूल जिला के सिद्धेश्वरम स्थान पर तथा दूसरा बाँध पिनार नदी पर सोमेश्वरम स्थान पर बनाया जायगा। इन बाँधों से निकाली गई ८१० मील लम्बी नहरों से ३० लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई की जायगी। इससे १ लाख २० हजार किलोवाट विद्युत् भी उत्पन्न की जायगी। इस योजना पर ८० करोड़ रुपया व्यय किया जायगा।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत योजना

वमस धारा (Vamasadhara)—इस योजना के द्वारा ३ लाख ६ हजार एकड़ भूमि में सिंचाई होगी।

मद्रास प्रान्त की नहरें

लोअर भवानी योजना की नहरें—यह बाँध कावेरी की सहायक नदी भवानी पर बनाया गया है। इस पर १० करोड़ रुपया व्यय हुआ। यह बाँध ५½ मील लम्बा और १६० फीट ऊँचा है। यहाँ भवानी सागर झील में पानी इकट्ठा किया गया है। इसकी नहरों द्वारा २ लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई की जाती है जिससे लगभग ३३ हजार टन अनाज और १४ हजार टन कपास अधिक उत्पन्न होने लगी है। १४ सितम्बर सन् १९५२ से यहाँ सिंचाई आरम्भ हुई और सर्वत्र हरियाली दृष्टिगोचर होती है।

पेरियार बाँध योजना की नहरें—मद्रास राज्य के सुदूर दक्षिण भाग में पेरियर नदी दक्षिणी भाग से निकल कर पश्चिमी तटीय मैदान पर बहती हुई अरब सागर में गिरती है। इस नदी पर केरल संघ में बाँध बनाकर इसके पानी को रोककर एक बड़ी झील बना ली गई है। इन नहरों की लम्बाई २७० मील है और इसके द्वारा लगभग १ लाख एकड़ क्षेत्र पर सिंचाई होती है।

मैटूर बाँध की नहरें—सन् १९३४ में कावेरी नदी पर मैटूर स्थान पर एक बाँध बनाया गया जिससे एक विशाल झील बन गई। यह बाँध संसार का सबसे बड़ा बाँध समझा जाता है। इसकी नहरों से १३ लाख एकड़ भूमि पर पहले [illegible] से सिंचाई होती थी। अब नई नहरों द्वारा कोयम्बटूर व सलेम जिले में ४५ हजार एकड़ अतिरिक्त भूमि की सिंचाई होने लगी है।

कावेरी डेल्टा की नहरें—कावेरी की शाखा कोलेरून नदी पर ऊपर एनीकट नामक बाँध लगाकर जो नहरें बनाई गई हैं उनकी शाखाओं सहित लम्बाई ४ हजार मील है। इनसे १० लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई की जाती है।

केरल राज्य की नहरें

मालमपुजा बाँध की नहरें—मलाबार जिले में यह बाँध पंचवर्षीय योजना के अधीन सन् १९५३ में बनकर पूरा हुआ और इस पर लगभग ४ करोड़ रुपया व्यय हुआ। इससे ५० हजार एकड़ भूमि पर सिंचाई की जाती है।

बलयार जलाशय की नहरें—इस योजना पर ८५ लाख रुपया व्यय हुआ और इसकी नहरों से ६ हजार एकड़ भूमि सींची जाती है। इसका और विस्तार किया जा रहा है। इस कार्य के पूरा होने की आशा सन् १९५७ के अन्त तक है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत योजना

चूथा थानकेत्तू (Bootha Thankettu)—इस योजना के द्वारा ६३ हजार एकड़ भूमि सींची जायगी। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में १२ करोड़ एकड़ भूमि की सिंचाई का जो लक्ष्य है उसमें से नई योजनाएँ केवल ६ करोड़ एकड़ भूमि को सींचेंगी। ६ एकड़ भूमि की सिंचाई प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत प्रारम्भ हुई योजनाओं से पूरी होगी, जोकि अब लगभग समाप्त होने को है। नवीन सिंचाई योजनाओं का लक्ष्य १५ करोड़ एकड़ भूमि की सिंचाई करना है।

बम्बई राज्य की नहरें

ताप्ती नहर योजना—ताप्ती नदी पर काकरापारा के निकट १६६ फुट ऊँचा तथा ४२ हजार २४० फुट लम्बा बाँध बनाया गया है। इससे बम्बई और अहमदाबाद के बीच ५ लाख ६० हजार एकड़ भूमि पर सिंचाई की जाती है।

मूला योजना की नहरें—मूला नदी पर चौसा नामक स्थान पर एक बाँध बनाया गया है जिससे अहमदनगर जिले में १ लाख ४० हजार एकड़ भूमि पर सिंचाई की जाती है।

काकरापारा नहर बाँध की नहरें—ताप्ती नदी पर काकरापारा स्थान पर २१७५ फुट लम्बा और ४५१ फुट ऊँचा एक बाँध बनाया गया है। इससे नहर निकलकर ६.५ लाख एकड़ क्षेत्र पर सिंचाई की जाती है।

गंगापुर बाँध योजना—यह बाँध गोदावरी नदी पर उद्गम से १२ मील नीचे और नासिक नगर से ८ मील ऊपर बनाया गया है। यह बाँध १२ हजार ५ सौ फुट लम्बा और १४५ फुट ऊँचा है। इस पर जलाशय में ५५० करोड़ घन फुट जल

गृहीत होता है। इस बाँध पर बाईं ओर से एक नहर निकाली गई है जो २५ मील लम्बी है। यह २५ हजार एकड़ भूमि की सिंचाई नासिक जिले में करती है।

इस योजना के द्वितीय सोपान में जलाशय की क्षमता ७२० करोड़ घन फुट हो जावेगी और तब इससे और अधिक सिंचाई हो सकेगी। पूरी योजना पर लगभग ४ करोड़ रुपया खर्च होगा।

द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना के अंतर्गत योजनाएँ

उकाई (Ukai)—इस योजना के द्वारा ६ लाख १४ हजार एकड़ भूमि में सिंचाई होने लगेगी।

खड़कवासला (Khadakwasla)—इस योजना के द्वारा २ लाख ४ हजार एकड़ भूमि सींची जावेगी।

नर्मदा (Narmada)—इस योजना के द्वारा ११ लाख ५० हजार एकड़ भूमि सींची जावेगी।

मैसूर राज्य की नहरें

भद्रा प्रोजेक्ट की नहरें—भद्रा नदी पर एक तंग घाटी के स्थल पर पत्थर का एक बाँध बनाया गया है जो संसार में कदाचित सबसे ऊँचा पत्थर का बाँध होगा। इससे नहरें निकालकर सिंचाई करने तथा जल विद्युत बनाने की योजना है। पूरी होने पर इससे २ लाख ३४ हजार एकड़ भूमि सींची जावेगी, और ४१ हजार किलोवाट जल विद्युत उत्पन्न होगी। इस बाँध के बाईं ओर से एक नहर निकाली जा चुकी है, जो ५० मील लम्बी है। इससे २२ हजार एकड़ क्षेत्र पर सिंचाई होने लगी है। यह योजना सन् १९६१ तक पूरी होगी। इस पर केवल १९ करोड़ रुपया व्यय होगा किन्तु सापेक्ष लाभ बहुत अधिक होंगे।

तुंगा बाँध की नहरें—तुंगभद्रा नदी की सहायक नदी पर शिमोगा से ७ मील दूर ऊपर की ओर १००० फुट लम्बा सिंचाई बाँध बनाया गया है जिससे दोनों ओर से नहरें निकाली गई हैं। इन नहरों से सिंचाई काम सन् १९५४ में शुरू हो गया था, किन्तु बाईं ओर वाली नहर का निर्माण जून १९५५ में पूरा हुआ और अब यह होन्नाली तथा शिमोगा ताल्लुका में सिंचाई करती है। दाईं ओर वाली नहर जून १९५६ में पूरी हुई। इन दोनों नहरों से मैसूर राज्य के २१ हजार ५ सौ एकड़ क्षेत्र पर सिंचाई की जाती है।

प्रमुख बहुमुखी योजनाएँ (Multi purpose Projects)

भारत में स्वाधीनता के प्रभात की स्वर्णिम रश्मियों के प्रकाश के उपरान्त,

प्राय हर दिशा में हमारी राष्ट्रीय सरकार ने आर्थिक एव सामाजिक उत्थान की योज नाएँ कार्यान्वित की है। सिंचाई एव जल विद्युत के क्षेत्र में तो वास्तव में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं। कुछ योजनाएँ तो केवल सिंचाई योजनाएँ हैं और अन्य योजनाएँ ऐसी हैं जिनमें सिंचाई विस्तार, शक्ति विकास और अन्य उद्देश्यों की पूर्ति के दृष्टिकोण को सामने रक्खा गया है। इस प्रकार की बहुमुखी योजनाओं को अधिक महत्व प्रदान किया गया है। इन योजनाओं द्वारा योजना क्षेत्र की अधिकाधिक समस्याओं के समा धान का प्रयत्न किया जाता है। पीने के जल की व्यवस्था, मत्स्योत्पादन के लिये तालाब, मनोरंजन के लिये तैरने के सरोवर, विद्युत-शक्ति उत्पादन, वृक्षारोपण व बाढ नियन्त्रण एव आन्तरिक जलमार्गों का विकास इत्यादि इन बहुमुखी योजनाओं का उद्देश्य होता है।

सारे भारत में कुल १६५ योजनाएँ प्रस्तावित हुईं जिनका अनुमानित व्यय ७०० करोड़ रुपया था। इन सभी योजनाओं को ५ से १० वर्ष में पूर्ण होने की सभा वना है। सन् १९६० तक इन योजनाओं द्वारा लगभग १ करोड़ ६५ लाख एकड़ भूमि सींची जा सकगी और इसके फलस्वरूप करीब ७० लाख टन अधिक अन्न उत्पन्न होने की आशा है। इन योजनाओं से १६ लाख किलोवाट जल विद्युत भी उत्पन्न होगी और अन्य उद्देश्यों की पूर्ति भी की जा सकेगी।

उपर्युक्त योजनाओं के अतिरिक्त १२२ योजनाएँ ऐसी हैं जिनके विषय में अनुसधान तो किया जा चुका है परन्तु धन के अभाव के कारण उनका निर्माण स्थगित कर दिया गया है। इन योजनाओं पर १२०० करोड़ रुपये के व्यय का अनु मान लगाया गया है।

प्रथम पचवर्षीय योजना में कई योजनाएँ पूर्ण हो चुकी हैं। शेष कार्य द्वितीय पचवर्षीय योजना में पूरा किया जायगा। दूसरी योजना में कुछ नई विकास योजनाएँ भी ले ली गई हैं।

दामोदर घाटी योजना

यह एक बहुत महत्वपूर्ण बहुमुखी योजना है। दामोदर नदी में प्रतिवर्ष भय कर बाढ़ आया करती थी। प्रतिवर्ष अपार जन धन की हानि होती थी। अत दामो दर तथा उसकी सहायक नदियों पर सात बड़े बड़े बाँध बनाये जा रहे हैं।

इन सात बाँधों के अतिरिक्त एक और बाँध केवल बिजली उत्पादन करने के लिए बनाया जायगा। इन आठों बाँधों के बन जाने पर दामोदर घाटी में लगभग ३ लाख किलोवाट बिजली उत्पन्न होगी। दामोदर घाटी योजना के अन्तर्गत १० लाख एकड़ भूमि की सिंचाई हो सकेगी।

दामोदर घाटी योजना में तिलय्या, कोनार और दुर्गापूर के बाँध बनकर तैयार हो गये हैं। इसके अलावा बोकारो का ताप-विद्युत शक्ति गृह तथा मुख्य-मुख्य नहरें बन करके तैयार हो चुकी हैं। मैथान और पन्चेत हिल बाँध भी अब बनकर तैयार हो गये हैं। कुल व्यय का अनुमान १०० करोड़ रुपये लगाया गया है।

कोसी बाँध योजना

यह योजना बिहार प्रान्त की है। कोसी योजना के लगभग १५० मील के बाँध में लगभग १४४ मील तक कार्य समाप्त हो चुका है। कोसी योजना (प्रथम भाग) के दूसरे मुख्य कार्य जैसे एक बैराज तथा सिंचाई व्यवस्था का कार्य अब भी शेष है। इससे बिहार में १४ लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई होगी और नेपाल में २६ हजार एकड़ भूमि पर। इससे २० हजार किलोवाट बिजली उत्पन्न की जायगी। करीब ४४.६ करोड़ रुपये व्यय होने का अनुमान है। इसके तैयार होने में १० वर्ष लगेंगे। अभी इसका निर्माण कार्य प्रारम्भ ही हुआ है।

चम्बल बहुमुखी योजना

इस योजना के अन्तर्गत चम्बल नदी पर ३ बाँध बनाये जायेंगे, और प्रत्येक बाँध के पास एक शक्ति-गृह होगा। कोटा (Kota) के पास बैराज (Barrage) है। नदी के दोनों ओर नहरें हैं। चम्बल योजना के पूरी हो जाने पर १·५ लाख किलोवाट बिजली प्राप्त होगी तथा १२ लाख एकड़ भूमि को सींचा जा सकेगा। इस योजना के प्रथम सोपान का कार्य शीघ्रता से हो रहा है उदाहरणार्थ, गाँधी सागर बाँध, कोटा बैराज (Kota Barrage) और नहरें बनाने का कार्य प्रारम्भ हो चुका है। अनुमानित व्यय ४८ करोड़ रुपये हैं और यह कार्य १९६० तक पूर्ण हो जायगा।

हीराकुण्ड बाँध योजना

यह उड़ीसा प्रान्त की योजना है। हीराकुण्ड बाँध उड़ीसा के सबलपुर जिले में महानदी पर बनाया गया है।

इस योजना के अन्तर्गत ३ स्थानों पर ३ बड़े-बड़े बाँध बनाये जायँगे। प्रथम हीराकुण्ड, द्वितीय तिकरपारा, तृतीय नराज। हीराकुण्ड बाँध योजना में दो शक्ति गृह स्थापित किये गये हैं। इन शक्ति गृहों से ३ लाख २० हजार किलोवाट बिजली जमशेदपुर तथा कटक तक को प्राप्त हो सकेगी। इस बिजली की लाइन को मुचकुन्द शक्ति गृह से जोड़ दिया जायगा।

हीराकुण्ड बहुमुखी योजना का प्रथम सोपान अगस्त १९५३ तक पूरा हो गया। इस योजना के द्वारा लगभग १,००,००० किलोवाट बिजली भी प्राप्त होने

लगी है। योजना के पूर्ण हो जाने पर ९ लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई की जा सकेगी और ३ लाख किलोवाट बिजली उत्पन्न होगी। अनुमानित व्यय ७८ करोड़ रुपये है। योजना का शेष कार्य द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना में पूरा होगा।

रिहन्द बाँध योजना

यह उत्तर प्रदेश की बहुमुखी योजना है। मिर्जापुर के पिपरिया नामक ग्राम के पास रिहन्द नदी पर बाँध तैयार किया जा रहा है। रिहन्द बाँध के बिल्कुल समीप ५ यूनिट से सुसज्जित शक्ति गृह स्थापित किया गया है। प्रत्येक यूनिट से ५० हज़ार किलोवाट बिजली उत्पन्न होगी।

इस योजना के पूरा हो जाने पर ३ हज़ार ट्यूबवेल (Tube well) चलाये जायँगे। गंगा, जमुना और घाघरा नदियों के पानी को पम्प करके ४ हज़ार मील लम्बी नहरें निकाली जायँगी। इन नहरों से ३५ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई हो सकेगी। अनुमानित व्यय ४५ करोड़ रुपये है। यह योजना सन् १९६१ तक सम्भवत: पूरी हो सकेगी।

तुंगभद्रा नदी योजना

तुंगभद्रा नदी पर एक बाँध बनाया गया है। इस बाँध से दो नहरें निकाली गई हैं जो कि नदी के दोनों किनारों के क्षेत्रों की सिंचाई करती है। यह दोनों नहरें मैसूर, आन्ध्र और हैदराबाद प्रान्तों में क्रम से ९१,५९८ एकड़, १,५६,९१३ एकड़ और ५,८०,००० एकड़ भूमि में सिंचाई करती हैं। इन शक्ति गृहों से कुल ९३,००० किलोवाट बिजली प्राप्त होगी।

रामपद सागर बाँध

गोदावरी नदी पर ४२८ फुट लम्बा एक बाँध पोलावरम् के पास बनाया जायगा। यह प्रधानत: सिंचाई की योजना है यद्यपि यह भी बहुमुखी योजना है। बाँध के ऊपर से दोनों तरफ एक एक नहर निकाली जायेगी जिनमें से एक विशाखा पट्टम व दूसरी गन्तूर जिलों की भूमि पर सिंचाई करेगी। बाँध के दाँई ओर एक शक्ति गृह बनाया जावेगा जिससे डेढ़ लाख किलोवाट बिजली उत्पन्न होगी। इस योजना पर १३० करोड़ रुपये व्यय का अनुमान किया जाता है। इसके निर्माण में ५ वर्ष का समय लगेगा।

नायर बाँध योजना—

गंगा की सहायक नदी पर जिला गढ़वाल में मरोड़ा स्थान पर हरिद्वार से ५० मील ऊपर ६५५ फुट ऊँचा तथा १५०० फुट लम्बा बाँध बनाया जायगा। यह संसार के सबसे ऊँचे बाँधों में से एक होगा। इस योजना में दूसरा बाँध

१२० फुट ऊँचा गंगा-नायर संगम पर व्यास घाट पर बनेगा। इस योजना से २ लाख ३७ हजार एकड़ भूमि पर सिंचाई की जा सकेगी। मरोड़ा तथा व्यास घाट दोनों स्थानों पर शक्ति गृह बनाये जायँगे जिनसे २६४००० किलोवाट बिजली उत्पन्न की जायगी। इस पर बनी विशाल झील में मछलियाँ उत्पन्न की जायँगी। साथ ही यह स्थान पर्वत-प्रदेशों में जाने वाले लोगों के लिए रमणीक स्थल बन जायगा। इस योजना पर ३३ करोड़ रुपया व्यय होगा तथा इसके बनाने में ७ वर्ष लगेंगे।

रामगङ्गा योजना

यह बाँध गंगा की सहायक नदी रामगंगा पर जिला गढ़वाल में कालागढ़ स्थान पर बनाया जायगा। यह ३३० फुट ऊँचा तथा १८२० फुट लम्बा बाँध होगा। इस योजना से गंगा व रामगंगा के दुआब प्रदेश में ८ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होगी। इस योजना द्वारा ५,००० किलोवाट बिजली भी उत्पन्न की जावेगी। इस योजना पर ४५ करोड़ रुपये खर्च का अनुमान लगाया गया है। इसका निर्माण कार्य शुरू किया जा चुका है।

भाखरा नांगल योजना

इस योजना में भाखरा तथा नांगल दो बाँध सम्मिलित हैं और ये बाँध भारत की सबसे बड़ी योजना है। नांगल बाँध सतलज नदी पर भाखरा बाँध से ८ मील नीचे बनाया गया है। इससे ६६ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होगी। भाखरा स्थान पर बाँध के दोनों ओर एक-एक शक्ति गृह बनाया जायगा। नांगल बाँध से निकाली गई नहर पर तीन शक्ति गृह बनेंगे। दोनों योजनाओं के शक्ति गृहों से ४ लाख किलोवाट बिजली उत्पन्न की जायगी। इस योजना में १३० करोड़ रुपये व्यय का अनुमान किया गया था। इसके निर्माण का कार्य बड़ी शीघ्रता से चल रहा है। नांगल बाँध बनकर तैयार हो चुका है और ८ जुलाई सन् १९५४ को इसकी नहरों का उद्घाटन प० नेहरू द्वारा किया गया था। यहाँ गंगवाल शक्ति-गृह से जलविद्युत तैयार होने लगी है। कोटला शक्ति गृह भी बन चुका है और इससे बिजली प्राप्त होने लगी है।

कोयना बाँध योजना

बम्बई राज्य में कृष्णा की सहायक कोयना नदी पर हेलवाक स्थान पर ८२ फुट ऊँचा तथा २०३० फुट लम्बा बाँध बनाया जायगा। यह प्रधानतः जल-विद्युत् शक्ति के उत्पादन की योजना है। इससे ७२०००० किलोवाट जल विद्युत् उत्पन्न की जावेगी। नहरें निकाल कर ३७००० एकड़ भूमि पर सिंचाई भी की

जावेगी। इस योजना पर ६० करोड़ रुपये व्यय होंगे और यह १९६०-६१ तक बन कर तैयार होगी।

नागार्जुन सागर बहुमुखी योजना

कृष्णा नदी पर नन्दीकोंडा (Nandikonda) नामक गाँव के पास, ३८७ फीट ऊँचा बाँध बनाने का कार्य तेजी से चल रहा है। दिसम्बर सन् १९५५ ई० में प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल जी ने इस बाँध का शिलान्यास किया था। इस योजना के पूरा हो जाने पर ७५ हजार किलोवाट बिजली प्राप्त होगी तथा ३४.०२ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होगी।

प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में सिंचाई की प्रगति

सन् १९५०-५१ में भारत में ५.१५ करोड़ एकड़ भूमि की सिंचाई की जाती थी। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत .६३ करोड़ एकड़ भूमि बड़ी तथा मध्यम श्रेणी की योजनाओं द्वारा अधिक सींची जाने लगी तथा १ करोड़ एकड़ भूमि छोटी योजनाओं द्वारा अधिक सींची जाने लगी। बड़ी तथा मध्यम श्रेणी की योजनाओं के पूर्ण विकास होने पर प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत लगभग ६५ मिलियन एकड़ भूमि सींची जाने लगी है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में सिंचाई तथा जल शक्ति योजनाओं के ऊपर ६७० करोड़ रु० व्यय किये गये, जिसमें से केवल सिंचाई योजनाओं पर ७२० करोड़ रुपये खर्च हुए हैं (८० करोड़ रु० पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ में पहले ही खर्च हो चुके थे)।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में १९५ योजनाओं पर कार्य किया जा रहा है। इसके अलावा वह योजनाएँ तो चालू रहेंगी ही जो प्रथम पंचवर्षीय योजना में प्रारम्भ हो गई थीं। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में बड़े तथा मध्यम श्रेणी के सिंचाई कार्यों में ३८१ करोड़ रु० व्यय करने का प्रबन्ध किया गया है जिसमें २०९ करोड़ रु० प्रथम योजना से द्वितीय योजना तक के समय तक चालू रहने वाली योजनाओं पर खर्च किया जायगा। इन १९५ योजनाओं से यह आशा की जाती है कि १.२ करोड़ एकड़ भूमि में अधिक सिंचाई होने लगेगी। इसके अलावा .९ करोड़ एकड़ भूमि में छोटी योजनाओं द्वारा अधिक सिंचाई की जायगी। इस प्रकार सन् १९६१ में भारत में २१ मिलियन एकड़ अतिरिक्त भूमि में सिंचाई होने लगेगी।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सिंचाई योजनाओं में मध्यम श्रेणी की योजनाओं को अधिक महत्व दिया गया है। १९५ सिंचाई योजनाओं में से १० ऐसी योजनाएँ हैं जिनमें १० करोड़ रु० से ३० करोड़ तक व्यय किये जायँगे और शेष सिंचाई योजनाओं पर ५ करोड़ रु० से कम व्यय किया जावेगा। कुल निर्धारित

लिये हुए रु० में से १७२ करोड़ रु० द्वितीय पंचवर्षीय योजना में व्यय किया जायगा तथा शेष रुपया तृतीय एवं आगे आने वाली योजनाओं पर व्यय किया जायगा।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत शक्ति उत्पादन और सिंचाई योजनाओं के पूरा होने पर ६.५ करोड़ टन (जो कि प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत पैदा होगा) की अपेक्षा १ करोड़ टन अन्न की अधिक उत्पत्ति होने लगेगी। शक्ति उत्पादन में वृद्धि होने से देश में बहुत प्रकार के उद्योग प्रारम्भ हो जायेंगे, विशेष करके लोहा और इस्पात उद्योग तथा भारी मशीनों के बनाने वाले कारखाने। इस प्रकार हमारा देश एक समृद्धिशाली देश हो जायगा।

उपरोक्त सिंचाई योजनाओं में अधिकांशतः बहुमुखी योजनायें हैं। ये संसार में अद्वितीय होने के साथ-साथ हमारे सम्पूर्ण देश को समृद्धिशाली बनाने में सहायक होंगी, क्योंकि जहाँ एक ओर इन योजनाओं के अन्तर्गत उपलब्ध सिंचाई सुविधाओं के फलस्वरूप हजारों एकड़ बंजर भूमि लहलहाते हुए खेतों में परिणित हो जायगी वहाँ साथ ही साथ प्रत्येक गाँव के प्रत्येक घर में जल विद्युत् शक्ति से सचालित छोटी छोटी मशीनों के द्वारा कुटीर उद्योगों में उत्पादित आवश्यक वस्तुओं से न केवल हमारा देश ही भरपूर हो जायगा वरन् हम अपने अभाव ग्रस्त पड़ोसी देशों की जनता की अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकेंगे। पं० नेहरू के शब्दों में—

"ये वस्तुतः देश के नये तीर्थ बन गये हैं, जिन्हें भारतीय श्रद्धा के साथ तथा विदेशी पर्यटक आश्चर्य के साथ देखते हैं।"



८

कृषि-भूमि उपविभाजन एवं उपखंडन

(Fragmentation & Sub division of holdings)

हमारे देश के कृषकों की हीन दशा तथा कृषकों की असहनीय दरिद्रता का मुख्य कारण कृषि भूमि का उपविभाजन एवं उपखंडन है। बिना इस समस्या के उचित समाधान के भारतीय कृषि की उन्नति एवं कृषकों के आर्थिक विकास की कल्पना केवल एक सुखद स्वप्न के समान है। कृषि सुधार की किसी भी योजना के पथ में वह एक मजबूत चट्टान की भांति स्थित है। डा० राधाकमल मुकर्जी के शब्दों में—

"The inefficiency of Agriculture is more due to the small size and scattered nature than due to ignorance or want of alertness on the part of peasants

वास्तव में उपविभाजन एवं उपखंडन आर्थिक ज्वालामुखी हैं जिन्होंने भारतीय कृषि के विकास को भस्म कर दिया है। नोल्स (Knowles) के शब्दों में—

'Land in India is subjected to a continuous series of economic earthquakes owing to sub division

उत्तराधिकार के नियमों के अनुसार पैतृक सम्पत्ति अनेक उत्तराधिकारियों में बराबर बराबर बाँटी जाती है। इस विभाजन के कारण खेत बहुत छोटे छोटे रह जाते हैं। इसके अतिरिक्त एक किसान के सभी खेत एक ही स्थान पर नहीं होते हैं। सभी खेत बिखरे हुए रहते हैं। बटवारा होने पर प्रत्येक उत्तराधिकारी प्रत्येक भूमि पर अलग अलग बटवारा करता है। परिणामस्वरूप भारत में खेतों का क्रमशः उपविभाजन एवं उपखण्डन होता चला जाता है। इन छोटे-छोटे खेतों पर किसी प्रकार का सुधार सम्भव नहीं होता है। कभी कभी तो ये खेत इतने छोटे होते हैं कि कृषकों को जीवित रहने योग्य भी उत्पादन उनसे नहीं प्राप्त होता है। ऐसे अनार्थिक खेतों के परिणामस्वरूप दरिद्र किसानों का जीवन स्तर निम्नतर हो जाता है।

भारत के खेतों का आकार कितना लघु है, यह अन्य देशों की तुलना से और अधिक स्पष्ट हो जाता है।

विभिन्न देश	औसत कृषि प्रति व्यक्ति (एकड़)
अमरीका	१४६
इंगलैंड	६२
डेनमार्क	४२
फ्रान्स	२१
भारतवर्ष—उत्तर प्रदेश	२·५
बिहार एवं उड़ीसा	२·६
आसाम	२·६
बङ्गाल	२·१
मद्रास	३
पञ्जाब	३
बम्बई	५

डा० बलजीत सिंह के शब्दों में—"It has been carried to ludicrous extent in some areas like Ratnagiri, for instance, where plots have been reduced to the size of 1/160 of an acre. Such pocket handkerchiefs strips are common in all the parts of the country."

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि खेत छोटे-छोटे और दूर दूर बिखरे होने के कारण मशीनों के प्रयोग के लिए सर्वथा अयोग्य हैं। वास्तव में भारतीय कृषक इन छोटे टुकड़ों पर अपने मरियल बैलों एवं छोटे से लकड़ी के हल का भी उपयोग ठीक प्रकार नहीं कर सकता। ऐसी दशा में प्रति एकड़ कृषि उत्पादन कम होना स्वाभाविक ही है। यह छोटे छोटे खेत भारतीय कृषक की दरिद्रता के आँसू पोंछने में सर्वथा अयोग्य हैं। भारतीय कृषि को उन्नत करने के लिए, किसानों की आर्थिक अवस्था सुधारने के लिए, एवं राष्ट्र का आर्थिक विकास करने के लिए इन छोटे खेतों को, जो भारत माता के शरीर पर कोढ़ के दाग के समान हैं, हटाना ही पड़ेगा, अन्यथा किसी भी प्रकार का सुधार नहीं सम्भव हो सकता है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि खेत का आकार उचित होने पर, खेतों में बिना किसी सुधार के ही, कृषकों की आय कम से कम २० प्रतिशत बढ़ जाती है।

उपविभाजन एवं उपखण्डन के कारण—

भारत में उपविभाजन एवं उपखण्डन के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं—

(i) उत्तराधिकार के नियम—हिन्दुओं तथा मुसलमानों के उत्तराधिकार के नियम अन्तर्विभाजन एवं भूमि खण्डन के प्रमुख कारण हैं। डा० मुकर्जी के शब्दों में :—

"यह रिवाज कि कुटुम्ब के पुरुष उत्तराधिकारियों में पैतृक सम्पत्ति बराबर बाँटी जाय, इस भूमिखण्डन का एकमात्र कारण है।"

हर एक उत्तराधिकारी हर प्रकार की भूमि में, हर एक कुएँ में, हर एक तालाब में, हर एक मकान में, चरागाह में और यहाँ तक कि छोटे छोटे खेतों में बराबर का हिस्सा माँगता है। परिणामस्वरूप खेतों की संख्या क्रमशः बढ़ती जाती है और वह छोटे छोटे एवं बिखरे हुए होते जाते हैं। मुसलमानों में सम्पत्ति पर स्त्रियों का भी अधिकार होने के कारण और भी भयङ्कर परिणाम होते हैं। श्री पी० पी० जैन ने सहारनपुर जिले के एक मुसलमान जमींदार के बारे में लिखा है कि उसकी ७२ बीघे जमीन जो २४ खेतों के रूप में थी उसकी मृत्यु के बाद उसकी पत्नी, दो लड़के, एक लड़की और एक बहू के बीच १०८ खेत बनकर बँट गई।

(ii) खेती करने के ढङ्ग—प्रत्येक व्यक्ति पैतृक भूमि में हर प्रकार की भूमि पर अपने बराबर का हिस्सा चाहता है, इसका मुख्य कारण खेती करने का ढंग भी है और भारतीय कृषि की मानसून पर अत्यधिक निर्भरता भी है। भूमि के बटवारे के समय वर्षा का भी ध्यान रक्खा जाता है। इसके अतिरिक्त फसलों के आवर्तन (Rotation of Crops) का भी रिवाज है। भूमि की उर्वरा शक्ति कायम रखने के लिए अपदा (Fallow) भूमि रखना अनिवार्य हो जाता है। परिणामस्वरूप खेतों का छोटा होना अनिवार्य हो जाता है। भारतीय कृषक निर्धनता के कारण हल तथा बैलों का उपयोग ही करता है। ये बड़े-बड़े फार्मों पर खेती करने के अनुकूल नहीं होते। परिणामस्वरूप किसान छोटे-छोटे खेतों को ही पसंद करता है। इसके अलावा हमारे यहाँ की कुछ फसलें भी कुछ स्थानों पर छोटे छोटे खेत हो जाने का कारण हैं। उदाहरण के रूप में चावल के खेतों में पानी निकालने और धान को दुबारा लगाने की आवश्यकता होती है, इसलिए खेतों का छोटा होना आवश्यक हो जाता है।

(iii) जनसंख्या में वृद्धि—जनसंख्या की वृद्धि ने उपखण्डन एवं उपविभाजन को और भी अधिक उग्र रूप दे दिया है। जब तक खाली भूमि पर्याप्त मात्रा में प्राप्त थी तब तक तो इस वृद्धि का भूमि पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। परन्तु जनसंख्या बढ़ने के कारण भूमि पर भार बहुत बढ़ गया है। देश में औद्योगिक विकास न होने के कारण अधिकतर लोग कृषि पर ही निर्भर हैं। कृषि ही भारत का मुख्य धंधा है।

परिणामस्वरूप जनसंख्या के आधिक्य के कारण उपविभाजन एवं उपखण्डन और अधिक बढ गया। जितने अधिक व्यक्ति होते हैं उतने ही भागों में भूमि का आपसी बँटवारा होता है।

(iv) संयुक्त परिवार प्रथा का छिन्न-भिन्न होना—यदि केवल जनसंख्या में ही वृद्धि हुई होती तो शायद इतने अधिक अन्तर्विभाजन की नौबत न आती। संयुक्त परिवार प्रथा में आपसी बँटवारे की कोई जरूरत नहीं रहती। पाश्चात्य देशों के प्रभाव के कारण व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना का प्रादुर्भाव हुआ। परिवार का प्रत्येक व्यक्ति अपनी उन्नति की अभिलाषा रखता है और सम्पत्ति के बँटवारे का प्रयत्न करता है। यही कारण है कि आज भी जहाँ जहाँ संयुक्त परिवार जीवित हैं वहाँ के खेत पर्याप्त बड़े हैं।

(v) व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना—पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव पड़ने से एवं आर्थिक सङ्कट के कारण व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना अत्यन्त प्रबल हो गई है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आर्थिक उन्नति सबसे पहले चाहता है। अतः प्रत्येक कुटुम्ब में हर एक सदस्य अपना अलग भाग लेकर कुटुम्ब से अलग रहना चाहता है। यहाँ तक कि माता-पिता के प्यार को भी लोग तिलांजलि दे देते हैं। परिणामस्वरूप देहातों में भूमि का उपखंडन होता चला जाता है।

(vi) रहन-सहन का स्तर एवं सामाजिक वातावरण—रहन सहन के स्तर के निम्न होने के कारण भूमि का क्रय-विक्रय छोटे-छोटे खेतों के ही रूप में हो पाता है। निर्धनता के कारण किसान एक ही स्थान पर एक ही समय अधिक भूमि खरीदने में असमर्थ होते हैं। इसका परिणाम उपखंडन होता है। इसके अतिरिक्त सामाजिक वातावरण का भी प्रभाव भूमि के विभाजन एवं उपखंडन पर पड़ा है। भारतीय समाज में किसी व्यक्ति के पास भूमि का होना प्रतिष्ठा एवं गौरव का प्रतीक समझा जाता है। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति कुछ न कुछ कृषि के लिए भूमि अवश्य रखना चाहता है जिसका परिणाम उपविभाजन एवं उपखंडन होता है।

(vii) पैतृक भूमि के प्रति मोह एवं श्रद्धा—भारतवासियों में पैतृक सम्पत्ति के लिये मोह रहता है। यहाँ तक कि लोग भूखों मरना पसन्द करते हैं न कि पैतृक भूमि का बेचना। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति पैतृक भूमि में अपना हिस्सा चाहता है जिसके कारण भूमि का उपखंडन एवं उपविभाजन होता है।

(viii) ग्रामीण रीति रिवाज—भारत में यह प्रथा है कि लोग अपने सेवकों जैसे धोबी, नाई, चमार इत्यादि को मजदूरी के बदले में एक या दो बीघे भूमि दे देते हैं। जमींदारों के समय में तो इस प्रथा का बहुत ही चलन रहा। परिणामस्वरूप भूमि का उपखंडन हुआ।

(१) ग्रामीण ऋणग्रस्तता—निर्धनता के कारण भारतीय कृषक ऋणग्रस्त हैं। वे ऋण म ही जन्म लेते हैं, ऋण म ही जीवन व्यतीत करते हैं और ऋण का बोझ लेकर ही इस ससार से प्रस्थान करते हैं। महाजन लोग खेतों को गिरवी रखकर ही कृषकों को रुपया उधार देते है। विभिन्न किसानों के खेत भिन्न भिन्न स्थान पर होते हैं। कर्ज के भुगतान न होने पर ये खेत महाजनों के पास चले जाते हैं। परिणाम स्वरूप भूमि का उपखडन होता चला जाता है।

(२) कुटीर उद्योग धन्धों का विनाश—वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ म ग्रामीण उद्योगों का पतन हुआ और आधुनिक उद्योग धन्धे जनसख्या की वृद्धि के अनुसार विकसित नहीं हो सके। इस कारण भी भूमि का उपविभाजन एव उपखडन बढ गया। छोटे छोटे उद्योगों के पतन से और दूसरे पेशों के अभाव में कारीगरों को खेती की ओर झुकना पड़ा और फलस्वरूप खेतों का उपविभाजन होने लगा। यदि इस पतन के साथ साथ और जनसख्या की वृद्धि के अनुसार आधुनिक उद्योग धन्धों का भी विकास होता रहता तो बढती हुई जनसख्या इन उद्योगों म लग जाती और भूमि पर जनसंख्या का भार न बढ़ता। किन्तु ऐसा नहीं हुआ और भूमि का उपविभाजन और उपखडन बढ़ता चला गया।

उपविभाजन एव उपखडन के लाभ

भूमि के उपविभाजन एव उपखडन के कुछ लाभ भी हैं जो निम्न लिखित है—

(1) आर्थिक आत्म निर्भरता (Economic stability)—भूमि के इस प्रकार विभाजन के कारण अधिकाश लोगों के पास भूमि हो जाती है और वे कृषि करके किसी प्रकार अपने परिवार का भरण पोषण कर सकते हैं। उपविभाजन द्वारा सम्पत्ति का अधिक विस्तृत वितरण हो जाता है और इस प्रकार प्रत्येक पुरुष सदस्य को जीवन प्रारम्भ करने के लिए एक सहारा मिल जाता है। इससे बहुत से किसान बन जाते हैं जिससे देश म राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक स्थिरता आती है।

(ii) अधिक परिवारों का भरण पोषण एव समाजवादी अर्थव्यवस्था—छोटे छोटे खेत होने पर प्रत्येक व्यक्ति को कुछ न कुछ खेत अवश्य मिल जाते हैं। छोटे खेतों पर मशीनों का उपयोग न होने के कारण अधिक श्रमिकों को भी काम मिल जाता है। इस प्रकार उपविभाजन द्वारा अधिक परिवारों का भरण-पोषण सम्भव हो जाता है। बड़ी बड़ी जोतें तो कुछ व्यक्तियों के ही हिस्से में आ सकती हैं, जिनसे पूँजीवाद का प्रादुर्भाव होता है। भारत जैसे देश में जहाँ बेकारी बुरी तरह फैली हुई

है, छोटे-छोटे खेत अधिक लोगों को जीविका प्रदान कर सकते हैं। विभिन्न लोगों के पास छोटे छोटे खेत होने के कारण आर्थिक समानता आती है और पूँजीवादी शोषण का अन्त हो जाता है।

(iii) कुशल उत्पादन—अधिक लोगों के पास छोटे छोटे खेत होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति खेतों की देख भाल उचित रूप से कर सकता है और गहरी खेती भी सम्भव हो जाती है। बड़ी बड़ी जोतों को किसान ठीक प्रकार से नहीं कमा पाते हैं। भूमि थोड़ा होने के कारण किसान अधिक से अधिक परिश्रम करता है जिसके कारण उत्पादन में वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त भारतीय कृषक निर्धनता के कारण पुराने हल बैल से ही खेती करता है। यह तभी उपयोगी हो सकता है जब खेत छोटे हों।

(iv) फसलों की रखवाली के व्यय में कमी—खेतों के अन्तर्विभाजन हो जाने के कारण प्रत्येक व्यक्ति अपने भाग का रखवाली करता है। इस प्रकार किसी एक ही व्यक्ति को रखवाली की आवश्यकता नहीं रहती। जगली जानवरों से फसलों की रक्षा की जा सकती है।

(v) न्यायपूर्ण व्यवस्था—उपखण्डन के कारण विभिन्न प्रकार की उर्वरा शक्ति वाली भूमि का वितरण हो जाता है और प्रत्येक व्यक्ति को खराब और अच्छी दोनों ही प्रकार की भूमि मिलती है। भारत जैसे देश में जहा कि वर्षा इतनी अनिश्चित है, यह बात बड़े महत्व की है। डाक्टर मुकर्जी के शब्दों में—

"जिस देश मे वर्षा इतनी अनिश्चित हो वहां खेतों का विभिन्न प्रकार की भूमियों में छिटका होना अत्यन्त लाभप्रद है।"

भारतीय कृषक सदा इस बात से डरता है कि वर्षा न होने या सिंचाई के अभाव में यदि खेतों को कोई क्षति पहुँचती है और उसके सब खेत एक ही स्थान पर हैं तो उसकी सारी फसल नष्ट हो जायगी। ऐसी स्थिति में वह यह हितकर समझता है कि कोई खेत कहीं पर हो और कोई कहीं दूसरे स्थान पर जिससे कम से कम उसका निर्वाह तो हो सके।

(vi) जोखिम का वितरण—खेतों के छोटे-छोटे एव बिखरे हुए रहने के कारण गाव के अनेक भागों में कृषक की कुछ न कुछ भूमि रहती है जिससे बाढ़, टिड्डी तथा अन्य प्राकृतिक सकटों के आने से उसकी सारी फसल नष्ट हो जाने से बच जाती है क्योंकि एक हिस्से की क्षतिपूर्ति दूसरे हिस्से से हो जाती है। यदि सभी भूमि एक स्थान पर हो तो सारी फसल ही नष्ट होने की सम्भावना रहती है।

(vii) फसलों का आवर्तन (Rotation of crops)—फसलों के हेर-फेर के हित में भारतीय कृषक यह आवश्यक समझते हैं कि खेतों के अलग

अलग टुकड़े हों ताकि उर्वरता व सिंचाई इत्यादि की सम्भावनाओं को देख कर प्रत्येक टुकड़े में उपयुक्त फसल बोई जा सके। विभिन्न प्रकार की फसलों की खेती भारतीय जलवायु में खेती के जोखिम को कम करने के लिये अत्यन्त आवश्यक है। भूमि की उर्वरा शक्ति कायम रखने के लिये भी आवर्तन आवश्यक होता है।

उपखण्डन एवं उपविभाजन के दोष

यह सत्य है कि भारत में कृषि में मशीनों का प्रयोग लाभप्रद नहीं होगा और गहरी खेती की आवश्यकता है और इसलिए खेतों का छोटा होना ठीक है। परन्तु उपविभाजन एवं उपखंडन की भी एक सीमा होती है। यहाँ पर खेत इतने छोटे हो गये हैं कि उनमें मामूली हल बैल का भी उपयोग नहीं किया जा सकता। अत्यधिक अन्तर्विभाजन एवं भूमिखंडन के कारण ही इस समस्या का रूप अत्यन्त भयंकर हो गया है। उपविभाजन तथा उपखंडन की बुराइयाँ इतनी गम्भीर हैं कि उनके सामने इसके सभी गुण लोप हो जाते हैं जैसा कि निम्नलिखित विवेचन से स्पष्ट है—

अत्यधिक अन्तर्विभाजन का फल यह होता है कि किसान हल और बैल भी नहीं रख सकता और उसे अपने फावड़े से ही काम करना पड़ता है। खेतों के छिटके होने से अनाज का उत्पादन व्यय बढ़ जाता है और भूमि का कुल उत्पादन गिर जाता है। सन् १९२४ में उत्तर प्रदेश की चकबन्दी की रिपोर्ट में यह अन्दाज लगाया गया था कि प्रत्येक ५०० मीटर की दूरी पर कृषि की लागत ५·३ प्रतिशत बढ़ जाती है, और खाद ले जाने में तथा फसलों को स्थानान्तरित करने में तो यह व्यय क्रमशः २० से ३५ प्रतिशत तथा १५ से ३२ प्रतिशत तक बढ़ जाता है।

(क) **वैज्ञानिक कृषि का अभाव**—छोटे-छोटे खेतों पर वैज्ञानिक ढंग से खेती नहीं की जा सकती क्योंकि उनमें अच्छे बीज, अच्छी खाद तथा आधुनिक मशीनों का पूर्ण उपयोग नहीं हो सकता। भारत में कुछ खेत तो इतने छोटे हैं कि कृषक अपने हल बैल तथा अन्य साधनों का पूर्ण उपयोग ही नहीं कर पाता है। भारत में यह आमतौर पर देखा जाता है कि वर्ष के अधिकांश भाग में किसान और बैल दोनों बेकार पड़े रहते हैं और उनका खर्च बेकार में उठाना पड़ता है।

(ख) **खेतों पर स्थायी सुधार सम्भव नहीं होता**—खेतों के बिखरे एवं छोटे होने पर प्रत्येक खेत पर स्थायी सुधार सम्भव नहीं होता। उदाहरण के रूप में प्रत्येक खेत पर अलग-अलग कुएँ नहीं बनवाये जा सकते। प्रत्येक खेत की अलग-अलग चहारदीवारी नहीं खिंचवाई जा सकती। इसका परिणाम यह होता है कि

अत्यन्त दीर्घ सख्या में खेत बिना किसी पर्याप्त सिंचाई के साधन के सूखे पड़े रहते हैं। इससे पैदावार की अपार क्षति होती है।

(ग) समय तथा शक्ति का ह्रास—किसानों का बहुत समय, धन तथा शक्ति व्यर्थ में एक खेत से दूसरे खेत पर बैल तथा अन्य औजार ले जाने में लग जाता है।

(घ) उचित निरीक्षण का अभाव—खेत बिखरे होने के कारण एक व्यक्ति अपने सभी खेतों का निरीक्षण करने में असमर्थ होता है। यदि सभी खेत एक जगह पर हों तो नौकरों द्वारा भी निरीक्षण सम्भव हो सकता है। परन्तु खेत बिखरे होने हर प्रत्येक खेत के लिये अलग-अलग नौकर भी नहीं रखे जा सकते। उचित निरीक्षण के अभाव में फसलें जगली जानवरों द्वारा नष्ट हो जाती हैं और किसानों को नुकसान उठाना पड़ता है।

(ङ) बेकारी की समस्या—प्रायः किसान साल में ५ महीने बेकार रहता है क्योंकि छोटी-छोटी जोतों में पूरे साल के लिये काम ही नहीं रहता। यह अर्द्ध बेकारी की समस्या पूर्ण बेकारी से भी अधिक दुरूह है।

(च) भूमि की उर्वरता का ह्रास—जो खेत गाँव के निकट होते हैं वे अत्यधिक गहरी खेती के कारण धीरे धीरे कम उर्वर होते जाते हैं और गाँव से दूर खेत अक्सर पूरी तौर पर जोते ही नहीं जाते। जनसख्या का भूमि पर भार अधिक होने के कारण अत्यधिक गहरी खेती की जाती है। यहाँ तक कि भूमि की प्राकृतिक उत्पादन शक्ति तेजी से क्षीण होती चली जाती है। अनार्थिक जोत के कारण किसानों के पास पर्याप्त धन नहीं होता कि वे रसायनिक खादों का प्रयोग कर सकें अथवा नवीन वैज्ञानिक साधनों का उपयोग कर सकें। इस प्रकार वे भूमि की उर्वरा शक्ति के ह्रास को पूर्ण करने में असमर्थ होते हैं।

(ii) भूमि क्षेत्र का दुरुपयोग—भूमि के उपविभाजन के कारण खेतों में मेड़ें बनवाना अनिवार्य हो जाता है। इस प्रकार जितना अधिक उपविभाजन होता है उतनी ही अधिक मेड़ें होती हैं। यदि सभी खेत एक स्थान पर हों तो मेड़ों के रूप में बहुत-सी भूमि व्यर्थ न जाय। पजाब में की गई जाँचों से पता चला है कि इस प्रथा के फलस्वरूप ५ प्रतिशत भूमि की तो कभी जुताई ही नहीं होती।

(iii) मुकदमेबाजी तथा अपव्यय—खेत बिखरे होने के कारण प्रत्येक किसान अपने खेत को पहले सींचना चाहता है ताकि वह अन्य खेतों को भी सींच सके। नहरों के पानी द्वारा ही अधिकतर सिंचाई होती है। गर्मी के दिनों में नहरों के पानी का अभाव रहता है। परिणामस्वरूप आपस में फौजदारी होती है और मुकदमेबाजी में बेकार रुपया खर्च होता है। इसके अतिरिक्त मेड़ों के मामले में भी बहुत से झगड़े होते रहते हैं और मुकदमेबाजी होती रहती है।

(iv) **सहयोग की भावना का अन्त**—खेतों के उपविभाजन के कारण लोगों मे, यहाँ तक कि एक ही कुटुम्ब के सदस्यों में एकता एव सहयोग की भावना नहीं रहती। आज भारत में कोई भी ऐसा गाँव नहीं है जहाँ पर पार्टीबन्दी एव आपसी मनमुटाव न हो। उपखडन के कारण ही एक कुटुम्ब के प्रत्येक सदस्य प्रत्येक भूमि पर बॅटवारा माँगते हैं और बॅटवारे के लिये झगड़ा करते हैं। मि० जी० एन० एन्टरसन के शब्दो मे—

"They will go so far as to fight over the partition of honey on the branch of a tree They have even been known to fight over the partition of the shade of a tree, not its fruits nor its branches."

उपर्युक्त भावना का प्रादुर्भाव केवल उपखडन एव उपविभाजन के कारण ही हुआ है।

(v) **कृषकों की निधनता एवं ऋणग्रस्तता**—वास्तव मे भारत की अनार्थिक जोतें ही भारतीय कृषक की दरिद्रता का मुख्य कारण है। इन छोटे छोटे एव बिखरे हुए खेतो पर उत्पादन तो कम होता ही है, इसके साथ ही उनको पूरे वर्ष तक काम देने के लिए ये जोतें अपर्याप्त होती हैं। इसके कारण उनकी आर्थिक दशा खराब रहती है। उत्पादन कम होने के कारण किसान अपनी फसल को स्वय बाजार मे ले जाकर बेचने मे असमर्थ पाता है। प्राय किसान अपनी उपज को गाँव मे ही बनिए या महाजन को सस्ते दामों पर बेच देता है। आर्थिक दशा खराब होने के कारण महाजन से ऋण लेना पड़ता है जिस पर ब्याज की दर बहुत अधिक होती है। ऋणग्रस्त होने का मुख्य कारण कृषकों की निर्धनता ही है और उनकी आर्थिक उन्नति में उपविभाजन एव उपखडन एक बहुत बड़ी बाधा है।

(vi) **जानवरों के पालने मे कठिनाई**—छोटे-छोटे खेतों से पशुओं के लिये चरागाह न बाड़ बनाने में बाधा होती है। डा० मुकर्जी का कथन है—"अत्यधिक भूमिखडन से केवल कृषि का ही ह्रास नहीं होता बल्कि एक बहुत बड़ी हानि यह होती है कि पर्याप्त जानवरों को नहीं पाला जा सकता।"

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय कृषि की कार्यक्षमता पर भूमि के उपविभाजन एव उपखडन का बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। वास्तव में उपविभाजन एव उपखडन भारतीय कृषि मे किसी भी प्रकार के सुधार के लिए चुनौती है। डा० मैन के शब्दों में—

"उपविभाजन एव उपखडन साहस की भावना नष्ट कर देता है, श्रम की अपार हानि करता है, मेड़ों के कारण बहुत सी भूमि नष्ट कर देता है, जोतों की गहरी

कमाई जितनी होनी चाहिये नहीं हो पाती, और जिन लोगों के पास अधिक पूँजी है अच्छी कृषि सम्पत्ति खरीद कर कृषक बनने से रोकता है।"

वास्तव में यह समस्या भारतीय कृषि की एक गम्भीर समस्या है जिसके सुलझाये बिना देश का आर्थिक विकास सम्पन्न नहीं हो सकता। किसानों की आर्थिक सम्पन्नता एवं देश का उत्पादन बढ़ाने के लिए इस समस्या का उचित समाधान आवश्यक है। मि० जान रसैल (John Russell) के शब्दों में—

"The fragmentation of holdings in India is a more deep seated matter and may be incapable of remedy, yet unless some solution is found, the rate of progress must be extremely slow."

उपविभाजन एवं उपखंडन को दूर करने के उपाय

खेतों का अन्तर्विभाजन एवं दूर दूर बिखरे होना भारतीय कृषि की एक गहन एवं दुरूह समस्या है जिसका शीघ्रातिशीघ्र हल होना आवश्यक है। कृषि में सुधार एवं कृषकों की आर्थिक उन्नति के लिए आर्थिक जोतों (Economic Holdings) का होना आवश्यक है। इस समस्या को हल करने के लिए निम्नांकित दो प्रकार के उपाय हैं—

(१) प्रतिबन्धक (Preventive) उपाय जिससे और अधिक उपविभाजन एवं उपखंडन न हो।

(२) चकबन्दी एवं सहकारी कृषि प्रणाली जिसमें मौजूदा अनार्थिक जोतों को खत्म किया जा सके।

प्रतिबन्धक उपाय (Preventive Measures)

(क) बटवारे की रोक थाम—बटवारे बन्द कर देने पर संयुक्त परिवार के सदस्य कृषि भूमि का बँटवारा नहीं करा सकेंगे जिससे और अधिक उपविभाजन सम्भव नहीं हो सकेगा।

(ख) उत्तराधिकार के नियमों में परिवर्तन—यदि यह कानून बना दिया जाय कि पैतृक भूमि केवल परिवार के सबसे बड़े पुरुष सदस्य को ही प्राप्त हो सकेगी और दूसरे पुरुषों का अधिकार नहीं रहेगा तो भी उपविभाजन की समस्या हल की जा सकती है।

(ग) आर्थिक जोतों का कानून द्वारा निर्धारण—सरकार द्वारा विभिन्न भागों में स्थानीय दशाओं के अध्ययन के पश्चात् आर्थिक जोतों का निर्धारण कर देना चाहिये। जिन व्यक्तियों की अनार्थिक जोतें हों उनको वे सुविधाएँ न देनी

चाहिये जो उन लोगों को हों जिनकी जोतें कानूनन आर्थिक हों। इससे आर्थिक जोतों को प्रोत्साहन मिलेगा। इसके साथ ही साथ प्रत्येक व्यक्ति के लिए भूमि की अधिकतम मात्रा भी निश्चित कर देनी चाहिये।

(घ) संयुक्त प्रबन्ध (Joint Management)—यदि कुछ किसान आपस में एक निश्चित भूमि पर एक साथ मिलकर कार्य करें और बाद में भूमि के क्षेत्रफल के अनुसार कुल उपज बाँट लें तो भी उप-विभाजन की समस्या हल हो सकती है। परन्तु संयुक्त प्रबन्ध भारतवर्ष में जहाँ व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना कूट कूट कर भरी हुई है असम्भव सा प्रतीत होता है।

(ङ) भूमि का राष्ट्रीयकरण—भूमि का राष्ट्रीयकरण भी उपविभाजन एवं उपखण्डन की समस्या को हल कर सकता है। यदि सरकार भूमि का राष्ट्रीयकरण करके उसका वितरण विभिन्न कृषकों में आर्थिक जोत के आधार पर कर दे तो समस्या सुलझ सकती है। परन्तु यह उपाय भी भारत में सम्भव नहीं है क्योंकि विभिन्न व्यक्तियों की भूमि लेने पर उनको भूमि का मूल्य देना पड़ेगा और राष्ट्र के पास इस समय इतने साधन नहीं हैं कि उनके भुगतान से समस्या सुलझाई जा सके।

चकबन्दी (Consolidation of Holdings)

वास्तव में भविष्य में और अधिक उप विभाजन एवं उप-खण्डन को रोकने के उपायों के अलावा, सबसे प्रमुख समस्या तो यह है कि मौजूदा छोटे छोटे एवं बिखरे हुए खेतों को आर्थिक जोतों में परिणित किया जाये। इसके लिए केवल एकमात्र उपाय भूमि की चकबन्दी है। रायल कृषि कमीशन के शब्दों में—

"कृषकों के खेतों के उपखण्डन होने से उत्पन्न बुराइयों से राहत दिलाने का जो एक मात्र उपाय दिखाई देता है वह चकबन्दी का तरीका ही है, यद्यपि वास्तव में यह पद्धति एक प्रकार से एक व्यवस्थित खेत के स्थान पर कुछ अन्य विशृङ्खल खेती को बदल लेना ही है। इस पद्धति के द्वारा, एक किसान की सारी भूमि का या तो एक ही चक बना दिया जाता है अथवा विभिन्न प्रकार की मिट्टी के कुछ चक बना दिये जाते हैं।"[1]

चकबन्दी के अन्तर्गत दूर दूर बिखरे हुए खेतों के टुकड़ों को जिन पर एक ही परिवार का अधिकार होता है, उन्हें इकट्ठा कर दिया जाता है अर्थात् एक

[1] "The only measure that appears to promise relief from the evils that arise from fragmentation of holdings is the process generally known as consolidation of holdings

—Royal Commission on Agriculture—Report (1928)

परिवार के पास कुल जितनी भूमि होती है उतनी ही भूमि एक ही स्थान पर एक चक में दे दी जाती है। इस प्रकार सभी जोतें एक-एक चक के रूप में एक ही स्थान पर हो जाती हैं और उप-विभाजन एवं उपखण्डन की समस्या हल हो जाती है। चकबन्दी करने के निम्नलिखित तीन साधन हैं—

(१) व्यक्तिगत प्रयत्न द्वारा चकबन्दी।
(२) सहकारी समितियों द्वारा चकबन्दी।
(३) कानून द्वारा चकबन्दी।

व्यक्तिगत प्रयत्न द्वारा चकबन्दी

इसमें किसान स्वेच्छापूर्वक छोटे एवं बिखरे हुए खेतों का आदान प्रदान कर लेते हैं और इस प्रकार एक स्थान पर एक व्यक्ति का चक तैयार हो जाता है। परन्तु व्यक्तिगत प्रयत्न द्वारा चकबन्दी भारत में सफल नहीं हो सकती है। इसके निम्नलिखित कारण हैं—

(क) भारतीय कृषक अशिक्षित हैं। उनकी विचारधाराएँ संकीर्ण हैं। उनके अन्दर यह भावना व्याप्त है कि उनके खेत अन्य खेतों से अच्छे हैं। वे कुछ जरा सा नुक्सान भी भूमि के आदान प्रदान में नहीं बर्दाश्त करना चाहते हैं। उनको चकबन्दी से कोई लाभ नहीं प्रतीत होता है।

(ख) कृषि अधिकारों की विभिन्नता के कारण भी यह योजना सफल नहीं हो सकती है। भारत में कई प्रकार के काश्तकार पाये जाते हैं जैसे शिकमी, मौरूसी, नदाईदार, भूमिधर इत्यादि। परिणामस्वरूप भूमि का आदान प्रदान आपस में नहीं सम्भव हो सकता है।

(ग) पैतृक भूमि के प्रति ममता भी एक कारण है जिससे यह योजना कामयाब नहीं हो सकती है। भारतीय कृषक की यह धारणा रहती है कि पैतृक खेत अन्य खेतों की अपेक्षा अच्छा है और इसलिए भूमि का आदान प्रदान सम्भव नहीं होता है।

(घ) सिंचाई के साधनों की अनुकूलता भी किसान को अपने खेत न देने के लिए लालायित करती है। सिंचाई के साधन अपर्याप्त होने के कारण कुछ खेतों पर सिंचाई के साधन होते हैं और अन्य खेतों पर नहीं। यही कारण है कि किसान ऐसे खेतों को जहाँ पर सिंचाई के साधन निकट उपलब्ध हैं दूसरे खेतों से नहीं बदलना चाहते हैं। अतः यह योजना सफल नहीं होती है।

श्री कीटिंग के शब्दों में—

"व्यक्तिगत प्रयत्न से चकबन्दी करने का तरीका जर्मनी, फ्रांस, डेनमार्क

तथा जापान आदि देशों में असफल रहा है। ऐसी स्थिति में भारत जैसे देश में जहाँ किसानों में घोर अज्ञानता है, यह आशा करना कि वह उदारता व बुद्धिमानीपूर्वक व्यक्तिगत रूप से अपनी जड़ता छोड़ कर चकबन्दी करने के लिए तैयार हो जायँगे, केवल हठ मात्र है।"

सहकारिता द्वारा चकबन्दी

इसके अन्तर्गत जो किसान अपने खेतों की चकबन्दी करना चाहते हैं, वे एक सहकारी समिति का निर्माण करते हैं और अपने सभी खेतों को सम्रहीत कर लेते हैं। प्रत्येक किसान को उसकी भूमि के क्षेत्रफल के अनुपात में कुल उत्पादन में उसका भाग निर्धारित कर दिया जाता है। इस प्रकार की योजना में सदस्यों का शिक्षित होना एवं उनमें परस्पर प्रेम एवं सद्भावना होना अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार चकबन्दी में भी वही कठिनाइयाँ हैं जो व्यक्तिगत प्रयत्न द्वारा चकबन्दी में हैं। मि० डार्लिङ्ग के शब्दों में—

"सहकारिता द्वारा चकबन्दी करने के लाभों को लिखना सरल है अपेक्षाकृत उन्हें प्राप्त करने के, क्योंकि इसमें प्रत्येक को सन्तुष्ट रखना और सभी प्रतिद्वन्द्वी अधिकारियों को शान्त करना होता है। अज्ञानियों को बुद्धिमान बनाना तथा हठधर्मियों को समझाना पड़ता है। निर्धनों, दुर्बलों तथा मूक व्यक्तियों का उतना ही ध्यान रखना पड़ता है जितना कि धनी, शक्तिवान तथा शोर मचाने वालों का। एक मात्र अस्त्र, जिसका प्रयोग किया जा सकता है वह है 'जिह्वा' और एकमात्र साधन है समझाना बुझाना।"

कानून द्वारा चकबन्दी

कानून द्वारा चकबन्दी का अभिप्राय सरकार द्वारा चकबन्दी की योजना को अनिवार्य बना देना है। सहकारी चकबन्दी समितियों को कानूनन अनिवार्य किया जा सकता है और प्रत्येक कृषक को अनिवार्य रूप से इन सहकारी समितियों का सदस्य बनने के लिए कानून द्वारा मजबूर किया जा सकता है। कानून द्वारा उत्तराधिकार नियम में परिवर्तन करके भी चकबन्दी की योजना सफल बनाई जा सकती है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि भारत के लोग अपने वर्तमान बौद्धिक एवं नैतिक स्तर पर कानूनी अनिवार्यता के अभ्यस्त हैं। बिना कानूनी अनिवार्यता के कोई भी योजना भारत में सफल नहीं हो सकती। जनतन्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर तो यह उचित नहीं मालूम पड़ता, परन्तु यह नग्न सत्य है जिसके बिना उपविभाजन एवं उपखण्डन को दूर नहीं किया जा सकता। इतना अवश्य है कि अनिवार्यता का प्रयोग सोच-समझ ही कर करना चाहिए

क्योंकि बिना प्रत्येक व्यक्ति की मर्जी के कोई भी योजना सफल नहीं हो सकती। रायल कमीशन का मत है—

"चकबन्दी के पक्ष में राज्य का प्रयत्न, जहाँ कहीं भी इसे कानून द्वारा प्रारम्भ किया जा रहा हो, सावधानी से आरम्भ करना चाहिए। अनिवार्यता का सिद्धान्त लागू करने के पहले विशेष क्षेत्रों को चुन लेना चाहिये। राज्य को प्रचार करना चाहिए, वस्तुस्थिति का ज्ञान कर लेना चाहिए और प्रारम्भिक अवस्थाओं में व्यय भी उठाना चाहिए।"

कृषि के रायल कमीशन ने यह सुझाव भी दिया है कि जब चकबन्दी के अन्य साधन नाकामयाब हो जायें तभी कानून का सहारा लेना उचित होगा जैसा कि निम्न-लिखित शब्दों से स्पष्ट हो जाता है—

"When all that persuation, perseverance and skill can do has been exhausted, and a beneficial scheme of consolidation has been completed, we think that compulsion may be applied to secure for the majority advantages which an obstinate minority might otherwise with-hold."

Royal Commission on Agriculture.

सहकारी-कृषि

भूमि के उपविभाजन एवं उपखंडन की समस्या का समाधान सहकारी कृषि पद्धति पर भी बहुत कुछ निर्भर है। सहकारिता जिसका आधार आपसी प्रेम, सद्भावना एवं श्रद्धा है, एक मात्र अस्त्र है जिसके द्वारा कृषि एवं भूमिसुधार में स्थायी क्रान्तिकारी परिवर्तन लाया जा सकता है। सहकारी कृषि पद्धति द्वारा भूमि पर व्यक्तिगत सम्पत्ति का बिना बलिदान किये बड़े पैमाने की खेती के लाभों को सम्भव बनाया जा सकता है। महात्मा गांधी का कथन है—

"सहकारिता की असफलता भारत की स्वर्णिम आशा पर तुषारपात होगा।"

जहाँ तक चकबन्दी का प्रश्न है, यह अनार्थिक इकाइयों की औषधि तो अवश्य है, पर उसका प्रभाव थोड़े समय पश्चात समाप्त हो जाता है क्योंकि एक या दो पीढ़ी के बीतने पर भूमि पुनः विभाजित और बिखरित (Sub-divided and Fragmented) हो जाती है। स्थायी समाधान तो वास्तव में सहकारी खेती में ही निहित है जिसका अर्थ है गाँव की सम्पूर्ण भूमि को एक इकाई मानकर खेती करना। इस प्रकार भूमि की उपविभाजन एवं उपखंडन की समस्या का समाधान स्वयं ही हो जाता है।

सहकारी खेती के कारण आज साम्यवादी चीन भी कृषि क्षेत्र में आशातीत सफलता प्राप्त कर सका है जैसा कि सरकारी कृषि मंडल जो श्री पाटिल के सभापतित्व में चीन गया था, की निम्न रिपोर्ट से स्पष्ट होता है—

"कृषि और आर्थिक विकास के क्षेत्र में चीन द्वारा इतने थोड़े समय में किये गए प्रयत्न सराहनीय हैं। पर उनकी कृषिक सफलताओं का मूल आधार सहकारी खेती है, जिसने प्रति एकड़ उपज में उत्साहवर्धक वृद्धि की है।"

परन्तु भारत में प्रश्न यह है कि क्या सहकारी कृषि प्रणाली भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल है ? जहाँ तक भारतवर्ष का प्रश्न है यहाँ के कृषकों के विचारों एवं भावनाओं में भूमि का विशेष स्थान है। भारतीय किसान का अपनी भूमि से विशेष प्रेम है और उनको अपनी थोड़ी बहुत जितनी भी भूमि है उसके स्वामी कहने में गर्व का अनुभव होता है। इसलिए कोई भी सहकारी खेती जिसमें उनके स्वामित्व का अपहरण होगा कदापि सफल नहीं हो सकती। सहकारी कृषि प्रणाली में व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को पूर्णतः एक विशाल समूह में विलीन कर देने के लिये बाध्य हो जाता है और इसलिये वह अपनी स्वतन्त्रता को खो देना ठीक नहीं समझता। सामूहिक संगठन में, जहाँ हर किसी की जिम्मेदारी किसी की भी जिम्मेदारी नहीं रह जाती काम में ढिलाई और लापरवाही की सम्भावना बनी रहती है और उत्पादन बढ़ाने में विशेष प्रोत्साहन नहीं मिल पाता। वास्तव में यह कथन सत्य है कि व्यक्तिगत प्रयत्न में धूल को भी धन में परिणित कर देने की क्षमता है। भारतीय कृषक इस प्रणाली के प्रति रुचि इसलिए भी नहीं रखता कि वह अपनी भूमि से वंचित होकर सहकारी समिति का सदस्य मात्र अर्थात् भूमिहीन मजदूर बन जायगा। यही कारण है कि भारत में सहयोग का अनुभव उत्साहवर्द्धक नहीं रहा है। रूस, फिलस्तीन, एवं डेनमार्क आदि देशों में सहकारी खेती का उदाहरण उपस्थित करना ही केवल भारत में सहकारी कृषि प्रणाली की उपयुक्तता पर प्रभाव नहीं डालता। भारत की समस्या अन्य देशों की अपेक्षा मौलिक रूप से भिन्न है यही कारण है कि ब्रिटेन के मजदूर दल के प्रमुख सदस्य श्री बेविन ने, जिन्होंने चीन सरकार के निमन्त्रण पर वहाँ का भ्रमण किया, ४ अप्रैल १९५७ को दिल्ली की सार्वजनिक सभा में कहा था—

"भारत को रूस और चीन जैसी गलती नहीं करनी चाहिये।"

इस सम्बन्ध में प्रो० रंगा के, जो इस क्षेत्र में काफी जानकार हैं, इन शब्दों को उद्धृत करना ठीक ही होगा—

"शोषणहीन कृषिकीय अर्थ व्यवस्था के विरुद्ध किसी भी प्रकार का आन्दोलन खतरनाक है। यह तो समाजवादी आदर्श या सहकारी कामनवेल्थ के विपरीत होगा। इस आन्दोलन से किसानों की बचत को कृषि उन्नति में

लगाने से निरुत्साहित किया जा रहा है। इससे कृषि में अधिक रुपया लगाने में बाधा पड़ेगी और चतुर, शिक्षित और साहसी किसान कृषि कार्य छोड़ने को विवश हो जायेंगे। इससे जो होगा वह यह कि ग्राम, ग्रामीण जीवन तथा पारिवारिक अर्थव्यवस्था में अव्यवस्था उत्पन्न हो जायगी।"

इसलिए यह सत्य नहीं कि समाजवादी आदर्शों को लाने के लिए जमीन की मिल्कियत को समाप्त किया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में उत्तर प्रदेश के माल मन्त्री के यह शब्द विचारणीय हैं—

"मनुष्य स्वभाव ही ऐसा है कि अक्सर पिता के मरने पर या अन्य किसी कारण से एक ही मां से जन्मे दो भाई एक परिवार से अलग हो जाते हैं। तब इस स्थिति में ऐसा सोचना अव्यावहारिक होगा कि एक औसत गृहस्थ अचानक अपने हितों को उन अनेक अपरिचित व्यक्तियों से मिला लेगा, जिनके विषय में उसने सुना तक नहीं।"

अतः कौन-सी सहकारी कृषि प्रणाली अपनाई जाय, इसका उत्तर किसानों की मनोवैज्ञानिक भावनाओं एवं कृषि की वर्तमान स्थितियों को देखकर ही देना होगा। इस प्रकार कोई भी सहकारी खेती जिसमें उनके स्वामित्व अपहरण का प्रश्न होगा, कदापि सफल नहीं हो सकती। अति प्राचीनकाल से भारतीय किसान फसल काटने, बाँध बनाने, कुएँ खोदने, यन्त्रों के प्रयोग करने आदि कार्यों में सामूहिक रूप से कार्य करते चले आ रहे हैं, अतः वे सहकारिता के इस व्यापक स्वरूप को भी शीघ्र अपना सकते हैं। इसके अतिरिक्त उनके पास गत ५० वर्षों का सहकारिता का अनुभव है जिसे सहकारिता का आधुनिक रूप कहा जाता है। केन्द्रीय और राज्य सरकारों का रुझान भी इस ओर है। तात्पर्य यह है कि सहकारी खेती के सफलतापूर्वक सचालन के सभी लक्षण आज अभाव ग्रस्त भारत में विद्यमान हैं। भारतीय कृषक को यह दृष्टिकोण अपनाने के लिए शिक्षित करने की आवश्यकता है एवं उसे इस तथ्य से पूर्णतः अवगत कराना है कि आयोजन का वर्तमान युग सर्वमान्य है और सामाजिक हितों की तुलना में व्यक्तिगत हितों को गौण स्थान देना ही पड़ेगा। पोलैण्ड के श्री गोमुल्क ने १० वर्षों के परीक्षणों के बाद कहा है कि किसान को सहकारी समितियों में भेजने के लिए उसके मन और चिन्तन-क्रम को बदलना होगा।

इस सम्बन्ध में सरकार द्वारा प्रयास (Government Measures)

सन् १६४६ में भारत सरकार ने एक शिष्ट मण्डल सहकारी खेती के व्यापक अध्ययन करने के लिए फिलिस्तीन भेजा था और उसकी रिपोर्ट के पश्चात् ही इस दिशा में कार्य प्रारम्भ हुआ। वास्तव में १६४४ के पूर्व यहाँ कभी इसका उल्लेख ही

नहीं हुआ। सर्वप्रथम बम्बई में द्रुतगति से इस ओर कार्य आरम्भ हुआ और ३० जून १९५४ तक २६४ सहकारी खेती समितियों की स्थापना हुई।

दिल्ली राज्य में भारतीय सहकारी संघ लिमिटेड की देख-रेख में छतरपुर में ३५ परिवारों की एक शरणार्थी बस्ती बसायी गयी है। एक बहुधन्धी कृषि सहकारी समिति के अन्तर्गत इस योजना में ४०० एकड़ भूमि पर संयुक्त कृषि का कार्यक्रम बनाया गया है। भारत सरकार ने भूमि जोतने के लिये अपने ट्रेक्टर दिये हैं।

उत्तर प्रदेश में एक अपेक्षाकृत अधिक महत्वाकांक्षी योजना कार्यान्वित की जा चुकी है। वह गंगा खादिर उपनिवेशकरण योजना है। तराई क्षेत्र में ४७,००० एकड़ का एक चक खेती के लिए नये सिरे से तैयार किया गया है। हर जोत १० एकड़ भूमि की है और इस प्रकार १,००० एकड़ भूमि के १०० फार्म एक सहकारी समिति की इकाई माने जाते हैं। इन समितियों के द्वारा सहकारिता के आधार पर भूमि की जुताई, बीज, औजार और ढोरों की खरीद, सहकारी तौर पर उपज की बिक्री, प्रबन्ध, देख रेख तथा पशुपालन आदि कार्यों का संगठन होता है।

मध्य प्रदेश की सरकार ने भी माजरा रीठ (बरोरा तहसील) में १,२०० एकड़ नव निर्मित भूमि पर भूमिहीन खेतिहर मजदूरों की एक सहकारी उपनिवेश योजना तैयार की है। योजना के अन्तर्गत १० वर्ष तक संयुक्त कृषि की व्यवस्था की गई है, किन्तु इस अवधि में सहकारी संस्था से कोई सम्बन्ध-विच्छेद नहीं कर सकता।

मद्रास, बिहार, उड़ीसा, आसाम, मैसूर, ट्रावनकोर कोचीन में भी प्रगति हुई है, पर कोई उत्साहवर्धक कार्य नहीं हुआ है। भारत में प्रथम पंचवर्षीय योजना में ६१५ सहकारी खेती समितियों का लक्ष्य रखा गया था जो पूर्ण हो गया है। सन् १९५८ तक देश भर में २,०२० सहकारी कृषि संस्थाएँ २४४ लाख एकड़ भूमि पर कार्यशील थीं। फिर भी सहकारी खेती को हमें भारत में शैशव अवस्था में ही मानना पड़ेगा, क्योंकि कुल भूमि का कठिनता से एक प्रतिशत भाग इसके अन्तर्गत होगा।

सन् १९५८ में देश भर में २५० नई समितियाँ बनाई गईं जिनका राज्यवार ब्यौरा इस प्रकार है—

राज्य	सहकारी कृषि समितियाँ
आसाम	३८
बिहार	२५
बम्बई	१५
केरल	४
मध्य प्रदेश	[illegible]
आन्ध्र प्रदेश	१
मद्रास	६ ग्रामदान सर्वोदय सहकारी खेती समितियाँ
मैसूर	१०
उड़ीसा	१०
पंजाब	६५
राजस्थान	२
उत्तर प्रदेश	२२
प० बंगाल	५८
जम्मू काश्मीर	१
दिल्ली	१
त्रिपुरा	१
योग	२५०

द्वितीय योजना में सहकारी कृषि सम्बन्धी मुख्य सुझाव यह रखा गया है कि सहकारिता की नींव दृढ़ की जाय जिससे अगले १० वर्षों में देश की कृषि योग्य भूमि का काफी भाग सहकारी कृषि की परिधि में आ जाय। इस योजना के कार्य क्रम को देखकर सहकारी खेती के उज्ज्वल भविष्य की झाँकी आँकी जा सकती है।

चकबन्दी में प्रयास (Consolidation of Holdings)

सहकारी समितियों द्वारा प्रयत्न

पञ्जाब में—इस साधन को सर्वप्रथम पञ्जाब में सन् १९२० ई० में अपनाया गया। इसके अन्तर्गत सम्बन्धित लोगों को समझा बुझाकर आपसी संगठन के लिए राजी किया जाता था। ये काम चकबन्दी अफसर के नीचे पटवारी एवं कानूनगो किया करते थे। माल विभाग एवं सहकारिता विभाग इसमें सहायता देते हैं। गुरुदासपुर, जालंधर और होशियारपुर जिलों में इस कार्य में काफी सफलता मिली है। सन् १९३५ तक ११६७ सहकारी समितियों ने करीब ६ लाख एकड़ भूमि की चकबन्दी की। १९३८ तक करीब ८ लाख एकड़ भूमि की चकबन्दी हुई। सन् १९४३ तक समितियों

की संख्या १८०७ हो गई और लगभग १४½ लाख एकड़ भूमि की चकबन्दी हो गई। विभाजन के पश्चात् १९४८ में समितियों की संख्या १५७३ रह गई, परन्तु इनकी प्रगति में बाधा नहीं पड़ी और अब करीब १६,००० सहकारी समितियाँ कार्य कर रही हैं। परिणामस्वरूप भूमि का लगान और उत्पादन बढ़ गया है। बहुत सी बंजर भूमि कृषि योग्य बन गई है। सिंचाई के लिए कुओं का निर्माण हुआ है और मेड़ों के कारण झगड़े कम हो गये हैं। किसानों का जीवन स्तर भी ऊँचा हो गया है।

उत्तर प्रदेश—इस राज्य में सन् १९१२ में श्री मोरलैंड ने भूमि चकबन्दी की सिफारिश की थी, परन्तु माल विभाग ने इसका विरोध किया। १९२१ में श्री मिश्रा ने फिर चकबन्दी की सिफारिश की, लेकिन फिर भी सरकार ने नहीं माना। सहकारी समितियों द्वारा चकबन्दी का कार्य सहारनपुर, बिजनौर और मुरादाबाद जिलों में १९२५, १९२८ और १९३३ में क्रमशः शुरू हुआ। सन् १९०८ में कुल १८२ सहकारी समितियाँ थीं जिनके द्वारा करीब ८ लाख एकड़ भूमि की चकबन्दी हुई। १९४७ में इन समितियों की संख्या २८३ हो गई। भूमि की विभिन्नता, भूमि व्यवस्था की जटिलता और योग्य अधिकारियों के अभाव के कारण यह योजना सफल नहीं हो सकी और सन् १९४७ में इसको भङ्ग करना पड़ा।

मद्रास एवम् मध्य प्रदेश—मद्रास में १९४७-४८ में २२ सहकारी समितियाँ थीं परन्तु यह योजना सफल न हो सकी। मध्य प्रदेश में भी यह आन्दोलन प्रारम्भ हो गया है। बड़ौदा, कश्मीर, तथा काश्मीर राज्यों में भी चकबन्दी सहकारी-समितियाँ काम कर रही हैं।

कानून द्वारा चकबन्दी

मध्य प्रदेश—सबसे पहले कानून द्वारा चकबन्दी की व्यवस्था मध्य प्रदेश सरकार द्वारा की गई। सन् १९०८ में यहाँ पर 'मध्य प्रांत कृषि चकबन्दी अधिनियम' (The C P Consolidation of Holdings Act) पास किया गया। इस अधिनियम के अन्तर्गत अगर किसी गाँव के आधे कृषक जिनके पास गाँव की ⅔ भूमि है चकबन्दी की इच्छा प्रकट करते हैं, तो एक विशेष सरकारी अधिकारी द्वारा पंचायत की सहायता से इस सम्बन्ध में एक योजना तैयार की जायगी जिसका पुष्टिकरण बन्दोबस्त कमिश्नर करेगा। इसके बाद यह योजना अनिवार्य रूप से लागू कर दी जायगी। इस योजना की प्रगति सन्तोषजनक रही है।

पंजाब—पञ्जाब में १९३६ ई० में कृषि चकबन्दी अधिनियम पास किया गया था। इस अधिनियम के अन्तर्गत अगर किसी गाँव के ⅔ किसान जिनके पास गाँव

की ⅔ भूमि हो और वे चकबन्दी के लिए तैयार हों तो यह योजना उस गाँव में अनिवार्य रूप से लागू कर दी जायगी।

उत्तर प्रदेश—उत्तर प्रदेश में 'चकबन्दी अधिनियम' (U. P. Consolidation of Holdings Act) सन् १६४१ में पास किया गया। इस अधिनियम के अनुसार सरकार द्वारा चकबन्दी अफसर नियुक्त किये गए। इन अफसरों को उन ग्रामों में चकबन्दी की व्यवस्था करने का अधिकार दिया गया जिनमें ⅔ कृषि भूमि के अथवा उससे अधिक के स्वामियों द्वारा प्रार्थनापत्र प्रेषित किया जाय। इसको ८ जिलों में लागू किया गया था, लेकिन कुछ शासन सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण इस कानून को वापस ले लिया गया। पुनः सन् १६५२ में अनिवार्य चकबन्दी के लिए उत्तर प्रदेश सरकार ने एक बिल प्रस्तुत किया जो कि १६५३ में पास कर दिया गया। प्रारम्भ में यह अधिनियम मुजफ्फरनगर तथा सुल्तानपुर में लागू किया गया। अब इसके अनुसार राज्य के २७ जिलों में चकबन्दी का कार्य किया जा रहा है। क्रमशः इसे सम्पूर्ण राज्य में लागू कर दिया जायगा। शासन सम्बन्धी कठिनाइयों एवं ग्रामीण जनता के अशिक्षित होने के कारण अभी तक अधिक सफलता नहीं मिल सकी है।

बम्बई—बम्बई राज्य में भी सन् १६४७ में 'बम्बई कृषि उपविभाजन तथा उपखंडन निरोधक अधिनियम' (The Bombay Prevention of Fragmentation & Consolidation of Holdings Act) पास किया गया। इसके अनुसार प्रत्येक किसान के पास स्टैंडर्ड क्षेत्र कर दिया जायगा।

उपर्युक्त राज्यों के अतिरिक्त अन्य राज्यों में चकबन्दी के लिए कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं हुआ।

पंचवर्षीय योजनाएँ एवं भूमि सुधार

प्रथम पंचवर्षीय योजना में भूमि सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन करने के बाद आयोग ने 'सहकारी कृषि' एवं 'सहकारी ग्राम्य प्रबन्ध' की सिफारिश की है और भूमि सुधारों के लिए 'केन्द्रीय संगठन' के निर्माण करने का उल्लेख किया है। योजना आयोग के विचार में सहकारी कृषि समितियों की स्थापना होनी चाहिए और उनके अन्तर्गत एक दिये हुए न्यूनतम क्षेत्र से कम क्षेत्र न होना चाहिए। न्यूनतम क्षेत्र कितना हो यह परिस्थितियों पर निर्भर होगा।

सहकारी ग्राम्य प्रबन्ध (Cooperative Village Management) योजना द्वारा भी भूमि के उपविभाजन एवं उपखण्डन की समस्या हल हो सकती है। इस योजना के अन्तर्गत किसी गाँव की सारी भूमि एक इकाई माननी पड़ेगा जिसका प्रबन्ध ग्राम पंचायत के सुपुर्द होगा। सभी किसानों को उनकी भूमि के क्षेत्रफल के

अनुपात से लाभ में भाग निर्धारित हो जाता है। योजना आयोग के मत में यह योजना उसी गांव में लागू करना चाहिए जहाँ पर ३/४ कृषक भूमि के अधिकारी योजना के पक्ष में हों। वास्तव में यह योजना भी सहकारिता के सिद्धान्तों का ही एक रूप है। इस योजना को कार्य रूप में परिणित करने के लिए यह आवश्यक है कि ग्राम पंचायतों को सरकार की ओर से पथ प्रदर्शन, सहायता एवं प्रोत्साहन मिले। योजना आयोग के शब्दों में—

"इस प्रकार गाँव की सम्पूर्ण भूमि का संगठन सहकारिता के आधार पर होने से गाँव एक शक्तिशाली प्रगतिशील तथा अधिकाश में राष्ट्रीय योजना का स्वयं शासित आधार बन सकेगा और वर्तमान सामाजिक तथा आर्थिक असमानतायें जो कि सम्पत्ति, जाति प्रथा एवं रूढ़ियों से उत्पन्न हुई हैं, समाप्त हो सकती हैं।"

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में कृषि उत्पादन बढ़ाने के हेतु सहकारी खेती को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। इस विषय में आधुनिकतम तथ्य प्राप्त हो सकें, इसके लिये भारत सरकार ने एक सात सदस्यीय दल श्री आर० के पाटिल की अध्यक्षता में चीन और जापान भेजा। दल की रिपोर्ट अभी हाल में ही जून १६५७ में प्रकाशित हुई है। इस दल ने निम्न शब्दों में सहकारी कृषि का समर्थन किया है—

"सहकारी खेती न केवल छोटे किसानों के हितों को सुरक्षित करेगी, वरन् उत्पादन वृद्धि भी करेगी।"

दल का कहना है कि सहकारी खेती ने चीन को न केवल एक आत्मनिर्भर देश बना दिया है, वरन् उसे अब एक निर्यात करने वाले देशों में भी प्रमुख स्थान रखने का गौरव प्राप्त हो सका है। दल ने आगे चार वर्षों में १०,००० सहकारी कृषि समितियों के निर्माण की भी सिफारिश की है।

भूदान यज्ञ

आचार्य विनोबा भावे द्वारा संचालित 'भूदान आन्दोलन' भी भूमि व्यवस्था एवं भूमि सुधार सम्बन्धी समस्याओं के हल करने के लिये उचित दिशा में प्रथम कदम है। आचार्य भावे की धारणा है कि अहिंसा एवं प्रेम से बड़े किसानों को समझा कर उनका हृदय परिवर्तन करके उनसे भूमि दान में लेकर भूमिहीनों को बांट दी जाय। इस आन्दोलन द्वारा भी भूमि का उपविभाजन एवं उपखण्डन कुछ सीमा तक रोका जा सकता है। दान में मिली हुई भूमि के छोटे छोटे टुकड़ों के पुनर्वितरण में प्रत्येक व्यक्ति को भूमि यदि आर्थिक जोत के अनुसार दी जाय तो उपविभाजन एवं उपखण्डन की समस्या सुलझ सकती है।

उपसंहार

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सरकार द्वारा किये गए प्रयत्न उचित ही हैं। इस समस्या को पूर्ण रूप से हल करने के लिए सरकार द्वारा चकबन्दी का प्रयत्न सराहनीय है, परन्तु केवल चकबन्दी ही आत्यन्तिक इलाजों की औषधि नहीं है क्योंकि थोड़े समय के बाद भूमि पुनः विभाजित एवं खंडित होने लगेगी। स्थायी समाधान तो वास्तव में सहकारी खेती में ही निहित है। कुछ दिनों पहले एक सरकारी कृषि मंडल श्री थापर की अध्यक्षता में चीन गया था जिसने लिखा है—

कृषि और आर्थिक विकास के क्षेत्र में चीन द्वारा इतने थोड़े समय में किये गये प्रयत्न सराहनीय हैं। पर उनकी कृषिक सफलताओं का मूल आधार सहकारी खेती है जिसने प्रति एकड़ उपज में उत्साहपूर्वक वृद्धि की है।

यह निश्चित है कि कानून द्वारा किसी सुधार को भी जनता के ऊपर नहीं थोपा जा सकता। कानून तो केवल सहायक के रूप में है। उपविभाजन एवं उपखंडन की समस्या भी कानून द्वारा हल नहीं की जा सकती। सहकारिता, जिसका आधार आपसी प्रेम, सद्भावना एवं श्रद्धा है, एक मात्र अस्त्र है जिसके द्वारा कृषि एवं भूमि-सुधार में स्थायी क्रान्तिकारी परिवर्तन लाया जा सकता है। सहकारी एवं सम्मिलित खेती भूमि में व्यक्तिगत सम्पत्ति का बिना बलिदान किये बड़े पैमाने की खेती के लाभों को संभव बनाती है। विभिन्न राज्यों में इस दिशा में किये गये प्रयत्नों में असफलता का मुख्य कारण कृषकों की अशिक्षितता एवं रूढ़िवादिता रहा है। आवश्यकता इस बात की है कि किसानों को शिक्षित बना कर एवं प्रचार द्वारा सहकारिता के लाभों को बतलाया जाय। गाँव समाज एवं पंचायत इस दिशा में बहुत कुछ कार्य कर सकते हैं। किसानों का हृदय परिवर्तन करके ही उनमें नवीन चेतना एवं जागृति का जन्म दिया जा सकता है। पंचवर्षीय योजनाओं में सहकारी एवं सम्मिलित खेती के कार्यक्रम के होने के कारण पूर्ण आशा है कि आज की शैशवावस्था के 'सहकारिता आन्दोलन' का भविष्य उज्ज्वल है और साथ ही साथ कृषि भूमि की उपविभाजन एवं उपखंडन की समस्या का समाधान।

६

कृषि पदार्थों का विक्रय

(Marketing of Agricultural Produce)

कृषकों की आर्थिक सम्पन्नता कुशल उत्पादन के अतिरिक्त इस बात पर भी बहुत कुछ निर्भर है कि उनको कृषि पदार्थों के विक्रय में उचित लाभ प्राप्त हो। वास्तव में भारतीय कृषक विक्रेता के रूप में बिलकुल ही अकुशल है जिसके परिणामस्वरूप उसको अपने परिश्रम का उचित पुरस्कार नहीं मिल पाता है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि किसान को एक रुपये में केवल ६½ आने ही प्राप्त हो पाता है और बाकी सब मध्यस्थों में बँट जाता है। भारतीय कृषक की दरिद्रता एवं निर्धनता का मुख्य कारण उसका अकुशल विक्रेता होना ही है। भारतीय कृषि आयोग ने ठीक ही लिखा है—

"जब तक खेत की उपज की बिक्री की समस्या को पूर्णतया हल नहीं किया जाता, तब तक कृषि समस्या का हल अधूरा ही है।"[1]

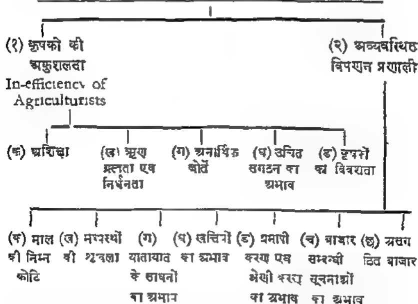
यह कहना बिल्कुल ठीक ही होगा कि एक कुशल कृषक वही बन सकता है जो अपनी एक आँख हल की ओर रखता है और दूसरी बाजार पर। कृषि पदार्थों की विक्रय की समस्या भारत में कृषि की प्रमुख समस्या है। इस समस्या के सुलझ जाने पर कृषकों की आर्थिक सपन्नता एवं कृषि विकास सम्भव है। कृषक घोर परिश्रम करने के बाद जो कुछ उत्पादन करता है उसके बेचने के समय तमाम मध्यस्थ अन्धकार में छिपे हुये घातक जन्तुओं की भाँति उस पर टूट पड़ते हैं और कृषक के पास केवल जर्जर हड्डियों का ढाँचा ही रह जाता है। भारतीय कृषक अशिक्षित होने के कारण जीवन के प्रत्येक पग पर ठगा जाता है। वह अपने दैनिक जीवन के उपभोग की

[1] 'The prosperity of the agriculturists and the success of any policy of general agricultural improvement depends to a very large degree on the facilities which the agricultural community has at its disposal for marketing."

—Royal Commission On Agriculture

वस्तुएँ अधिक मूल्य पर खरीदता है और अपने कृषि पदार्थ सस्ते मूल्य पर बेचता है और इस प्रकार उसको दोनों ही ओर से हानि उठानी पड़ती है। भारतीय कृषक अशिक्षा एवं दरिद्रता के गहन अन्धकार में रहने के कारण और यातायात की पूर्ण एवं उचित सुविधाओं के अभाव में किस प्रकार से कुशल विक्रेता बन सकता है, सोचने वाली बात है। उचित रूप में लाभप्रद कृषि पदार्थों के विक्रय पर ही भारतीय कृषक का भाग्य निर्भर है। इसके बिना कृषि विकास में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना केवल एक सुखद कल्पना ही रहेगी।

<u>कृषकों के अकुशल विक्रेता होने के कारण अथवा विपणन के दोष</u>



कृषि पदार्थों के विक्रय में कृषकों को उचित लाभ न मिलने के दो मुख्य कारण हैं—प्रथम तो भारतीय कृषक की स्वयं अकुशलता है और द्वितीय बाजार में उचित व्यवस्था का अभाव है। बाजार में व्यवस्था ठीक न होने के कारण कृषक बुरी तरह से ठगा जाता है और परिणाम उसका यह होता है कि उसको बहुत कम लाभ मिल पाता है। विपणन के दोष निम्नलिखित हैं—

कृषकों की अशिक्षा—वास्तविकता तो यह है कि कृषकों की अशिक्षा एवं अज्ञानता ही उनके कुशल व्यापारी न होने का मुख्य कारण है। अशिक्षित होने के कारण वे जीवन के प्रत्येक पग पर ठगे जाते हैं। उनको बाजार में प्रचलित मूल्यों का

ज्ञान नहीं रहता और न उनको यही मालूम रहता है कि वस्तु को लाभप्रद मूल्य पर कहाँ बेचा जा सकता है। परिणामस्वरूप वे गाँव में ही अपनी उपज महाजनों या बनियों के हाथ बेच देते हैं और चतुर बनिये या महाजन के समक्ष ये भोले भाले किसान जिनको यह नहीं मालूम होता कि वस्तु का बाजार में वास्तविक मूल्य क्या है, भाव ताव करने में असफल रहते हैं।

ऋणग्रस्तता—भारतीय कृषक अधिकतर ऋणग्रस्त हैं। दरिद्रता एवं सामाजिक रूढ़ियों के दास होने के कारण उनको ऋण लेना पड़ता है। आमतौर पर यह ऋण गाँव का महाजन या बनिया देता है। यही महाजन बाद में कृषि पदार्थों का क्रय करता है। आमतौर पर यह देखा जाता है कि महाजन ऋण देने पर किसानों की फसल गिरवीं रख लेता है या ऋण की अदायगी में फसलें सस्ते मूल्य पर पहले से ही खरीद लेता है। इस प्रकार गरीब किसानों को कभी मण्डी का मुँह देखने का सौभाग्य नहीं प्राप्त होता है। ऋणी होने के कारण किसान अपने महाजन को असन्तुष्ट भी नहीं कर सकते और अपनी फसल को सस्ते मूल्य पर बेचने के लिए बाध्य हो जाते हैं।

अनार्थिक जोतें—भारतीय कृषक के खेत छोटे-छोटे एवं बिखरे हुए हैं। वे खेती बहुत छोटे पैमाने पर करते हैं। अपनी आवश्यकता से अधिक इन किसानों के पास फसल दो चार छे मन गल्ला ही बच पाता है। इतने थोड़े से गल्ले के लिए किसान मंडियों में मारा मारा फिरना नहीं पसन्द करता है। दूसरे, मंडियों में इतना थोड़ा माल ले जाने पर मार्ग में व्यय अधिक पड़ जाता है। अतः कृषक यह पसन्द करता है कि फसल को गाँव में ही बेच दे और अपना श्रम एवं समय बेकार में न नष्ट करे। प्रो० क्नाक के शब्दों में—

'The operations of the average farm are on too small a scale to warrant giving much time to marketing"

कृषकों में उचित संगठन का अभाव—अशिक्षित होने के कारण किसान सहकारिता के लाभों से अनभिज्ञ हैं। प्रत्येक किसान अपनी थोड़ी थोड़ी फसल को अलग अलग बेचता है। दूसरी ओर खरीदार पूरी तरह संगठित होते हैं। थोड़ी सी फसल बेचने पर अकेले एक किसान उचित भाव-ताव नहीं कर पाता। यदि वे संगठित हों तो खरीदार को विवश होकर अधिक मूल्य देना पड़े क्योंकि वह किसी दूसरे कृषक से गल्ला नहीं प्राप्त कर सकता। कृषि आयोग के शब्दों में—

"His interests have in the main been left to the free play of Economic forces, and they have suffered in the process For he is an infinitely small unit as compared with distri

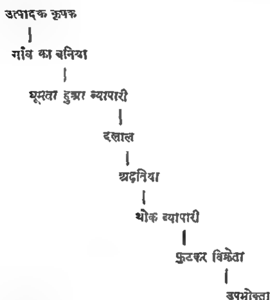
butors and consumers of his produce who, in their respective field, become every year more highly organized and more strongly consolidated "

कृषकों की विवशता—कृषकों की अशिक्षा, दरिद्रता, ऋणग्रस्तता एवं भूमि व्यवस्था उनको विवश कर देती हैं कि वे अपनी फसलों को औने-पौने मूल्य पर बेचें। निर्धनता के कारण कृषक उस समय तक अपनी फसल को नहीं रोक सकता जब तक कि वह उचित मूल्य प्राप्त कर सके। भूमि का लगान एवं ऋण पर ब्याज भी उनको उसी समय देना पड़ता है जब उनकी फसल तैयार हो जाती है और कटने लगती है। परिणामस्वरूप सभी किसान फसल कटते ही उसे बेचने के लिए बाध्य हो जाते हैं। ऐसे समय में अधिक पूर्ति होने के कारण मूल्य बहुत गिर जाता है। प्रायः उनकी फसलें महाजनों के पास पहले से ही गिरवीं होती हैं। परिणामस्वरूप उनको अपने श्रम का उचित पुरस्कार नहीं मिल पाता। इस प्रकार किसानों को अपनी फसल एक प्रतिकूल समय पर, प्रतिकूल दर पर तथा प्रतिकूल बाजार में ही बेचना पड़ता है। इसके अतिरिक्त भारत में शादी विवाह भी उसी समय होते हैं जब फसल कट कर तैयार हो जाती है। किसानों को सामाजिक कार्यों के लिए नकद रुपये की आवश्यकता पड़ती है। अतः इन विवशताओं में फँसा हुआ किसान बलात् अपनी उपज को सस्ते मूल्य पर बेच देता है।

माल की निम्न कोटि—अच्छे बीज एवं खाद के अभाव में अनाज की किस्म अच्छी नहीं होती। वैज्ञानिक कृषि न होने के कारण माल की किस्म अच्छी नहीं रहती। फसलें तरह तरह की बीमारियों के कारण खराब हो जाती हैं। कभी कभी अधिक वर्षा के कारण, ओले पड़ने के कारण और कीटाणुओं के कारण फसलें खराब हो जाती हैं। फसलें कटने के पश्चात् खलिहान में ही पड़ी रहती हैं जिसकी वजह से धूल और कंकड़ इत्यादि मिल जाते हैं। दीमक, घुन और सीलन आदि से भी फसल खराब हो जाती है। इसके अतिरिक्त किसान कभी कभी मिलावट भी कर देते हैं क्योंकि वे समझते हैं कि उनका उचित मूल्य तभी प्राप्त हो सकेगा जब वे मिलावट करेंगे। माल की किस्म अच्छी न होने के कारण उनको कम मूल्य मिलना स्वाभाविक ही है।

मध्यस्थों की शृखला—यह दोष विपणन में सब से बड़ा दोष है जिसके कारण कृषक को अपनी फसल का बहुत कम मूल्य मिल पाता है। कृषकों और अन्तिम उपभोक्ता के बीच बहुत बड़ी मध्यस्थों की शृंखला है। ये सभी मध्यस्थ अपना अपना मुनाफा लेते हैं। परिणामस्वरूप किसानों को बहुत थोड़ा सा लाभ बच पाता है और वे अपनी फसल का आधा मूल्य भी नहीं प्राप्त कर पाते हैं। वास्तव में

बिना परिश्रम के ही ये मध्यस्थ किसान की पसीने की कमाई का बहुत बड़ा भाग हड़प कर जाते हैं। साधारणतया कृषक और उपभोक्ता के बीच में निम्नलिखित मध्यस्थ पाये जाते हैं—



औद्योगिक आयोग के शब्दों में—

"गाँवों की फसलों की जो निकासी होती है उनकी बिक्री में बहुत से अनावश्यक मध्यस्थों का समावेश रहता है, जो किसानों के अधिकांश लाभ को स्वयं हड़प जाते हैं, क्योंकि किसान निर्धनता और अशिक्षितता के कारण अपनी फसलों को मंडी में ले जाकर बेचने में असमर्थ होते हैं। यह शोचनीय अवस्था मुख्यतः बिहार, बंगाल एवं उत्तर प्रदेश में विशेष रूप से पाई जाती है।"

केन्द्रीय सरकार द्वारा की गई जाँचों से स्पष्ट होता है कि गेहूँ की बिक्री में एक रुपये के मूल्य में से किसान को केवल सवा आठ आने और चावल की बिक्री में सवा नौ आने प्राप्त होता है। इसी प्रकार अन्य वस्तुओं में भी किसान को वस्तु के मूल्य का लगभग आधा भाग ही मिल पाता है।

यातायात के साधनों का अभाव—भारत में रेलों एवं सड़कों की व्यवस्था अपर्याप्त है। आज भी बहुत से ऐसे गाँव हैं जहाँ पर वर्षा ऋतु में दूसरे स्थानों पर आना जाना कठिन समस्या बन जाता है। वर्षा ऋतु में कच्ची सड़कों पर दलदल हो जाता है और बैलगाड़ी जो केवल माल ढोने का साधन है बेकार हो जाती

है। वैसे भी सड़कों में बड़े बड़े गढे आदि होने के कारण मंडियों में माल ले जाने में बड़ी असुविधा रहती है। किराये पर बैलगाड़ी का भाड़ा बहुत अधिक बैठ जाता है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि माल ले जाने का खर्चा कुल मूल्य का २० प्रतिशत होता है। परिणाम स्वरूप समय एवं कष्ट को बचाने के लिये कृषक यह अच्छा एवं लाभप्रद समझता है कि फसल को गाँव में ही बेच दे। रायल कृषि आयोग के शब्दों में—

"यातायात के दोषपूर्ण साधनों के कारण ही बहुत से मध्यस्थों का अस्तित्व हो गया है जो किसानों को अपनी उपज का ठीक मूल्य नहीं मिलने देते।"

भारतीय कृषक ट्रकों द्वारा मंडियों तक अपनी थोड़ी-सी फसल पहुँचाने की कल्पना तक नहीं कर पाता है और गाँव में ही सस्ते मूल्य पर बेच देता है।

खत्तियों का अभाव—भारतीय कृषकों को अपनी फसल को काटने के उपरान्त तुरन्त सस्ते मूल्य पर बेच देने के लिये इसलिये भी विवश होना पड़ता है क्योंकि उनके पास ऐसा कोई स्थान नहीं होता है जहाँ पर फसल सुरक्षित रूप से रक्खी जा सके। प्रायः किसानों के मकान कच्चे होते हैं जिनमें सीलन होना स्वाभाविक ही है। वर्षा ऋतु में तो और भी अधिक सीलन का डर रहता है। प्रायः किसान कोठियों (छोटी कोठरी) में भूसा अथवा नीम की पत्तियों पर अनाज इकट्ठा करते हैं। इन कोठियों में अन्धकार एवं चूहों का साम्राज्य रहता है। इन कोठियों में अनाज सीलन के कारण खराब हो जाता है और चूहों तथा घुन और दीमक द्वारा अलग बर्बाद होता है। ऐसी दशा में भारतीय कृषक तुरन्त माल बेच देना हितकर समझता है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि खत्तियों के अभाव में सीलन और कीड़ों द्वारा भारत में प्रति वर्ष २ लाख टन गेहूं गाँव में ही नष्ट हो जाता है।

प्रमापीकरण एवं श्रेणीकरण का अभाव
(Absence of Standardization & Gradation)

विक्रय की कुशलता के लिए यह आवश्यक है कि माल को विभिन्न श्रेणियों में किस्म के अनुसार बाँटा जाय और प्रामाणिक किस्म निर्धारित की जाय। भारतीय कृषक प्रमापीकरण एवं श्रेणीकरण से अनभिज्ञ होने के कारण अपनी सारी फसल को, जिसमें अच्छी और बुरी दोनों ही फसलें शामिल होती हैं, एक ही ढेर में बेचता है। बिना श्रेणीकरण के फसल का मूल्य कम मिलना स्वाभाविक ही है क्योंकि माल की किस्म अच्छी नहीं हो पाती है। इसके अतिरिक्त उन किसानों को भी जिनकी फसल में किसी प्रकार की मिलावट नहीं होती है वही मूल्य मिलता है जो खराब

फसल वाले कृषकों को। प्रमाणीकरण से मूल्य निर्धारण में भी बड़ी सुविधा होती है क्योंकि प्रत्येक किस्म का अलग अलग मूल्य होता है। विदेशों में भी विभिन्न किस्म के नमूने भेजकर एक ही निर्धारित किस्म का माल भेजा जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में भारत के माल की साख न होने का कारण यही है कि यहाँ पर श्रेणीकरण के अभाव में मिलवा माल भेजा जाता है। यही कारण है कि सभी उन्नतिशील राष्ट्रों ने प्रमाणीकरण एवं श्रेणीकरण को अपनाया है।

बाजार सम्बन्धी सूचनाओं का अभाव

किसानों की अज्ञानता ही गाँव के व्यापारी द्वारा उनके ठगे जाने का मूल कारण है। किसानों को देश की विभिन्न मण्डियों के प्रचलित मूल्य नहीं मालूम रहते। जो भी बाजार सम्बन्धी सूचना उनको प्राप्त होती है वह गाँव का व्यापारी जो खुद माल खरीदता है देता है। अशिक्षित होने के कारण समाचार पत्र भी उनके लिए उपयोगी नहीं होते। ऐसी दशा में जो कुछ भी गाँव का व्यापारी कह देता है वह किसानों को मान्य होता है। गाँव का व्यापारी चालाक होने के कारण ऐसा व्यवहार करता है जिससे यह प्रतीत होता है कि वस्तुओं का मूल्य बहुत गिर गया है और वह खरीदने में असमर्थ है और इस प्रकार कृषक उसके जाल में फँस कर फसल को सस्ते मूल्य पर बेच देता है।

असंगठित बाजार

असंगठित बाजार वे बाजार कहलाते हैं जिनमें किसी प्रकार का सरकारी या अन्य नियन्त्रण नहीं रहता है। ऐसे बाजारों में व्यापारी अपनी इच्छानुसार भाव-ताव एवं तौल इत्यादि की बातचीत करता है। बेईमानी करने में रोक की कोई व्यवस्था नहीं होती है। यदि कभी किसान बाजार में माल बेचने ले भी जाता है तो वहाँ पर बुरी तरह ठगा जाता है। भारत में नियन्त्रित बाजारों का अभाव है जिसके कारण बाजारों में प्राय निम्नलिखित दोष पाये जाते हैं जिनसे किसानों को मण्डी में माल बेचने पर बहुत ही हानि उठानी पड़ती है जिसके कारण वह गाँव में ही माल बेचना पसन्द करता है।

(क) तौल एवं बाँटों की विभिन्नता—बाजारों में तौल एवं बाँटों की बहुत अधिक विभिन्नता पाई जाती है। कृषि आयोग के अनुसार पूर्वी खानदेश के १६ जिलों में से १३ जिलों में १ मन की तौल २१½ सेर से लगाकर ८० सेर तक की है। केन्द्रीय कपास समिति ने जाँच करके पता लगाया था कि खानदेश में गेहूँ तौलने और चीनी तौलने के मन विभिन्न वजन के थे। इसके अतिरिक्त बाजारों में क्रय के लिए अलग और विक्रय के लिए अलग बाँट रक्खे जाते हैं। यही नहीं बाँट

लक्ड़ी, पत्थर, लोहे आदि के टुकड़ों के होते हैं। १ मन ४० सेर से लेकर ५४ सेर तक पाया जाता है। कृषक इन तौलों की विभिन्नता के कारण ठगा जाता है।

(ख) कम तौल एवं डंडी मारने की प्रथा—तौलने वाले लोग व्यापारियों के यहाँ रहते हैं। अतः वे उन्हीं का पक्ष लेते हैं और गल्ला तौलते समय डंडी मारकर अधिक गल्ला तौलते हैं। कभी कभी ये तराजू के पलड़े के नीचे चुम्बक या गोंद लगा देते हैं जिससे हर बार उन्हें गल्ला अधिक मिल जाता है और भोला भाला किसान इससे अनभिज्ञ रहता है। खरीदने वाले बाँट भी व्यापारियों के यहाँ अधिक वजन के रहते हैं। परिणामस्वरूप कृषक बुरी तरह ठगा जाता है।

(ग) दलाल एवं अढ़तिया—दलाल लोग किसानों को लालच देकर फसाते हैं और ये लोग अढ़तियों से मिले रहते हैं। दलाल एवं अढ़तियों का पारस्परिक सम्बन्ध होता है क्योंकि उनको बाजार में प्रत्येक दिन रहना पड़ता है। दलाल लोग फसल का मूल्य कृषकों से कपड़े की आड़ में तै करते हैं। प्रायः मूल्य तो दलाल और अढ़तियों के बीच तै होता है जिसका ज्ञान किसान को बिलकुल ही नहीं हो पाता। दलाल सदैव अढ़तिया का पक्ष लेता है और इसलिए किसान को उचित मूल्य नहीं मिल पाता। इसके अतिरिक्त दलाली के रूप में और रुपया भी किसान को देना पड़ता है।

(घ) बाजार के प्रचलित रीति रिवाज—बाजारों में बहुत से रीति रिवाज बना रक्खे गये हैं जिनसे किसानों को और भी नुकसान उठाना पड़ता है। ये रिवाज निम्नलिखित हैं—

(i) नमूना—नमूने के लिए किसानों को गल्ला देना पड़ता है जो कई लोगों के दिखाने के बहाने दलाल काफी मात्रा में ले लेता है। इसका कुछ भी मूल्य किसान को नहीं मिलता है।

(ii) करदा—अनाज तुल जाने के बाद में कुल वजन में से कुछ वजन किसानों को इसलिए कम करना पड़ता है कि उनके अनाज में मिलावट है और गर्द या कङ्कड़ हैं। यह एक रिवाज है चाहे मिलावट हो या न हो कृषक को करदा के रूप में छूट देनी ही पड़ेगी। अनाज तुल जाने के बाद यदि कृषक इन्कार भी कर दे तो उसको माल के पुनः लदवाने में भी और व्यय करना पड़े। इसलिए वह करदा देना ही पसन्द कर लेता है और नाहक घाटा उठाता है।

(iii) विभिन्न कर—मण्डी आने पर किसान को बहुत से कर भी देने पड़ते हैं जिनका रिवाज है। सबसे पहले शहर में घुसने पर चुंगी ही देनी पड़ती है। फिर बाजार में आने पर बेचने के स्थान का किराया, पल्लेदारी, तुलाई, दस्तूरी, प्याऊ इत्यादि को भी कुछ न कुछ देना पड़ता है। इसके अतिरिक्त धर्मादा के नाम पर

मन्दिर, गोशाला, अनाथालय, पाठशाला आदि के लिए भी चन्दा देना पड़ता है। भंगी, मुनीम, चौकीदार, भिखारी इत्यादि के लिए भी कटौती की जाती है। किसान के अकेला और भोला भाला होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति मण्डी में कुछ न कुछ लेने का प्रयत्न करता है और किसान ठगा जाता है। इस प्रकार खरीदार के खर्चे किसानों पर लाद दिये जाते हैं और किसानों को उन बातों के लिए भी रुपया देना पड़ता है जिससे वह कुछ भी लाभ नहीं उठाता है। कृषि आयोग ने ठीक ही लिखा है—

"बाजारों में प्रचलित बहुत से रिवाज तो खुली चोरी से कम नहीं हैं।"

दोषों के दूर करने के उपाय

वस्तुओं का विक्रय एक कला है। कृषक इस कला में तभी प्रवीण हो सकते हैं जब उनको उचित शिक्षा की व्यवस्था की जाय। वास्तव में अशिक्षा ही किसानों की अकुशलता का मुख्य कारण है। अतः शिक्षा का प्रसार अत्यन्त आवश्यक है। अन्य उपाय निम्नलिखित हैं—

(१) यातायात के साधनों में विस्तार

(२) प्रमाणीकरण एवं श्रेणीकरण की सुविधाएँ

(३) उचित साख की व्यवस्था—वास्तव में किसान के द्वारा मंडियों में फसल न बेचने का कारण यह है कि ऋणदार होने के कारण वह महाजन एवं बनियों का दाब बना रहता है। इसके अतिरिक्त धनाभाव के कारण उसको अपनी फसल काटने के बाद तुरन्त ही कम मूल्य पर बेच देना पड़ता है। ऐसे समय में पूर्ति अधिक होने के कारण मूल्य तो कम रहता ही है, महाजन या गाँव का बनिया व्यापारी किसानों की गरजमन्द होने का और भी लाभ उठाता है। साख की उचित व्यवस्था से किसान महाजनों के चुंगल से निकल सकता है और फसल को कुछ समय तक रोकने की क्षमता प्राप्त कर सकता है जिससे उसे अधिक मूल्य प्राप्त होने की सम्भावना रहती है।

(४) मध्यस्था का अन्त

(५) संगठित बाजारों की स्थापना—इसके लिए सरकार द्वारा नियन्त्रण की आवश्यकता है। वे सभी रीति रिवाज जो बाजार में प्रचलित हैं, नियन्त्रित बाजार में खत्म हो जायगे। कम तौलाई, बाटों में विभिन्नता एवं डंडी मारने आदि की धाँधलेबाजी भी खत्म हो जायगी। इस प्रकार बाजारों में फैली हुई अन्धेरगर्दी एवं अनियमितता का अन्त हो जायगा।

(६) बाँट एवं तौलों का सरकार द्वारा प्रमाणीकरण एवं बाजारों में लागू करने की व्यवस्था और नियन्त्रण।

(७) बाजार सम्बन्धी सूचनाओं की व्यवस्था—सरकारा द्वारा रेडियो से अथवा समाचारपत्रों द्वारा यह व्यवस्था की जा सकती है।

(८) माल की किस्म मे उन्नति की व्यवस्था—यह अच्छे बीज एव वैज्ञानिक कृषि की व्यवस्था द्वारा पूर्ण किया जा सकता है।

(९) अन्न भंडारों तथा गोदामों की व्यवस्था—भारत में सग्रह की दुर्व्यवस्था के कारण आज भी किसान अपने भोपड़ों में, कोठियों में, खादरों और कनालो आदि पुराने सग्रह करने के तरीकों को अपनाये हुए हैं। उचित मूल्य प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि कृषक अपनी फसल को शीघ्रता से विक्रय न करके अच्छे भावों की प्रतीक्षा करे। उसके लिए सग्रह एव भडार की व्यवस्था वाछनीय है। अनाज सग्रह करने क सुधरे हुए वैज्ञानिक तरीकों द्वारा उस राष्ट्रीय हानि को रोका जा सकता है जो सग्रह के निकृष्ट तरीकों के कारण भारत में प्रतिवर्ष लगभग ३१ लाख ५ हजार टन अनाज के रूप में होती है। वास्तव में गोदामों से अन्य लाभ भी होंगे जो निम्नलिखित हैं—

(क) फसल के सग्रहण की व्यवस्था करके बाजार भावों के होने वाले ह्रास को रोका जा सकता है।

(ख) सग्रहीत माल पर ऋण प्राप्त करने में सुविधा रहती है। गोदाम रसीद के द्वारा कृषक अपनी साख का विस्तार कर सकते हैं।

(ग) व्यापारी लोग गोदाम में ही कृषि पदार्थों का क्रय कर लेते हैं जिससे यातायात व्यय व उठा-धरी व्यय में मितव्ययता होती है।

(घ) गोदामों से केवल उपज को नष्ट होने से ही नहीं बचाया जाता, अपितु निर्यात क लिये, शुद्धीकरण, वर्गीकरण, सुखाने की व्यवस्था, भरने की सुविधा, परिकरण इत्यादि की सुविधायें भी प्राप्त हो सकती हैं जिससे विपणन अच्छे मूल्यों पर किया जा सकता है।

(१०) सहकारी विपणन-समितियों का विकास

श्री एफ० कलवर्ट के शब्दों में—

"सहकारिता एक प्रकार का सगठन है जिसमे लोग स्वेच्छा पूर्वक, मनुष्य के रूप से और समानता के आधार पर अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये सहयोग करते हैं।"

वास्तव में सहकारिता ही निर्धन, दुर्बल एव शक्तिहीन कृषक के पास मूल अस्त्र है जिसके द्वारा वह धनी, सम्पन्न एव चतुर लोगों पर विजय प्राप्त कर सकता है। 'एकता में बल है' इसमें कोई सन्देह नहीं। सहकारी-कृषि समितियों द्वारा कृषक अपनी फसल की बिक्री में लम्बी मध्यस्थों की शृखला तोड़कर उपभोक्ता से

सीधा सम्पर्क स्थापित करने में सफल हो सकता है। इन समितियों द्वारा विपणन के बहुत से दोष दूर किये जा सकते हैं और कृषकों को अपने परिश्रम का उचित पुरस्कार मिल सकता है। महाजन के पंजों से छुटकारा पाना केवल सहकारिता के बल पर ही निर्भर है। सहकारी कृषि समितियों से कृषकों को निम्नलिखित लाभ प्राप्त होंगे—

(क) भाव-ताव करने की क्षमता में वृद्धि—जब सभी कृषकों की फसल समितियों द्वारा बेची जाती है तो गाँव का व्यापारी केवल इन्हीं समितियों द्वारा ही अनाज खरीद सकता है। इन समितियों के हाथ में उस की सब पूर्ति होने के कारण गाँव का व्यापारी उचित मूल्य देने के लिये मजबूर हो जाता है।

(ख) साख का प्रबन्ध—इन समितियों को बैंक से फसल के आधार पर ऋण आसानी से मिल जाता है और ब्याज की दर भी उचित होती है। प्रत्येक किसान जो इन समितियों का सदस्य होता है, ऋण ले सकता है। परिणामस्वरूप महाजनों के पंजे से छुटकारा मिल जाता है।

(ग) कम खर्चे पर मंडियों से सम्बन्ध—सहकारी समितियों के पास अधिक मात्रा में फसल होने के कारण ट्रकों या रेलों का उचित उपयोग फसलों को मंडी तक ले जाने में किया जा सकता है। प्रत्येक किसान अलग-अलग अपने माल को ट्रक द्वारा नहीं भेज सकता क्योंकि थोड़ा माल भेजने में ले जाने का खर्चा अधिक बैठता है। समितियों के पास गल्ला अधिक होने के कारण यह सम्भव हो जाता है कि थोक व्यापारी से सीधा सम्पर्क स्थापित किया जा सके।

(घ) प्रमाणीकरण एवं श्रेणीकरण में सुविधा—समितियों के पास अधिक मात्रा में अनाज इकट्ठा होने के कारण प्रमाणीकरण एवं श्रेणीकरण भी सुविधाजनक हो जाता है। इस सुविधा के कारण माल का उचित मूल्य तो प्राप्त होता ही है, और साथ ही साथ करदा इत्यादि जो कटौतियाँ होती हैं वे भी समाप्त हो जाती हैं। इसके अलावा दूर की मंडियों में नमूने के अनुसार बिक्री सम्भव होने के कारण माल को उस मंडी में बेचने की सहूलियत होती है जहाँ पर वस्तु का मूल्य सबसे अधिक हो।

उपर्युक्त लाभों के अतिरिक्त एक लाभ यह भी होगा कि सहकारी समितियाँ फसल को सुरक्षित रखने के लिये अच्छे गोदामों का निर्माण करा सकती हैं जो एकाकी किसान नहीं करा पाता और इस प्रकार वस्तु की पूर्ति पर नियन्त्रण रक्खा जा सकता है। पूर्ति के नियंत्रण के कारण अधिक मूल्य भी प्राप्त हो जाता है।

सरकार द्वारा प्रयत्न (Government Measures)

सरकार द्वारा भी विपणन की समस्या हल करने के लिये विभिन्न उपाय किये गये हैं जिनका विवरण निम्नलिखित है—

(१) विपणन विभाग की स्थापना—भारतीय कृषि आयोग ने यह सिफ़ारिश की थी कि कृषि विभाग में कुछ विपणन अधिकारियों (Marketing Officers) की नियुक्ति की जानी चाहिये, किन्तु आर्थिक कठिनाइयों के कारण प्रान्तीय सरकारें इस पर अमल नहीं कर सकीं। परन्तु भारत सरकार ने कृषि विपणन के महत्व को समझ कर इस सिफारिश पर अमल करने का इरादा किया। यह सोचा गया कि ऐसे योग्य व्यक्ति को जो अन्य देशों में कृषि विपणन का अनुभव रखता हो कुछ समय के लिये इस कार्य पर नियुक्त किया जाये और उसके लिये कुछ सहायक अधिकारियों की भी नियुक्ति हो। परिणामस्वरूप १ जनवरी १६३५ को दिल्ली में भारत सरकार के कृषि विपणन सलाहकार के कार्यालय की स्थापना हुई। इस दफ्तर में अब कृषि विपणन सलाहकार, सहायक कृषि विपणन सलाहकार, तीन सीनियर विपणन सलाहकार, चार विपणन अधिकारी, एक सुपरवाइजर और सोलह सहायक विपणन अधिकारी हैं। विभिन्न राज्यों में अलग अलग विपणन विभाग हैं। जिन राज्यों में उच्च विपणन अधिकारी नहीं होता वहाँ उसका कार्य कृषि सञ्चालक करता है।

विपणन विभाग के निम्नलिखित कार्य हैं—

(क) विपणन सम्बन्धी निरीक्षण करके रिपोर्ट प्रकाशित करना—विपणन विभाग उत्पादन की समस्याओं, वितरण, थोक व्यवसाय, निष्कासन, एकत्रीकरण, मूल्य एवं किस्मों के बारे में निरीक्षण करता है और रिपोर्ट प्रकाशित करता है। इस प्रकार विभाग ने १६३७ तक लगभग ३६० स्थानीय विपणन निरीक्षण कर लिये थे। सन् १६४१ में मटर, मेथी, गांजा का फूल, टमाटर, दालें, हड्डियाँ और कुछ अन्य वस्तुओं के विपणन के निरीक्षण किये गये परन्तु उनकी रिपोर्ट प्रकाशित नहीं हुई।

(ख) वस्तुओं का प्रमाणीकरण—इस विभाग का दूसरा कार्य विभिन्न वस्तुओं के नमूने इकट्ठा करके उनका विश्लेषण करना है। १६३८ में शक्कर, लाख और मक्खन के विश्लेषण पर अधिक जोर दिया गया था। १६३७ में वस्तु के ग्रेड, प्रकार और किस्म के प्रमाप को निश्चित करने के लिये Agricultural Produce Grading & Marketing Act बना। इस अधिनियम के अन्तर्गत कृषि विपणन सलाहकार को यह अधिकार दिया गया है कि वह ऐसे व्यक्तियों

को स्वामित्व का सर्टीफिकेट प्रदान करे जो अपनी वस्तुओं के क्रमबंधन के लिये तैयार हों। इस कानून द्वारा अब फल, सब्जियाँ, चमड़ा, दूध, दही, घी, तम्बाकू, काफ़ी, आटा, तिलहन, वनस्पति तेल, रुई, चावल, गेहूं, लाख, गुड़, हर्र बहेड़ा, ऊन, इत्यादि वस्तुओं का श्रेणीकरण एवं प्रमाणीकरण किया जाता है। प्रत्येक श्रेणीकृत वस्तु पर आग मार्क मुहर लगा दी जाती है। अनुमान लगाया गया है कि प्रति वर्ष लगभग १२ करोड़ रुपयों की वस्तुओं का रासायनिक विश्लेषण एवं श्रेणीकरण और प्रमाणीकरण किया जाता है।

(ग) बाजार सम्बन्धी सूचनाओं को प्रसारित करने की व्यवस्था—आजकल दिल्ली रेडियो स्टेशन से बाजार की साप्ताहिक खबरें प्रसारित की जाती हैं जो हापुड़ मण्डी में विभिन्न वस्तुओं के मूल्य बताती हैं। कलकत्ता से भी रेडियो द्वारा भाव सम्बन्धी सूचना प्रसारित की जाती है। बम्बई से सोना, चाँदी, गेहूं, अलसी मूँगफली आदि के भाव बताये जाते हैं। यह कार्य केन्द्रीय सरकार के कृषि विभाग द्वारा होता है।

(घ) कृषि एवं औद्योगिक प्रदर्शनियों का आयोजन—इन प्रदर्शनियों में यह विभाग अपना कार्य विवरण प्रस्तुत करता रहता है। प्रमाणीकरण एवं श्रेणीकरण को भी प्रदर्शित किया जाता है।

(२) तौल और बाँटों में सुधार—बाँटों और तौलों में विभिन्न स्थानों पर समानता लाने के लिये भारत सरकार ने सन् १९३९ में प्रमाणित तौल विधान (Standards Weight Act) पास किया। यह अधिनियम १ जुलाई १९४२ से सम्पूर्ण भारत में लागू कर दिया गया। बम्बई, बिहार, मध्यप्रदेश, हैदराबाद, मैसूर एवं पटियाला राज्य में कानून द्वारा प्रमाणित तौलों को अनिवार्य कर दिया गया है। योजना आयोग का सुझाव है कि अन्य राज्यों में भी इसको अनिवार्य रूप से लागू कर देना चाहिये। मेट्रिक प्रणाली (Metric System) जो भारत में लागू की जा रही है तौल के लिये अत्यन्त लाभकारी सिद्ध होगी।

(३) नियन्त्रित मण्डियों की स्थापना

नियन्त्रित बाजारों की स्थापना सर्वप्रथम बरार में १८९७ ई० में की गई थी। इसके बाद मध्यप्रदेश, मद्रास, हैदराबाद, मैसूर, ग्वालियर, बड़ौदा आदि राज्यों में की गई। मध्यप्रदेश में रुई के लिये नियन्त्रित बाजारों की संख्या १९४९ में ३६ थी। उत्तर प्रदेश, पंजाब और बम्बई में भी बाजारों का नियमित सञ्चालन किया जा रहा है। पूर्वी पंजाब में ५६, हैदराबाद में ४२ और ग्वालियर में १६ नियन्त्रित मंडियाँ हैं। इस समय आंध्र प्रदेश, बम्बई, मैसूर मध्यप्रदेश, उड़ीसा और पंजाब में ५३२ मंडियाँ

काम कर रही हैं। कुछ मंडियों में तो किसानों के ठहरने के लिये विश्रामघर और खाने-पीने की चीज़ों की दूकानें भी बनायी गयी हैं। इन मंडियों की मुख्य विशेषताएँ निम्न लिखित हैं—

(i) इन मंडियों का प्रबन्ध क्रेताओं और विक्रेताओं के प्रतिनिधियों की एक समिति द्वारा होता है। ये समितियाँ तौल, माप तथा कटौतियों पर नियन्त्रण रखती हैं और कृषकों की दलालों से रक्षा करती हैं।

(ii) प्रत्येक मध्यस्थ, दलाल, तौलने वाले को समिति द्वारा अपना पञ्जीयन (Registration) कराकर अनुज्ञा पत्र (Licence) प्राप्त करना आवश्यक होता है। अनुचित कार्यवाही पर दण्ड की व्यवस्था होती है।

(iii) क्रेताओं और विक्रेताओं के बीच झगड़ों का निबटारा भी समिति ही करती है।

(iv) तौलाई, चुंगी एवं बाजार के अन्य कर मंडी समिति द्वारा निर्धारित किये जाते हैं। अन्य प्रकार के अनिर्धारित व्यय कृषकों से कोई भी नहीं ले सकता।

उपर्युक्त सुविधाओं के कारण कृषक इन मंडियों की ओर स्वयं आकृष्ट होकर अपना माल बेचने आते हैं। पहले केवल १० प्रतिशत किसान ही अपना माल खुद बेचने जाते थे, अब मंडियों में आने वालों में ६० प्रतिशत ऐसे होते हैं जो अपना माल लाकर वहाँ बेचते हैं। मंडी खर्च में भी २८ से ६६ प्रतिशत तक कमी हो गई है। फलस्वरूप किसानों को वहाँ माल बेचने से प्रति सैंकड़ा २ रु० से ५ रु० तक और मुनाफा होने लगा है।

(४) गोदामों की सुविधायें

केन्द्रीय सरकार ने सन् १९४४ में गोदाम सचालक विभाग की स्थापना की थी जिसका कार्य संग्रह करने की वर्तमान अवस्थाओं और भविष्य के लिये सुझाव देने, संग्रह करने की पद्धतियों की सूचना देने, प्रान्तीय संग्रह अधिकारियों को शिक्षा देने आदि का है। इस विभाग द्वारा कई लाख टन अनाज संग्रह करने के लिये बम्बई, विज़गापट्टम, कोयमबेटूर तथा मध्यप्रदेश और उड़ीसा में बड़े-बड़े गोदाम बनवाये गये हैं।

सरकार द्वारा नियुक्त ग्रामीण ऋण सर्वेक्षण समिति द्वारा दी गई प्रतिवेदन में गोदामों के विषय में बहुत सुझाव रखे गये थे, जिन्हें सरकार ने मान्यता प्रदान की और आज देश में उसी के अनुसार कार्य किया जा रहा है। समिति के सुझाव के अनुसार सरकार ने "कृषि उपज (विकास और गोदाम) निगम अधिनियम

सन् १९५६" पारित किया जिसके अन्तर्गत केन्द्रीय गोदाम निगम व राष्ट्रीय सहकारी विकास और गोदाम बोर्ड की स्थापना की गई। इस अधिनियम की मुख्य धारायें निम्न हैं—

(i) राष्ट्रीय सहकारी विकास और गोदाम बोर्ड की स्थापना की जाय, जिसको यह अधिकार होगा कि वह कार्य पड़ी भूमि पर अधिकार करे और गोदामों की शृंखला देश में खोलने में सहयोग दें।

(ii) इस बोर्ड के १० सदस्य हैं, जिसमें केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि, वायदा विपणन आयोग के सभापति, रिजर्व बैंक के प्रतिनिधि, राज्य बैंक के प्रतिनिधि व केन्द्रीय सरकार द्वारा अन्य अधिकृत अधिकारी गण उसके सदस्य होंगे।

(iii) बोर्ड के कार्यों में सहकारी विपणन समितियों के साथ ही गोदामों की योजना बनाना, उत्पादित माल का पारेषण, विक्रय व्यवस्था का भी भार सौंपा गया है।

(iv) केन्द्रीय सरकार ५ करोड़ रु० की (Non-recurring) सहायता देगी व ५ करोड़ रु० की (Recurring) सहायता ५ वर्ष तक देती रहेगी। बोर्ड के दो कोष होंगे (अ) राष्ट्रीय सहकारी विकास कोष और (आ) राष्ट्रीय गोदाम विकास कोष। पहले में ३ करोड़ व दूसरे में २ करोड़ रुपयों का कोष होगा।

(v) केन्द्रीय गोदाम निगम की स्थापना २ मार्च सन् १९५७ को हो गई है। इस निगम की अधिकतम पूँजी २० करोड़ रुपये की होगी और १ हजार रुपयों के २ लाख अंश होंगे। निगम के १४ सचालक होंगे। निगम के अनेक कार्यों में से एक दूसरी पंचवर्षीय योजना में देश भर में १०० गोदामों की एक शृङ्खला स्थापित करना व प्रत्येक राज्य में राजकीय गोदाम निगम खोलने में सहायता देनी होगी। राज्य निगम राज्यों में २५० गोदामों की स्थापना करेंगे। निगमों के उत्तरदायित्व में गोदामों के लिये भवन निर्माण, कृषि उत्पादन के लिये व्यवस्था करना, खाद, औजार व बीज के भण्डार की व्यवस्था करना व ग्रामीणों को ऋण इत्यादि प्राप्त कराने में सहायता करना इत्यादि कार्य सम्मिलित हैं। राज्य गोदाम निगम केन्द्रीय निगम के निर्देशन के अनुसार कार्य करेंगे। राज्य निगमों की अधिकृत पूँजी २ करोड़ रु० से अधिक नहीं होगी। राज्य गोदाम निगम सम्बन्धित राज्यों में सहकारी समितियों के विपणन कार्य के साथ ही गोदामों के विकास कार्यों को भी सम्मिलित रूप से विकसित करेंगे। उत्तर प्रदेश की राज्य सरकार ने अभी हाल में ही ऐसे निगम की स्थापना की है।

द्वितीय पञ्च वर्षीय योजना मे कार्यक्रम

वर्तमान समय में देश में गोदामों की व्यवस्था बहुत ही शोचनीय है, परन्तु फिर भी सरकार क प्रयत्नों से २ लाख १० हजार टन अन्न संग्रह करने के लिये गोदाम बनाये जा चुके हैं परन्तु गोदामों का विस्तार गाँवों में करना अत्यन्त आवश्यक है। यह कार्य सरकार व जनता दोनों के सहयोग से ही सम्पन्न हो सकता है। योजना आयोग ने गोदामों की व्यवस्था के लिये द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना में निम्न लक्ष्य रखे हैं—

(i) १०० गोदामों का निर्माण, जिनकी क्षमता १० से २० हजार टन तक की होगी। ये केन्द्रीय निगम द्वारा स्थापित किये जायेंगे।

(ii) २५० गोदाम, राज्य गोदाम निगमों द्वारा, जिनमें प्रत्येक की संग्रहण क्षमता २ हजार से १० हजार टन तक की होगी, स्थापित किये जायेंगे।

(iii) १५०० विपणन समितियों के गोदाम व ४ हजार बड़ी समितियों के गोदाम भी स्थापित किये जायेंगे।

इस प्रकार उपर्युक्त योजना के अनुसार देश की संग्रहण क्षमता ४० लाख टन तक हो जायगी। केन्द्रीय गोदाम निगम की प्रथम सचालक सभा श्री पी० एन थापर की अध्यक्षता म २१ मार्च १९५७ को हुई थी। इस सभा ने इस वर्ष के लिये ४२ गोदामों की व्यवस्था भी तैयार कर ली है।

(५) सरकार द्वारा सहकारी विपणन समितियों को प्रोत्साहन—विभिन्न राज्यों में इस प्रकार की सहकारी समितियों की स्थापना की गई है। बम्बई राज्य में १९३९ ई० के पश्चात् सहकारी-विपणन समितियों ने काफी प्रगति की है। सन् १९३९ में इनकी संख्या ६४ थी परन्तु १९४९ ५० में १४४ हो गई। सन् १९४९-५० में इन समितियों ने २०३२ ०५ लाख रुपयों की बिक्री की। गुजरात व खानदेश में कपास की बिक्री के लिये इनकी स्थापना हुई है।

उत्तर प्रदेश और बिहार राज्यों में गन्ने की बिक्री के लिए सहकारी समितियाँ सतोषजनक कार्य कर रही हैं। उत्तर प्रदेश में पिछले १० वर्षों में लगभग १६,००० गन्ना सहकारी समितियां स्थापित की जा चुकी हैं। चीनी के कारखानों को जितना गन्ना मिलता है उसका ८५ से ९० प्रतिशत भाग इन समितियों द्वारा ही दिया जाता है। इन समितियों द्वारा दिये गये १९४८ ४९ से १९५१ ५२ ई० तक ५० लाख टन गन्ने का मूल्य २५ करोड रुपये था। यह सफलता 'Sugar Factory Control Act में दी गई सुविधाओं के कारण हो सकी है। इसके अतिरिक्त उत्तर प्रदेश म सन् १९४२ में गेहूँ, तिलहन, दालें, तम्बाकू आदि के विपणन के लिये ११६

समितियाँ थीं और घी के विक्रय के लिये ७२७ समितियाँ थीं। सन् १६४६-५० में ६३० घी समितियों ने .७२ लाख रुपये का लाभ कमाया।

मद्रास में १६३६ में विक्रय समितियों की संख्या केवल १३८ थी किन्तु १६४६-५० में बढ़कर २७६ हो गई जिन्होंने सब मिलाकर ३६४५८ लाख रुपये का माल बेचा। इसके अतिरिक्त वहाँ पर केन्द्रीय विक्रय संघ भी है। मद्रास की ये समितियाँ चावल, मूँगफली, तम्बाकू, मिर्च, नारियल, तिलहन, रुई और सुपारी इत्यादि का विक्रय करती हैं।

उपर्युक्त राज्यों के अतिरिक्त मैसूर, कुर्ग, मध्यप्रदेश, हैदराबाद तथा पेप्सू में भी इसी प्रकार की समितियाँ पाई जाती हैं।

सरैया (सहकारी) समिति—सन् १६४६ में भारत सरकार ने श्री आर० बी० सरैया की अध्यक्षता में एक सहकारी योजना समिति की स्थापना की। इस समिति ने सुधार के लिये निम्न सुझाव दिये—

(i) १० वर्ष के अन्दर सभी कृषि पदार्थों का २५% भाग सहकारी विक्रय समितियों के द्वारा खरीदा बेचा जावे। इसके लिए २,००० विक्रय समितियाँ, १२ प्रान्तीय विक्रय संघ तथा एक केन्द्रीय विक्रय संघ की स्थापना की जावे।

(ii) सदस्यों के लिये अपना उत्पादन इन समितियों के हाथ बेचना अनिवार्य होना चाहिये।

(iii) प्रत्येक २ हजार मंडियों अथवा २० गाँवों के लिये एक विक्रय समिति होनी चाहिये।

(iv) अखिल भारतीय विक्रय संघ की स्थापना जो प्रान्तीय समितियों में सामञ्जस्य स्थापित कर सके।

गोरवाला कमेटी

सन् १६५२-५३ में गोरवाला कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में विक्रय समिति बनाने का सुझाव दिया है। इस कमेटी के अनुसार—

(१) प्रत्येक मण्डी में एक विक्रय समिति की स्थापना हो, जिसको सफल बनाने का भरसक प्रयत्न किया जाय।

(२) इस समिति के सदस्य कृषकों के अतिरिक्त सरकार भी होगी। समिति की पूँजी के लिये जहाँ सदस्यों को चन्दा देना अनिवार्य है वहाँ यह भी जरूरी है कि सरकार भी इसमें भागी हो।

(३) समिति को सफलतापूर्वक चलाने के हेतु बुद्धिमान एवं कुशल कर्मचारी देना सरकार की जिम्मेदारी होगी।

(४) इस समिति का यद्यपि मुख्य कार्य सदस्यों के उत्पादन का विक्रय करना होगा, किन्तु इसके अलावा यह समितिश्रेणियन तथा संग्रह करने का भी कार्य कर सकती है।

(५) शेष स्थानों में जहाँ विक्रय समिति खोली जाय वहाँ किसी सहकारी बैंक की शाखा अथवा कोई बृहत्-स्तर वाली साख समिति अवश्य होनी चाहिये जिससे विपणन तथा साख में सदा सर्वोचित सम्बन्ध रहे।

अक्तूबर सन् १६५३ ई० में नई दिल्ली म विभिन्न राज्यों के बाजारों के अधिकारियों का सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में कृषि पदार्थों के विपणन के सम्बन्ध म अत्यन्त महत्वपूर्ण सिफारिशें की गईं।

पचवर्षीय योजना मे कृषि विपणन

पचवर्षीय योजना में कृषि वस्तुओं के विक्रय के लिए सहकारी समितियों के विकास, प्रसार तथा उत्पादन की पूँजी समस्या एव विक्रय समस्या, दोनों के पारस्परिक सम्पर्क पर बहुत ज़ोर दिया गया है। इसके विशेष अध्ययन के लिये चार विशेषज्ञों की एक केन्द्रीय समिति स्थापित करने की सिफारिश की गई है। नियन्त्रित मडियों के विकास, मडियों में कृषक सहकारी समितियों के अधिक प्रतिनिधित्व तथा प्रमाणिक तौल विधान को उचित रूप से लागू करने की योजना भी बनाई गई है। ऊन, लाख, चमड़ा तथा तिलहन आदि वस्तुओं के श्रेणियन के लिये योजना में ८६ ५ लाख रुपए का आयोजन है। श्रेणीकरण के कारण यह आशा की जाती है कि देश में इन वस्तुओं क मूल्य में १०% से १५% तक वृद्धि हो जायगी, जिससे किसान की आर्थिक स्थिति म सुधार होगा।

तोल-माप की मीटरिक प्रणाली की व्यवस्था

नाप और तौल म भारत ने मीटर प्रणाली का शुभारम्भ गत वर्ष किया है। वैसे तो जुलाई १, १६५८ से ही इसका श्री गणेश जूट उद्योग में कर दिया गया था, क्योंकि जूट व्यवसाय का आर्थिक वर्ष पहली जुलाई से प्रारम्भ होता है किन्तु इसका वास्तविक आरम्भ अक्तूबर १,१६५८ से किया गया है। यह प्रणाली समस्त देश में एक साथ लागू नहीं की गई है वरन् यह धीरे-धीरे १० वर्षों म लागू हो पायेगी। नवीन प्रणाली के अपनाने का आधार उसकी सरलता तथा व्यापकता है। हमारे यहाँ इस समय लगभग १४३ प्रणालियों का प्रयोग होता है। इन नाना प्रकार के बाटों और पैमानों के चलने से नाना प्रकार की कठिनाइयाँ, उलझनें और गड़बड़ियाँ उत्पन्न होती रहती हैं। बेईमानी, ठगी, धोखेबाजी, लूट, अधेर चाहे जैसी भी सज्ञा दें, बाँटों की विविधता के कारण सबकी सब उपयुक्त ही होंगी। एक राज्य के बाँट और

पैमाने दूसरे राज्य के बाँट और पैमानों से भिन्न प्रकार के हों यह बात कुछ सीमा तक भी न्यायसंगत नहीं जचती है। देश भर में मीटरिक नाप तौल पर आधारित एक समान प्रणाली आरम्भ हो जाने से पर्याप्त सुविधा हो जायगी और सारे देश का व्यापार एक आधार पर आ जाने से उसमें पर्याप्त वृद्धि की आशा है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कृषि विपणन में सरकार द्वारा किये गये प्रयत्न सराहनीय हैं, परन्तु सरकार ही सब कुछ नहीं कर सकती। जब तक कृषक स्वयं भी इस योग्य न होगा कि वह सरकारी योजनाओं से लाभ उठा सके तब तक इस दिशा में पूर्ण सफलता नहीं प्राप्त हो सकती। हर्ष का विषय है कि अपनी राष्ट्रीय सरकार कृषकों की शिक्षा की ओर अधिक ध्यान दे रही है। अज्ञानता दूर होने के उपरान्त सहकारिता का स्वयं ही विकास सम्भव हो सकेगा और कृषक कुशल विक्रेता के रूप में अपने परिश्रम का उचित पुरस्कार प्राप्त करके अपनी तथा कृषि की उन्नति के पथ पर अग्रसर हो सकेगा।

१०

भूमि-व्यवस्था

(Land Tenure System)

टेन्योर (Tenure) शब्द की उत्पत्ति लैटिन शब्द Teno से हुई है जिसका अर्थ होता है 'अधिकार'। अत. भूमि व्यवस्था से आशय यह है कि भूमि पर किसका क्या अधिकार है, कृषक और भू-स्वामी का परस्पर क्या सम्बन्ध है और कृषक किन दशाओं म भूमि पर कृषि करता है। वास्तव में भूमि पर कृषक के क्या अधिकार हैं और वह किन दशाओं में कृषि करता है इसका प्रभाव कृषि विकास एव कृषकों की आर्थिक उन्नति पर अत्यधिक पड़ता है। किसी ने ठीक ही लिखा है—

"अधिकार का जादू रेत को भी सोने में परिणित कर सकता है।"

भूमि प्रकृति की देन है। अत. सभी मनुष्यों को इसका उपयोग करने का अधिकार है। यदि लोगों को यह अधिकार नहीं प्रदान किया जाता तो यह एक सामाजिक अन्याय है। यही कारण है कि भूमि-व्यवस्था में उत्पादन एव सामाजिक न्याय का भी समावेश हो जाता है। भारत कृषिप्रधान देश है और यहाँ की लगभग ८० प्रतिशत जनसंख्या कृषि पर ही निर्भर है। किन्तु उचित भूमि व्यवस्था न होने के कारण आज भी हमारी कृषि अन्य उन्नतशील राष्ट्रों से पिछड़ी हुई है और कृषक दरिद्रता के दलदल में फँसा हुआ है। किसी भी देश की आर्थिक व्यवस्था की आधारशिला वहाँ की भूमि होती है। भूमि के उचित वितरण एव भूमि पर कृषकों के अधिकारों पर ही वहाँ के कृषकों की आर्थिक सम्पन्नता निर्भर होती है। भारतीय भूमि व्यवस्था की मुख्य विशेषताएँ अब तक यह रही हैं—भूमि पर कृषकों का स्थायी अधिकार न होना, मध्यस्थों का आधिक्य, अत्यधिक लगान, अनुपस्थित जमींदारों तथा भू स्वामियों की वृद्धि एव उनकी स्वेच्छाचारिता एव शोषण। इस प्रकार भारतीय भूमि-व्यवस्था दीर्घकाल से दोषों से परिपूर्ण है। जनसमूह की सम्पन्नता एव वैभव पर भूमि अधिकारों का बड़ा प्रभाव पड़ता है। आज किसान दरिद्र है क्योंकि भूमि पर स्थायी अधिकार न होने के कारण भूमि पर सुधार नहीं कर सका और शोषण के कारण अपने परिश्रम का उचित पुरस्कार नहीं प्राप्त कर सका। यही कारण है कि स्वतन्त्रता प्राप्त करने के उपरान्त देश की राष्ट्रीय सरकार ने जिन विभिन्न

समस्याओं का विश्लेषण किया तथा सुधार का कदम उठाया उनमें से भूमि व्यवस्था प्रमुख है। वास्तव में देश में कृषि सम्बन्धी सुधार अथवा ग्राम-सुधार की कोई भी योजना उस समय तक सफल नहीं हो सकती जब तक कि भूमि व्यवस्था उचित न हो। देश के लगभग ८० प्रतिशत ग्रामीणों के जीवन में सुधार तभी किया जा सकता है जब एक सकुशल भूमि व्यवस्था का निर्माण हो सके। देश की कुशल भूमि-व्यवस्था के निम्नलिखित उद्देश्य होने चाहिए—

(i) इससे प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास का पूर्ण अवसर प्राप्त हो सके।

(ii) किसी व्यक्ति अथवा वर्ग के शोषण का अन्त हो सके।

(iii) उत्पादन के ढंग इस प्रकार के हों जिससे उत्पादन में वृद्धि हो सके।

(iv) यथासम्भव सम्पत्ति तथा आय के वितरण की विषमता दूर हो सके।

अनुचित भूमि व्यवस्था जन-समूह में असन्तोष का मूल कारण है और असन्तोष ही क्रान्ति की जननी है। देश में शान्ति तथा व्यवस्था स्थापित करने के लिए तथा समाजवादी अर्थ-व्यवस्था का स्वप्न पूरा करने के लिए उचित भूमि-व्यवस्था नितान्त आवश्यक है। श्री राधाकमल मुकर्जी के शब्दों में—

"हमारी भूमि-व्यवस्था बड़ी दोषपूर्ण है और इसमें सुधार के बिना वैज्ञानिक कृषि अथवा सहकारिता किसी से भी कुछ लाभ नहीं होगा।"

आर० एम० टानी के शब्दों में—

"खेतों के तरीकों में सुधार निःसन्देह अनिवार्य है, परन्तु जोंकों द्वारा चूसे गये दरिद्र खेतिहरों को इसके लिए शिक्षा देना निरर्थक है क्योंकि उनके पास इसके लिए साधनों का अभाव है। उन्नीसवीं शताब्दी के योरोप में भूमि-व्यवस्था के कानून में परिवर्तन, उत्पादन विधियों और कृषि विपणन के आधुनीकरण के पूर्व ही हो चुका था। पहिली बातों के अभाव में अन्तिम दो बातें सम्भव नहीं थी।"

भारतीय भूमि व्यवस्था का ऐतिहासिक सिंहावलोकन

प्राचीन काल में भारतीय राजा ही सारी भूमि का मालिक होता था और किसानों से कर या लगान के रूप में कुल फसल में से हिस्सा लिया करता था। राजा का भाग 'मनु' के अनुसार साधारणतया $\frac{1}{6}$ और विपत्तिकाल में $\frac{1}{4}$ तक होता था। लगान की यह प्रथा अच्छी थी क्योंकि फसल के अनुपात में ही लगान होता था। गाँव का मुखिया गाँव से लगान वसूल करके राज्य के अधिकारी को दे दिया करता था। अकबर बादशाह ने भूमि पर उर्वरता के अनुसार लगान की दरें निर्धारित कीं। किसान

को द्रव्य या अनाज के रूप में लगान देने की सुविधा थी। लगान वसूल करने का तरीका मुखिया द्वारा ही होता रहा। इसका परिणाम "नानावती तथा अन्जारिया" के शब्दों में निम्नलिखित हुआ—

"लगान वसूल करने वालों के द्वारा खेत जोतने वालो का शोषण हुआ . ....ऐसी घटनाएँ भी हुईं कि लगान न दे सकने वाले किसानो को अपनी स्त्री व बच्चे तक दासो के रूप मे बेचने पड़ते थे।"

यह प्रथा मुगलो क शासनकाल तक चलती रही परन्तु अँग्रेजों का राज्य स्थापित हो जाने के बाद नई भूमि-व्यवस्थाओं का जन्म हुआ जिनका विवरण निम्न लिखित है—

(१) रैयतवाड़ी प्रथा—यह प्रथा मद्रास, बम्बई तथा आसाम में लागू की गई। इस प्रथा में कृषक ही भूमि का स्वामी होता है। कृषक तथा सरकार में प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहता है। किसान सरकार से भूमि लेता है। किसान अपने खेत को दूसरे व्यक्ति को दे सकता है, बन्धक रख सकता है परन्तु किसी भी हालत में उसे बेच नहीं सकता। यदि वह खेती नहीं करना चाहता है तो सरकार भूमि वापस ले लेती है और अन्य किसानों को दे देता है। किसान अपनी भूमि को सभी तरह क प्रयोगों में ला सकता है। किसान और सरकार क बीच कोई मध्यस्थता नहा रहता। जब तक किसान भूमि का लगान देता रहता है उसे बेदखल नहीं किया जा सकता। लगान का निर्धारण २० वर्ष से लेकर ४० वर्ष तक के लिए किया जाता है। भूमि कर निर्धारण अधिकारी ही लगान निर्धारित करता है। इस प्रथा का सबसे बड़ा दोष यह रहा कि किसान क रूप म पूँजीपतियों ने काफी भूमि हथिया ली और बड़े बड़े जमींदारों की तरह एक दीर्घ श्रृंखला खेतिहर मजदूरों की कर ली जिनका शोषण होता रहा। इस प्रकार वास्तविक किसानों और सरकार क बीच बड़े बड़े किसान मध्यस्थों के रूप में आ गये। जन साधारण जो खेती करते हैं उनका भूमि पर कोई अधिकार नहीं रहा और ये निर्धन तथा शोषित ही रहे।

(२) महालवाड़ी प्रथा—इस प्रथा का जन्म सन् १८३३ में रेगूलेशन ऐक्ट के अन्तर्गत आगरा और अवध म हुआ। यह प्रथा पंजाब और मध्यप्रदेश में भी पाई जाती है। देश का ८ प्रतिशत भाग पर इस नियम क अनुसार खेती की जाती है। सरकार प्रत्येक कृषक को अलग अलग भूमि देने क झगड़े में नहीं पड़ती है, परन्तु ग्राम के कुछ व्यक्तियों को सामूहिक रूप में देती है। इस दल का एक व्यक्ति मुखिया होता है और वह भूमि को कृषकों के मध्य विभक्त कर देता है। उसे सरकार को लगान देने का अधिकार रहता है। लगान से एक निश्चित मात्रा रखकर बाकी सरकार को दे देता है। महालवाड़ी प्रथा में यदि एक कृषक लगान देने में असमर्थ रहा, तब भी सह-

पर परिवर्तन किया जाता था। यह प्रथा मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश तथा पञ्जाब में प्रचलित था।

अँग्रेजों ने जमींदारी प्रथा का श्रीगणेश अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए किया था। वास्तव में यह प्रथा ब्रिटिश शासन की नींव दृढ़ करने के लिए एक प्रमुख साधन थी। इस प्रथा के द्वारा अँग्रेज सरकार अपनी आय निश्चित करना चाहता था। इसके अतिरिक्त राजनैतिक दृष्टि से एक ऐसे वर्ग का निर्माण करना चाहती थी जो राजभक्त हो और अपने आधीन कृषकों को अंग्रेज शासन के विरुद्ध षड्यन्त्र रोकने में कार्य करे। ये मध्यस्थ ही वास्तव में अँग्रेज शासन काल में देश के गद्दारों के रूप में कार्य करते रहे और भारत की स्वतन्त्रता में एक बड़ी बाधा के रूप में जमे रहे। भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में शिथिलता का मुख्य कारण इन्हीं की कूटनीति रही है। यही नहीं इन्होंने निर्धन किसानों का शोषण करके भारत की अधिकांश जनता को जर्जरित कर दिया और कृषि जैसे भारत के मुख्य उद्योग को भी अवनति के पथ पर डाल दिया। जमींदारी प्रथा का इतिहास वास्तव में कृषकों के ऊपर किये गये नृशंस अत्याचार का इतिहास है। कृषकों से मनमाना लगान लेना, बेगार लेना और उनके खेतों को इच्छानुसार बेदखल कर लेना आम तौर पर प्रचलित हो गया। कृषकों के भूमि पर स्थायी अधिकार न होने के कारण भूमि पर स्थायी विकास भी रुक गया और भारतीय कृषि की भावी उन्नति रुक गई।

जमींदारी प्रथा के दोष

कृषि-उद्योग की अवनति—*जमींदारी प्रथा का सबसे बड़ा दोष यह रहा कि* कृषकों के भूमि पर स्थायी अधिकार न होने के कारण किसी प्रकार का सुधार भूमि पर नहीं हुआ। कृषक इस बात से सदैव डरता रहता था कि खेत उससे किसी भी समय लिया जा सकता था और इसलिए वह उन खेतों पर किसी प्रकार स्थायी सुधार भी हितकर नहीं समझता था। उपज का बड़ा अंश जमींदार ही ले लेता था और इस लिए कृषकों में अधिक उत्पादन का चाव नहीं रहता था। परिणामस्वरूप भूमि की उर्वरा शक्ति क्रमशः कम होती चली गई और साथ ही साथ उत्पादन भी घटता गया। कृषि उद्योग में अवनति आना इन दशाओं में स्वाभाविक ही था।

किसानों का शोषण—जमींदारों को भूमि पर पूंजी लगाने के बदले में सदैव अधिक से अधिक लाभ कमाने की लालसा लगी रहती थी। दूसरी ओर किसान निर्धन एवं निःसहाय था। भूमि की माँग तो भारत में अधिक थी ही। परिणामस्वरूप किसान जमींदारों पर पूर्ण रूप से अवलम्बित थे। जमींदारों ने इस स्थिति का पूर्ण लाभ उठाया और किसानों से अधिक से अधिक लगान लेने लगे। लगान इतना अधिक था कि

गरीब किसानों को अपनी उपज का बड़ा भाग जमींदारों को दे देना पड़ता था क्योंकि वे विवश थे। निर्धनता के कारण जमींदार लोग किसानों को ऋण देते थे और उस पर बहुत अधिक ब्याज लेते थे। प्रायः किसानों की उपज को ऋण के भुगतान में बहुत सस्ते दामों पर खरीद लेते थे। परिणामस्वरूप किसानों की आर्थिक स्थिति बहुत ही दयनीय होती चली गई और ऋणग्रस्तता का साम्राज्य स्थापित हो गया जिसका समाधान अभी तक सम्भव नहीं हो सका है।

(३) भूमि का अकुशल व्यवस्था—जमींदारों को सभी सुख एवं सुविधाएँ प्राप्त थीं और इसलिए उन्होंने ऐश्वर्यपूर्ण जीवन बिताने के लिए अपने आलीशान मकान शहरों में बनाने प्रारम्भ कर दिये और जमींदारी की देख भाल करने के लिए कारिन्दों की नियुक्ति की। ये कारिन्दे भी जमींदारों की अनुपस्थिति का फायदा उठाते थे। किसानों के ऊपर हुकम करते थे और अपने लिए भी उनसे रकम वसूल करते थे। इन कारिन्दों की कृषकों के प्रति कोई भी सहानुभूति नहीं थी क्योंकि उनको तो अपने मालिकों को खुश रखना था चाहे किसानों को तकलीफ हो या आराम। जमींदार का भी कोई सम्पर्क कृषकों से नहीं रहता था और इसलिए उनको भी कुछ सहानुभूति किसानों से नहीं थी। फसल के खराब हो जाने पर किसानों के ऊपर दया दिखलाना तो दूर रहा ऊपर से लगान वसूल करने में और कड़ाई की जाती थी। किसानों के लगान न देने पर उनको धूप में खड़ा रखना, मारना, स्त्री तथा बच्चों की बेइज्जती करना इत्यादि मामूली सी बात थी।

जमींदारी व्यवस्था प्रारम्भ करते समय सरकार का ख्याल था कि जमींदार इंग्लैंड की तरह यहाँ एक ऐसा वर्ग तैयार करेंगे जो किसानों की सुरक्षा, भूमि की उन्नति, एवं कृषि विकास के लिए आर्थिक सहायता प्रदान करेंगे जिससे सारे राष्ट्र की उन्नति होगा और कृषि विकास भी सम्भव हो सकेगा। परन्तु ये सभी आशाएँ व्यर्थ रहा।

(४) कृषकों से बेगार एवं नजराने की प्रथा—जमींदार लोग कृषकों से भूमि देने के पहले से बेगार लेते थे। किसानों को जमींदारों के यहाँ मुफ्त में काम करना पड़ता था। दिवाली इत्यादि त्योहारों पर किसानों को सलामी के रूप में नजराना देना पड़ता था। मकान बनाने पर नजराने के लिए नजराना देना पड़ता था। जानवरों के बाँधने के लिए नजराना देना पड़ता था। जमींदार के यहाँ शादी इत्यादि अवसरों पर मुफ्त में दूध, दही, तरकारी इत्यादि देना तो किसानों के लिए अनिवार्य-सा था। जमींदार द्वारा भूमि को, अधिक नजराना लेकर एक काश्तकार से दूसरे को देना तो आमतौर पर प्रचलित था। परिणामस्वरूप किसानों की आर्थिक स्थिति और भी डाँवाँडोल होती चली गई।

(५) मुकदमेबाजी—किसानों की भूमि बेदखल करने के कारण एवं बकाया लगान, जिसको कृषक अपनी दरिद्रता के कारण नहीं दे सकता था, जमींदारों और किसानों में मुकदमेबाजी होना स्वाभाविक ही था। मुकदमेबाजी में किसानों का बहुत सा रुपया वकीलों की फीस इत्यादि में खर्च हो जाता था। इसके कारण किसानों में और भी निर्धनता फैलने लगी।

(६) राष्ट्रीय धन का अपव्यय—जमींदार अपने ऐश्वर्य एवं वैभव में अत्यधिक रुपया व्यय करते थे। एक ओर किसान, जो वास्तव में अथक परिश्रम करता था, दोनों समय भरपेट भोजन पाने में असमर्थ था और उसका परिवार आर्थिक संकट के सागर में डूबता था, और दूसरी ओर जमींदार बिना परिश्रम के ही रंग रेलियाँ मनाया करते थे। बढ़िया से बढ़िया खाना, कपड़ा, मकान और शराब यही जमींदारों के जीवन का उद्देश्य रहा है। यह सभी द्रव्य यदि कहीं किसानों के कल्याण पर खर्च किया जाता तो किसानों की आर्थिक समस्या एवं राष्ट्रीय विकास बहुत कुछ संभव हो जाता।

(७) देश की आर्थिक विकास की गति मन्द होना—कृषि द्वारा ही सभी कच्चे माल की प्राप्ति संभव हो सकती है और कच्चे माल की पर्याप्त पूर्ति होने पर ही देश का औद्योगिक विकास संभव हो सकता है। कोई भी राष्ट्र अपना आर्थिक विकास उस समय तक नहीं कर सकता जब तक वहाँ पर औद्योगिक एवं कृषि का विकास न हो। जमींदारी प्रथा के कारण ही देश में कृषि विकास नहीं हो सका और उसके साथ ही साथ औद्योगिक विकास भी नहीं संभव हुआ। परिणामस्वरूप आज भी भारत आर्थिक दृष्टिकोण से एक पिछड़ा हुआ देश है।

(८) सरकार का आय में घाटा—जमींदारी प्रथा में सरकार को जमींदारों से मालगुजारी के रूप में केवल एक निश्चित आय मिलती रहती है। भूमि पर लगान बढ़ाने के फलस्वरूप जो भी आमदनी होती थी वह सब जमींदारों के पास चली जाती थी। जमींदारी के अन्तर्गत खानों, नदियों, तालाबों आदि की आमदनी में भी सरकार का कुछ भी भाग नहीं रहता था।

(९) सरकार एवं कृषकों के बीच अभेद्य दीवार—सरकार का सम्बन्ध केवल जमींदारों से था और कृषकों से नहीं। परिणामस्वरूप सरकार किसानों की दशा से बिल्कुल अनभिज्ञ रहती थी और किसी भी प्रकार का सुधार के लिये कदम नहीं उठा सकती थी। इस अभेद्य दीवार के कारण किसानों का हित सरकार की आँखों से ओझल हो गया।

(१०) समाज में असन्तोष की भावना—जमींदारों के जुल्म और शोषण से पीड़ित किसान को निर्धनता एवं शोषण से छुटकारा पाने का केवल एक ही

मार्ग था जिसको क्रान्ति के नाम से पुकारा जाता है। असंतोष की भी एक सीमा होती है। जमींदारी प्रथा में किसानों के असन्तोष के कारण ही क्रान्ति के कीड़ों का जन्म हो रहा था और यह असंतोष की चिनगारी किसी भी समय भीषण अग्नि का रूप धारण कर सकती थी जिससे सारे समाज की शान्ति भङ्ग होने की शंका थी। यही कारण था कि राष्ट्र के कर्णधार महात्मा गाँधी ने जमींदारी खत्म होने पर जमींदारों के लिये कहा था—

"To day we are taking your land and paying you compensation. Five years hence the anger of the peasantry will not permit any compensation. Ten years from now you would not only lose your land but also have your throat cut."

वास्तव में जमींदारी प्रथा भारतीय कृषि की मुख्य अभिशाप रही है जिसने न केवल किसानों को निर्धन एवं दरिद्र बनाया है, वरन् सारे राष्ट्र की आर्थिक विकास की प्रगति को मन्द कर दिया। जमींदारों ने अपने कर्तव्य को नहीं निबाहा और वे सदैव भूमि को अपनी वासना तृप्ति का साधन समझते रहे। परिणाम स्वरूप कृषि में किसी प्रकार का विकास संभव न हो सका। किसान को जर्जरित एवं अकुशल बनाकर जमींदारों ने भारत के आर्थिक विकास की रीढ़ ही तोड़ दी। महात्मा गांधी ने ठीक ही कहा है—

"The Zamindars were parasites and they have failed miserably as trustees of the nation. They have regarded their property merely as a means for satisfying their lust and are, therefore, not its owners but its slaves."

सरकार द्वारा प्रयत्न (Measures taken by the Government)

१६वीं शताब्दी के मध्य तक तो हमारी गोरी सरकार का एकमात्र उद्देश्य भूमि से अपनी आमदनी को सुरक्षित बनाये रखना था। सरकार को किसानों एवं जमींदारों के पारस्परिक सम्बन्धों से कोई सरोकार नहीं था। सरकारी कोष में रुपया जमा करने एवं सरकार की जीहुजूरी करने वाले तो जमींदार थे, अतः उन्हीं के लिये सरकार सदैव ध्यान रखती रही और क्रमशः कृषकों की स्थिति दयनीय होती चली गयी। जमींदारों ने अपनी स्थिति का लाभ उठाया और परिणामस्वरूप खेतों का लगान और बेदखलियाँ बढ़ने लगीं। कृषकों की दशा शोचनीय हो गई और क्रमशः भूमि की उर्वरा शक्ति क्षीण होने के कारण उत्पादन भी घटने लगा। ब्रिटिश सरकार का मुख्य उद्देश्य तो भारत से धन धान्य लेकर अपने देश को सम्पन्न करना

था। उसकी पूर्ति किसानों की दयनीय स्थिति और कम उपज होने के कारण नहीं सम्भव हो सकती थी। सरकारी कोष में रुपया तो कृषकों की सम्पन्नता पर ही निर्भर था क्योंकि इस देश के करदाताओं में उन्हीं की अधिकांश संख्या थी। इसके अतिरिक्त ब्रिटिश सरकार यह भी जानती थी कि कृषकों में अत्यधिक असन्तोष हो जाने पर शासन की नींव दृढ़ नहीं हो सकती। परिणामस्वरूप कृषकों के लिये उचित भूमि व्यवस्था करना सरकार के लिए अनिवार्य हो गया और सरकार ने विभिन्न प्रान्तों में काश्तकारी अधिनियम पास किये और कृषकों की दशा में सुधार करने के प्रयत्न किये गये।

बंगाल—'बंगाल कृषि अधिनियम' जो १८५६ ई० में पास किया गया, कृषकों के हितों की रक्षा करने के उद्देश्य से सरकार का सर्वप्रथम प्रयास था। इस अधिनियम के अनुसार जो किसान किसी खेत को १२ वर्षों से लगातार जोत रहा था उसको मौरूसी अधिकार प्रदान कर दिए गए अर्थात् उस कृषक से भूमि बेदखल नहीं कराई जा सकती थी। किसी भी प्रकार से लगान का बढ़ाना अथवा अवैधानिक रूप से कुछ रुपया लेना गैरकानूनी करार दिया गया। यही नियम पुनः सन् १९२८ ई० में संशोधित हुआ जिसके द्वारा किसानों को खेतों पर मकान तथा कुएँ आदि के निर्माण का अधिकार प्रदान किया गया। इसका संशोधन १९३६ तथा १९४० ई० में भी हुआ। इस अधिनियम से किसानों को कुछ लाभ तो अवश्य हुआ परन्तु जमींदार लोग किसी भी एक किसान को भूमि १२ वर्ष के लिए न देने लगे और इस प्रकार कुछ थोड़े से ही किसानों को मौरूसी अधिकार मिल सके और परिस्थिति ज्यों की त्यों रही।

उत्तर प्रदेश—अवध के १८८६ ई० के लगान अधिनियम के अनुसार कानूनी काश्तकारों (Statutory tenants) का जन्म हुआ जिनको ७ वर्ष तक खेत जोतने का अधिकार मिल गया। जो मौरूसीदार अपना हक खो चुके थे उन्हें मौरूसी हक प्रदान किया गया। सन् १९२१ में कानूनी काश्तकारों को आजीवन कृषि अधिकार प्रदान किया गया। इन कृषकों के मर जाने के बाद उनके उत्तराधिकारियों को ५ वर्ष तक खेत जोतने का अधिकार था।

बंगाल का १८५९ का अधिनियम आगरा प्रान्त में भी लागू कर दिया गया। सन् १९०१ के आगरा काश्तकारी कानून (The Agra Tenancy Act 1901) के अन्तर्गत किसानों के भूमि अधिकारों को अधिक सुरक्षित कर दिया गया और ७ वर्ष या इससे अधिक के पट्टे मौरूसी कर दिये गये। सन् १९२६ ई० में अधेच्छ काश्तकारों को कानूनी काश्तकार बना दिया गया और उसे भूमि में आजीवन अधिकार एवं उसकी मृत्यु के उपरान्त उसके उत्तराधिकारी को

५ वर्ष तक भूमि पर अधिकार प्रदान किया गया। परन्तु जमादारों की चालाकियों के कारण इस अधिनियम से कृषकों की रक्षा नहीं हो सकी। परिणामस्वरूप सन् १६३६ ई० में 'उत्तर प्रदेश काश्तकारी कानून' पास किया गया जो सारे प्रान्त में लागू होता था। इस अधिनियम से कृषकों को निम्नलिखित अधिकार एवं सहूलियतें प्राप्त हुईं—

(१) कृषकों के लिये पैतृक अधिकार—कृषक की सुरक्षा की दृष्टि से उसे भूमि पर स्थायी पैतृक अधिकार प्रदान किया गया। सभी कानूनी काश्तकार तथा उनके उत्तराधिकारी वंशानुकूल (Hereditary tenants) बन गये। सीर जोतने वाले किसानों को भी ५ वर्ष का स्थायी अधिकार दे दिया गया।

(२) जमींदार के सीर अधिकारों में कमी—इस अधिनियम में जिस जमीन पर जमींदार खुद काश्त करता था सीर की जमीन कहलाती थी। सन १६२१ के नियमों के अनुसार जमींदार को यह भी अधिकार मिल गया था कि १० वर्ष की खुदकाश्त की जमीन को वह सीर में परिवर्तित कर ले बशर्ते कि वह भूमि गाँव में जमींदार की कुल जुती हुई भूमि की १० प्रतिशत से अधिक न हो। पर १६३६ के अधिनियम के अनुसार सीर की जमीन की अधिकतम सीमा ५० एकड़ निर्धारित कर दी गई।

(३) काश्तकारों का उत्तराधिकार हस्तान्तरण तथा शिकमी किराया छोरी—शिकमी काश्तकारों व सीर की भूमि पर काम करने वाले किसानों को छोड़कर और बाकी सभी प्रकार के कृषक कुछ बंधनों एवं शर्तों के अन्तर्गत अपनी भूमि को किराये पर उठा सकते थे। गैरमारूसी किसान अपनी भूमि को एक वर्ष के लिये उठा सकते थे और उसके एक वर्ष बाद फिर उठा सकते थे। ये प्रतिबन्ध स्त्रियों, नाबालिगों, पागलों, अन्धों तथा अपाहिजों पर लागू नहीं होते। साथ ही तहसीलदारों के द्वारा भूमि सुधार अथवा मकानों के निर्माण के लिये अनिवार्य रूप से भूमि का आदान प्रदान किया जा सकता था।

(४) सुधार करने का अधिकार—शिकमी काश्तकारों को छोड़कर बाकी सब प्रकार के किसान अपनी भूमि पर बिना जमींदार से आज्ञा लिये मकान, पशुशाला अनाज का भण्डार आदि का निर्माण कर सकते थे पर भूमि की बेदखली पर ऐसी किसी इमारत या स्थायी सुधार पर उन्हें मुआवजा नहीं मिल सकता।

(५) नाजायज रकमों की वसूली का अन्त—इस नियम के अन्तर्गत किसी प्रकार का नजराना, अबवाब अथवा बेगार लेना निषिद्ध है। यदि कोई व्यक्ति इन आज्ञाओं का उल्लंघन करके जान बूझ कर पिछले बकाये लगान से अधिक वसूल करेगा अथवा उस पर ६¼ प्रतिशत से अधिक ब्याज लेगा अथवा

छूट दिये गये लगान को वसूल करेगा अथवा स्थगित लगान को स्थगन की मियाद से पूर्व वसूल करेगा तो कृषक को अधिकार होगा कि वह २०० रु० तक जमींदार से मुआवजा उस फसल अथवा रकम के अतिरिक्त वसूल कर ले जो उससे ली गई हो।

(६) बेदखलियाँ—यदि कृषक जान बूझ कर लगान न देने का आदी न होगा तो उसे लगान वसूली के लिये बेदखल नहीं किया जा सकता। कृषक अगर अवैधानिक रूप से अपनी जमीन दूसरे किसान को किराये पर उठा देगा तो जमींदार उसे बेदखल कर सकेगा।

(७) लगान के भुगतान व निर्धारण में संशोधन—जमींदार के लिये यह आवश्यक है कि वह लगान प्राप्ति की रसीद सरकार से मिले हुए छपे फार्मों पर दे। नियम के अन्तर्गत लगान निर्धारण की भी व्यवस्था है। पैतृक अधिकार वाले कृषकों का लगान निश्चित करते समय लगान के अफसर दूसरी बातों के साथ साथ यह भी ध्यान रक्खेंगे कि लगान की रकम फसल के मूल्य के १।५ से अधिक न हो।

सन् १६३६ के काश्तकारी विधान के पास होने के ६ वर्षों के अन्दर जमींदारों ने उस विधान के १७१ वीं व १७५ वीं धाराओं के बल पर लाखों किसानों को बेदखल कर दिया था। इन धाराओं के अनुसार किसानों की शिकमी पर उठाने या जराया लगान के आधार पर तत्काल बेदखल किया जा सकता था। अत १६४७ में इस कानून का संशोधन कर दिया गया। किसानों को यह अधिकार दे दिया गया कि वह अपना लगान चाहें तो सीधा मनीआर्डर के द्वारा भेज सकते हैं अथवा राज्य कोष में भी जमा कर सकते हैं। साथ ही यह भी व्यवस्था कर दी गई कि यदि कोई कृषक लगान न देने के कारण बेदखल हो गया है तो १ महीने के अन्दर बकाया लगान अदा करने पर अपने अधिकारों को वापस पा सकता है।

बिहार—सन् १८३४ में 'बिहार काश्त कानून' के अन्तर्गत भूमि की कीमत पर जमींदार को १० प्रतिशत देने पर किसानों को हस्तान्तरण का अधिकार मिल गया और गैरकानूनी रकमों का वसूल करना निषेध कर दिया गया। इस कानून में १६३८ में संशोधन के अनुसार जिन्स के लगान की अदायगी बन्द कर दी गई, १५ वर्षों तक के लिए लगान में किसी भी प्रकार की वृद्धि अवैध घोषित कर दी गई। सिवा जमींदारों द्वारा सुधार कार्य में व्यय के कारण लगान में वृद्धि के और हर प्रकार की वृद्धि समाप्त कर दी गई और लगान की बाकी रकमों पर ब्याज की दर कम करके ६¼ प्रतिशत कर दी गई। इस नियम के अन्तर्गत यह भी व्यवस्था थी कि किसानों को भूमि का हस्तान्तरण का पूर्ण अधिकार हो, बेदखली नाजायज हो, अधिकारी कृषकों का स्वामित्व पैतृक हो तथा उन्हें मकान कुआँ आदि बनवाने का अधिकार हो। इस प्रकार जमींदार

अधिकार स्वामित्वपूर्ण किसानों को मान्यता दी गई। पूर्ण स्वामित्व के किसान तथा अधिकार स्वामित्व के किसान। प्रथम वर्ग के किसान मालगुजार को रुपया देने के उपरान्त अपनी भूमि का विक्रय अथवा बंधक कर सकते थे, पर दूसरी प्रकार के किसान केवल कुछ उत्तराधिकारियों तथा साझीदारों को ही भूमि का हस्तांतरण कर सकते थे यद्यपि उनकी भूमि लगान की वसूली के लिए विक्रय अथवा कुर्क नहीं की जा सकती परन्तु उन्हें बकाया लगान के लिए बेदखल किया जा सकता था। १९३९ ई० में कृषकों को रेहन अथवा ५ वर्ष तक शिकमी पर उठाने का अधिकार भी दे दिया गया। यदि कोई शिकमी काश्तकार निरन्तर रूप से किसी आराजी को जोत रहा है, तो उसे उसमें मौरूसी अधिकार देने की व्यवस्था कर दी गई।

पंजाब—पंजाब में बटाई प्रथा का सबसे आधिक्य था। परिणामस्वरूप इस प्रान्त में यथेच्छ कृषकों (Tenants at will) की संख्या अधिक थी। इस प्रान्त में अधिकतर जमींदार स्वयं ही खेत जोतते थे और इसलिये बटाई वाले काश्तकारों को सुरक्षा प्रदान करना कानून द्वारा सम्भव नहीं हो सका। स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पहले ऐसा कोई भी अधिनियम नहीं था जिससे बटाई वाले काश्तकारों को कुछ राहत मिल सके। सन् १९५० में पंजाब सरकार ने एक अधिनियम द्वारा कृषकों के भूमि अधिकारों को अधिक स्थायी बना दिया है। परन्तु यथेच्छ काश्तकारों (Tenants at will) को कोई भी सुविधा नहीं प्रदान की गई।

जमींदारी उन्मूलन एवं मध्यस्थता का अन्त

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विभिन्न प्रान्तों में काश्तकारी अधिनियमों के पास हो जाने पर कुछ कृषकों के हितों की रक्षा तो अवश्य हुई परन्तु अधिकांश कृषकों को भूमि पर अधिकार प्राप्त न हो सके और उनको लगान भी अधिक देना पड़ा। इन काश्तकारी अधिनियमों से कृषकों को सुरक्षा तो कम मिली, मुकदमेबाजी अधिक, जिससे और अधिक रुपया वकीलों एवं अदालतों में व्यय होने लगा। फ्लाउड जांच समिति के शब्दों में—

> "यह सत्य है कि इन कानूनों से काश्तकारों का भूमि पर अधिकार हो गया है किन्तु ज्यादा संख्या में ऐसे भी काश्तकार हैं जिन्हें कुछ अंशों में भी भूमि पर स्वामित्व नहीं मिला है। उन्हें लगान के ज्यादा बढ़ने और काश्तकारी से हटाये जाने के लिए संरक्षण नहीं मिला।"

स्वतन्त्रता प्राप्त करने के उपरान्त ही जब देश की राष्ट्रीय सरकार ने शासन की बागडोर अपने हाथ में ली, तब सर्वप्रथम कृषि समस्याओं का समाधान देश की आर्थिक नींव दृढ़ करने के लिये नितान्त आवश्यक हो गया। कृषि उद्योग भारत का

मुख्य उद्योग है और राष्ट्र की अधिकांश जनता गाँवों में ही निवास करती है। बिना कृषि की उन्नति के देश का औद्योगिक विकास भी पूर्ण नहीं हो सकता। अतः कृषि में सुधार करने के लिये यह आवश्यक हो गया कि कृषक को भूमि पर स्थायी अधिकार दिये जायँ जिससे वह भूमि पर स्थायी सुधार कर सके और उनके लगान भी वाजिब हों। इस उद्देश्य की पूर्ति उस समय तक नहीं सम्भव हो सकती थी जब तक कृषकों और सरकार के बीच मध्यस्थों का अंत न कर दिया जाय। परिणामस्वरूप स्वतन्त्रता प्राप्त करने के उपरान्त भूमि व्यवस्था में सुधार करने की दिशा में राष्ट्रीय सरकार का सर्वप्रथम कदम मध्यस्थों का अन्त करना था। विभिन्न प्रान्तों में जमींदारी उन्मूलन करके सरकार ने मध्यस्थों का अन्त कर दिया। वास्तव में जमींदारी उन्मूलन करोड़ों निरीह एवं निर्धन कृषकों के जीवन में आर्थिक मोक्ष दिलाने का प्रथम प्रयास था और इसके उपरान्त भारतीय भूमि व्यवस्था में एक नये अध्याय का प्रारम्भ हुआ क्योंकि मध्यस्थों के हट जाने से कृषकों की वर्षों की आर्थिक दासता की शृङ्खलाएँ टूट गई और उनको उन्नति के पथ पर प्रथम चरण रखने का सौभाग्य प्राप्त हो सका।

बिहार राज्य में जमींदारी उन्मूलन

बिहार राज्य सरकार ने सर्वप्रथम जमींदारी उन्मूलन को व्यावहारिक रूप प्रदान किया। सन् १९५० में बिहार भूमि सुधार बिल (Bihar Land Reforms Bill) स्वीकृत हो गया। इस अधिनियम के अन्तर्गत निम्नलिखित व्यवस्था की गई—

(१) सभी जमींदारियाँ ६ महीने के अन्दर ले ली जायँगी और भूमि पर सरकार का स्वामित्व होगा। कृषकों का सरकार से सीधा सम्पर्क रहेगा।

(२) जिन जमींदारों की आय ५००० रुपये तक होगी उनको उनकी शुद्ध आय का १६ से २० गुना तक मुआवजा दिया जायगा। अधिक आय होने पर क्रमशः मुआवजे की दर घटती जायगी।

मद्रास राज्य में

मद्रास राज्य में कुछ क्षेत्र तो जमींदारी में थे और कुछ रैयतवाड़ी में। जमींदारी क्षेत्र के लिए दो अधिनियम बनाये गये। पहला तो सन् १९४७ का भूसम्पत्ति (लगान घटाओ) अधिनियम (Estates-Reduction of Rent-Act) और दूसरा सन् १९४८ का भू सम्पत्ति उन्मूलन तथा रैयतवाड़ी परिवर्तन एक्ट (Estates Abolition & Conversion into Ryotwari Act) था। इन अधिनियमों

का उद्देश्य लगान में कमी करना एवं जमींदारी प्रथा का अन्त करना था। २८०० जमींदारी तथा २५०० इनाम जागीरों को १२०५ करोड़ रुपये का मुआवजा देकर जमींदारी एवं इनाम भू-सम्पत्ति का अन्त कर दिया गया। इसके द्वारा प्राप्त की गई भूमि को रैयतवाड़ी पट्टों पर किसानों को दिया गया।

बम्बई राज्य में

बम्बई राज्य में भी सन् १९४८ में भू धारण तथा कृषि भूमि एक्ट (Land Tenancy and Agricultural Lands Act) पास किया गया। इसके पश्चात सन् १९४९ में "Bombay Maliki Tenures Abolition Act" और "Taluqdari Tenure Abolition Act" पास किये गये। सन् १९५० में "Bombay Parganas and Kulkarni Watan Abolition Act" और "Bombay Khoti Abolition Act" पास किये गये। इन अधिनियमों के अन्तर्गत मध्यस्थों का अन्त हो गया और किसानों को भूमि पर स्थायी अधिकार प्राप्त हो गये। अकृषक वर्गों को भूमि के हस्तान्तरण पर निषेध लगा दिया गया।

मध्य भारत

२५ जून सन् १९५१ को मध्य भारत का जागीरदारी एवं जमींदारी उन्मूलन अधिनियम राज्य में लागू किया गया। इसका प्रभाव राज्य के १२१६६३ जमींदारों पर पड़ा। सरकार ८६०० जमींदारियाँ अभी तक ले चुकी है। प्रत्येक किसान जो जागीरदारी अथवा जमींदारी भूमि पर खेती करता है तथा शिकमी काश्तकार उस भूमि में जिसमें वह स्वयं खेती करता है, पक्के भू धारी अधिकार प्राप्त कर लेगा। जागीरदारी को सरकार द्वारा प्राप्त कर लेने के बाद जिस भूमि पर जागीरदार स्वयं खेती करता है जागीरदार को पक्के भू धारी के अधिकार प्राप्त हो जायेंगे।

राजस्थान

राजस्थान में भी जागीरदारी तथा भूमि सुधार अधिनियम सन् १९५१ में पास हो चुका है। इसके अन्तर्गत सरकार ने सभी जागीरदारियों को ले लिया। मुआवजे की दर शुद्ध आय का ७ गुना निर्धारित की गई है। जागीर क्षेत्र के किसान खातेदारों को भू धारी अधिकार प्राप्त हो गये। गैर खातेदार किसानों तथा अकृषकों को भू धारी अधिकार प्राप्त करने के लिये तहसीलदार के पास प्रार्थना पत्र भेजने पड़ेंगे। जागीरदार अपनी खुदकाश्त भूमि पर भू धारी बन जायेंगे।

अन्य राज्यों में—मैसूर, उड़ीसा, जम्मू काश्मीर, हिमाचल प्रदेश आदि

अन्य राज्यों में भी जमींदारी उन्मूलन एव भूमि सुधार के व्यापक विधान बनाये गये हैं।

उत्तर प्रदेश

उत्तर प्रदेश धारा सभा ने १० जनवरी सन् १९५१ को 'उत्तर प्रदेश जमींदारी उन्मूलन तथा भूमिसुधार अधिनियम' (The U P Zamindari Abolition & Land Reforms Act) पास किया जो सन् १९५२ में लागू किया गया। इस अधिनियम के अनुसार जमींदारी प्रथा का अन्त हो गया और कृषकों या सरकार से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित हो गया। कृषक अब भूमि का लगान सीधे सरकार को ही देता है। जमींदारों को मुआवजे की भी व्यवस्था की गई है जो शुद्ध आय का आठ गुना है। इसके अलावा ५००० रुपया या इससे कम मालगुजारी देने वाले जमींदारों को पुनर्वास अनुदान (Rehabilitation Compensation) भी दिया गया है जो कि २ गुना से लेकर २० गुना तक है। जमींदारों को अपनी सीर और खुदकाश्त पर बिना कुछ दिये हुये ही भूमिधर बना दिया गया है। इस अधिनियम के अन्तर्गत राज्य की सारी भूमि कानूनी रूप से राज्य की होगी। गाँव की ऐसी भूमि जिस पर किसी व्यक्ति विशेष का अधिकार नहीं है जैसे तालाब, जगल, रास्ते, रास्ते के वृक्ष, हाट तथा बाजार, आबादी आदि सभी गाँव समाज की सम्पत्ति माने जायेंगे। गाँव समाज को ही इनके प्रबन्ध तथा रक्षा का उत्तरदायित्व है।

अब भूमि उसी की होगी जो वास्तव में खेती करता है। कोई भी किसान अपने खेत को शिकमी काश्तकार को नहीं उठा पायेगा। यदि वह ऐसा करता है तो भूमि शिकमी काश्तकार की हो जायगी। शिकमी काश्तकार रखने की छूट कुछ लोगों का प्रदान की गई है जैसे भारतीय सेना में काम करने वाले, रोगी, अपाहिज, पागल, विधवायें इत्यादि।

उपयुक्त अधिनियम के अनुसार निम्न प्रकार के कृषकों का जन्म हुआ—

(क) भूमिधर—जो कृषक अपने लगान का १० गुना रुपया सरकार को अदा कर देंगे वे भूमिधर कहलायगे। भूमिधरों को अपने खेतों पर पूर्ण अधिकार होगा और वे अपने खेतों के स्वय मालिक होंगे। वे उनको बेच सकते हैं या अन्य किसी भी प्रकार से हस्तांतरित कर सकते हैं। ये कृषक अपने खेतों पर स्थायी सुधार या गृह निर्माण करने के लिये भी स्वतन्त्र हैं। ऐसे किसानों का लगान ५० प्रतिशत कम कर दिया जाता है।

(ख) सीरदार—वे किसान जो १० गुना रुपया नहीं अदा करेंगे सीरदार कहलायेंगे। ये कृषक भी अपनी भूमि के स्वय मालिक होंगे परन्तु इनको खेतों के बेचने या अन्य व्यक्ति को हस्तांतरित करने का अधिकार नहीं होगा। इसके अतिरिक्त

इनको वे सभी अधिकार प्राप्त होंगे जो भूमिधरों को मिले हुए हैं। इनके लगान में कमी न होगी।

(ग) अधिवासी—ये किसान जिनके पास भूमि के पट्टे नहीं हैं और जो खेत को शिकमी की भाँति जोत रहे थे, उनको अधिवासी कहा जायगा। अभी तक ये किसान खेत से हटाये जा सकते थे। इस अधिनियम के अन्तर्गत ऐसे किसानों को खेतों से नहीं हटाया जा सकता। ये किसान लगान का १५ गुना जमा करके भूमिधर बन सकते हैं। अब सभी अधिवासियों को सीरदार मान लिया गया है।

(घ) असामी—वे किसान जो रेहन की भूमि, वन भूमि, अथवा ग्राम समाज की भूमि पर खेती करते आ रहे हैं असामी माने जायगे।

जो रुपया किसानों से भूमिधर बनने के लिए लिया जाता है उसको जमींदारी उन्मूलन कोष में जमा किया जाता है और इसका उपयोग जमींदारों को मुआवजा देने के लिए किया जाता है।

इस अधिनियम में अब इस बात की भी व्यवस्था कर दी गई है कि कोई भी किसान ६¼ एकड़ से कम एवं ३० एकड़ से अधिक की आराजी नहीं प्राप्त कर सकता है। जिन लोगों के पास पहले से ही ३० एकड़ से अधिक भूमि है उनके पास वह भूमि यथावत् बनी रहेगी।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मध्यस्थों के अन्त हो जाने के कारण कृषक अपनी भूमि का अब स्वयं मालिक हो गया है और वह भूमि पर किसी भी प्रकार का सुधार करने के लिए स्वतन्त्र है। भारतीय कृषक अब अपने भाग्य का स्वयं निर्माण करने वाला है और उसकी आर्थिक दासता की श्रृङ्खलाएं छिन्न भिन्न हो गई हैं और वे अब सम्मानित नागरिक हैं। भारत की भूमि व्यवस्था के सुधार में, जो एक भयंकर रूप धारण कर चुकी थी और जिसके कारण देश के अधिकांश किसानों का शोषण हो रहा था और कृषक स्थायी अधिकारों से वंचित थे, जमींदारी उन्मूलन एवं मध्यस्थों का अन्त पहला कदम है जिसके बिना इस समस्या का समाधान भारत में असम्भव था।

आराजियों पर अधिकतम सीमा

पहली पंचवर्षीय योजना में यह सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया था कि आराजी पर अधिकतम सीमा निश्चित की जानी चाहिए। यह सुझाव दिया गया था कि अधिकतम सीमा के निर्धारण करने से सम्बन्धित आँकड़े प्राप्त करने के लिए भूमि की आराजियों और कृषि की गणना का काम किया जाना चाहिए। अधिकतर राज्यों में गणना का काम किया गया है। दूसरी पंचवर्षीय योजना में इस सिफारिश को फिर

स दुहराया गया है कि तीन पारिवारिक आराजियों तक अधिकतम सीमा नियत की जानी चाहिए। पारिवारिक आराजी की धारणा पर योजना में सोच विचार किया गया था और इसके कार्यकरण में आने वाली कठिनाइयों को सामने रखते हुए यह सुझाव दिया गया था कि इस विषय पर और अधिक अध्ययन करने के लिए विशेषज्ञों का एक छोटा सा दल नियुक्त किया जाय। इस सिफारिश के अनुसार खाद्य और कृषि मन्त्रालय ने एक समिति नियुक्त कर दी थी जिसने कि नवम्बर १९५७ में अपनी रिपोर्ट पेश कर दी।

निम्नलिखित राज्यों में भविष्य में अर्जित की गई भूमि पर अधिकतम सीमा लागू कर दी गई है—

(i) आसाम	५० एकड़
(ii) सौराष्ट्र (अब बम्बई में)	६० से १२० एकड़ तक
(iii) भूतपूर्व हैदराबाद राज्य	१२ से १८० एकड़ तक
(iv) जम्मू और काश्मीर	२२¾ एकड़
(v) मध्य भारत (अब मध्य प्रदेश में)	५० एकड़
(vi) पप्सू	३० प्रामाणिक एकड़ (विस्थापित व्यक्ति ४० प्रामाणिक एकड़)
(vii) उत्तर प्रदेश	३० एकड़
(viii) पश्चिमी बंगाल	२५ एकड़
(ix) दिल्ली	३० प्रामाणिक एकड़

निम्नलिखित राज्यों में वर्तमान आराजियों पर अधिकतम सीमा के सम्बन्ध में कानून बना दिया गया है—

आन्ध्र प्रदेश तेलंगाना क्षेत्र	१८ से २७० एकड़
आसाम	५० एकड़
भूतपूर्व हैदराबाद राज्य	४½ पारिवारिक आराजियां
मैसूर—कर्नाटक क्षेत्र	१२ से १७० एकड़
जम्मू और काश्मीर	२२¾ एकड़
पप्सू (अब पंजाब में)	३० एकड़ प्रामाणिक (विस्थापित व्यक्ति, ४० प्रामा० एकड़)
पश्चिमी बंगाल	२५ एकड़
हिमाचल प्रदेश	चम्बा जिले में ३० एकड़ और अन्य क्षेत्रों में निर्धारित १२५ रुपए भूमि कर की ज़मीन।
बम्बई	१८ से २७० एकड़

कानून के मातहत पंजाब सरकार को भूस्वामियों से भूमि ले लेने के अधिकार दे दिए गए हैं जिनके पास ३० एकड़ (विस्थापित व्यक्ति ५० एकड़) से अधिक भूमि है। यह भूमि उन काश्तकारों के बसाने के लिए ली जायगी जिन्हें बेदखल किए जाने की सम्भावना है।

जम्मू और काश्मीर में वर्तमान आराजियों पर अधिकतम सीमा लागू करने का कानून कार्यान्वित किया जा चुका है। भूतपूर्व हैदराबाद राज्य के निम्नलिखित क्षेत्रों में यह काम हाथ में लिया जा चुका है।

(i) तमाम जिला और वारंगल जिले के कुछ भाग (अब आन्ध्र प्रदेश में)

(ii) औरंगाबाद जिला (अब मैसूर में)

(iii) यादगिर जिले के कुछ भाग

इन क्षेत्रों में अतिरिक्त भूमि की सीमा बन्दी के लिए कदम उठाए जा रहे हैं। इस कानून में कानून को बाधा देने के लिए रगमित्र हस्तान्तरित करने के सम्बन्ध में पर्याप्त व्यवस्थाएँ नहीं की गई है। शुरू में जितना अनुमान लगाया गया था उससे अतिरिक्त भूमि अब बहुत कम प्राप्त हुई है।

पश्चिमी बंगाल में भी अधिकतम सीमा लागू कर दी गई है। भूमि अर्जित करने के लिए और कार्यवाहियाँ की जा रही हैं।

केरल में जहाँ भूमिसुधार बिल १६५७ अभी प्रवर समिति के समक्ष विचाराधीन है, १५ से ३० एकड़ भूमि की भावी बेदखली की व्यवस्था की गई है। अन्य राज्यों में अभी तक इस सम्बन्ध में विधान नहीं बनाए गए हैं।

किसानों के लिए मिलकियत के हक

प्रथम पञ्चवर्षीय योजना में आमतौर से यह नीति अपनाई गई थी कि किसानों को उस भूमि का मालिक बना दिया जाय, जिसे बेदखल नहीं किया जा सकता। इस दिशा में जो प्रगति की गई, वह बहुत धीमी थी। इसलिए दूसरी योजना में यह सिफारिश की गई कि जो जमीनें बेदखल करने योग्य नहीं हैं, उनके किसानों को राज्य के सीधे सम्पर्क में अविलम्ब लाया जाय और प्रत्येक राज्य इस बात का तुरन्त प्रबंध करे कि ज्यादा किसान भूमिधर अधिकार प्राप्त कर लें, जिससे किसान जमींदार के परम्परागत सम्बन्धों का अन्त किया जा सके।

नागपुर अधिवेशन में यह एक आवश्यक प्रस्ताव था, जिसमें कहा गया था "भूमि सुधारों के बारे में अनिश्चितता दूर करने के और किसानों की जिन्दगी में पायेदारी कायम करने की दृष्टि से, आज की और बाद की भी जोतों की अधिकतम सीमा निर्धारित कर देना चाहिए।" यह कार्य १६५६ के अन्त तक

पूरा करने का सकल्प किया गया है क्योंकि अधिक विलम्ब न्यायोचित नहीं। जो भूमि अधिक होगी वह ग्राम पचायतों को सौंप दी जायगी और उसका वितरण भूमिहीन कृषकों में कर दिया जायगा।

इन सुधारों के फलस्वरूप हम ऐसे चक्र को गतिमान कर देंगे जो घृणा और हिंसा के स्थान पर प्रेम और शान्ति के द्वार पर ले जायगा। भारत के भाग्यनिर्माताओं ने सत्य की भली भाँति खोज करने के पश्चात् यह भूमि सुधार का शखनाद बजाया है, जिसने सुप्त ग्रामवासियों में धार्मिक उन्माद की एक अग्नि प्रज्वलित कर दी है और यदि यह आग स्वार्थ एवं सघर्ष की चाह को भस्म करती रही तो हमारे जीवन में भ्रातृत्व तथा एकता का समावेश स्वाभाविक ही है।

भूदान एव ग्रामदान आन्दोलन

इसमें कोई सन्देह नहीं कि भूमि समस्या का अभी तक पूर्ण समाधान नहीं हो पाया है। अभी तक जो कुछ हुआ है उसके लिए अधिक से अधिक इतना ही कहा जा सकता है कि समस्या में हल की ओर दो तीन कदम बढ़े हैं। भूख एवं नगापन अभी भी हमारे देश में व्यापक है। हमारे मानवों का जीवन स्तर भी अकथनीय निम्न कोटि का है। हमारे भूमि सुधारों ने जमींदारी, मालगुजारी, जागीरदारी जैसी कुछ मध्यस्थ प्रथाओं को खत्म किया और निश्चय ही इन मध्यस्थों के उन्मूलन से हमारे कृषकों को अब हरी, बेगार, नजराना, मोटराना, आदि तरह तरह की पैशाचिक वसूलयाबियों को नहीं देना पड़ता। यह कुल रकम क्या होती थी इसकी तो कभी गणना भी नहीं हुई पर यह निश्चय है कि यह रकम अरबों रुपये के बराबर हुआ करती थी। यह छूट तो हमारे किसानों को मिली पर इसके बाद बाकी सभी बातें पुरानी ही हैं। जमींदारी प्रथा का उन्मूलन केवल हमारे कृषि सुधारों को पूरा करने के लिए दरवाजा ही खोलता है पर स्वय पेचीदा भूमि प्रश्न का हल नहीं है।

वास्तव में भारत की भूमि समस्या का हल किसी और तरफ है। विनोबा जी तो यही कहते रहते हैं कि भारत की भूमि समस्या का हल भूमि का पुनर्वितरण है, और कुछ नहीं। सच में भूमि प्रश्न पर विनोबा का दृष्टिकोण बहुत ही वामपन्थी है। 'वह तो भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व भी स्वीकार करने को तैयार नहीं है। उनका कहना है कि हवा और जल के समान भूमि भी भगवान के द्वारा दी गई चीज है और जिस प्रकार जल और वायु पर किसी का स्वामित्व नहीं हो सकता उसी प्रकार भूमि पर भी किसी का स्वामित्व नहीं हो सकता।

भूदान आन्दोलन का श्रीगणेश भूमिहीन खेतिहर श्रमिकों को भूमि प्रदान करने के ही उद्देश्य से किया गया है। इसके जन्मदाता आचार्य विनोबा भावे हैं

जो पग पग चलकर देश के उन असंख्य पददलितों की सेवा करना चाहते हैं जो सदियों से दासत्व, पराधीनता, निर्धनता, निरक्षरता आदि के चंगुल में फँस रहे हैं। १८ अप्रैल १९५१ के पावन दिवस को इस आन्दोलन का प्रादुर्भाव हुआ जब कि हैदराबाद जिले के पोचमपल्ली नामक स्थान में १०० एकड़ भूमि विनोबा जी को दान स्वरूप मिली।

आज लगभग ६½ वर्ष हो गये हैं और इस समय में विनोबा जी ने मद्रास, हैदराबाद, बिहार, उत्तर प्रदेश, आन्ध्र, मध्य प्रदेश आदि लगभग सभी राज्यों की पैदल यात्रा कर ली है। ३० जून १९५७ तक इस आन्दोलन के अन्तर्गत ४३ लाख एकड़ भूमि एकत्र कर ली गई थी और इसमें से ५,१३,३३२ एकड़ भूमि वितरित भी कर दी गई है। दिसम्बर १९५८ तक ४४ लाख २६ हजार एकड़ भूमि एकत्र हुई जिसमें लगभग ८ लाख एकड़ भूमि वितरित की गई।

अब भूमिदान में ग्रामदान भी जुड़ गया तो समस्त भूदान का रूप ही बदल गया जो उसकी उद्गम कल्पना से बिल्कुल भिन्न है। स्वयं विनोबा जी ने कहा है—

"जैसे नदी विशाल रूप धारण करती है और जो रूप उसके उद्गम में होता है, उससे बिल्कुल भिन्न रूप ही इस भूदान यज्ञ का हुआ है। भूदान यज्ञ का जो रूप अब बन रहा है वह कुछ लोगों को उल्टा एवं विपरीत मालूम होता है लेकिन जैसे नदी के विशाल रूप में गुण परिवर्तन नहीं होता और पानी का स्वभाव कायम रहता है वैसे ही भूदान यज्ञ के आरम्भ में इसका जो गुण रूप था, उसमें परिवर्तन नहीं हुआ। हमने शुरू में ही कहा था कि दान से हमारा मतलब समविभाजन से है।"

भूमिदान का उच्चतम दर्शन ग्रामदान में मिलता है जो वंचितों एवं समृद्धि के बीच संघर्ष की बलात् दावारों को चकनाचूर करके भक्ति योग की सामुदायिक साधना द्वारा रामराज्य की कल्पना को साकार करते हैं। सम्भव है सब ग्रामीणों के लिए गावों की व्यवस्था एक ही ढंग की न हो किन्तु सहकारी ग्राम प्रणाली जिसका आधार व्यक्तिगत स्वामित्व का ऐच्छिक त्याग होगा, ग्रामदान के पीछे मुख्य सिद्धान्त है। यही यथार्थ ग्राम समाजवाद होगा। विनोबा जी इस ग्रामदान आन्दोलन को एक गहरा महत्व रखने वाली एक महान अहिंसात्मक क्रांति समझते हैं। एक गाँव के सब काश्तकार आत्म बलिदान तथा परस्पर सहयोग की भावना से प्रेरित हो अपनी सब जमीन भूमिदान में दे देते हैं और फिर अपने अपने परिवारों की संख्या के अनुपात में वापस जमीन पाते हैं। क्या इन्सान के दिल और दिमाग को इस अद्भुत तरीके से बदलने से बढ़ कर और कोई भी क्रांति हो सकती है? ग्रामदान

में प्राप्त गाँव की जमीन का एक हिस्सा कम से कम कुल जमीन का १/१० भाग, कृषि—सहकारी समिति के रूप में सार्वजनिक खेती के लिये सुरक्षित रहता है। इस सार्वजनिक भूमि से प्राप्त लाभ पंचायत प्रशासन, ग्राम पाठशाला, प्रसूति चिकित्सा गृह, सफाई, सांस्कृतिक गतिविधि और गाँव के मेले त्यौहारों जैसी सामुदायिक सेवाओं पर खर्च किया जाता है। सन् १९५७ तक लगभग २,५० ग्राम, दान में प्राप्त किये जा चुके थे जिनमें से १८० गाँव उड़ीसा में, २२० गाँव बम्बई और इतने ही मद्रास म प्राप्त हुए हैं। विभिन्न राज्यों म दिसम्बर १९५८ तक इन गाँवों की संख्या बढ़कर ८८१६ हो गई है। सबसे अधिक गाँव उड़ीसा में प्राप्त हुए हैं जिनकी संख्या १९६० है। आंध्र में ४८१ तथा तामिलनाद म २६८, पश्चिमी खानदेश जिले के अक्रानी परगने में सभी १५३ ग्रामों ने ग्रामदान किया है। कैसे आश्चर्य एव आनन्द की बात है कि करल प्रदेश में भी ग्रामदान हुए हैं—एक दो नहीं दस बीस नहीं ५५३ या इससे भी अधिक। अन्तत सहकारी गाव व्यवस्था कायम करना भूदान आंदोलन का उद्देश्य है, जिसकी कल्पना योजना म भी की गइ है। आन्दोलन ने एक सामाजिक वातावरण भी पैदा कर दिया है जो भूमि सुधार क लिए उठाए गए वैधानिक कदमों क कार्यकरण को सरल बनायेगा। वस्तुत ग्रामदान 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श है जिसम सबको जमीन मिलेगी, सबको ज्ञान मिलेगा और मिलेगा एक प्रकार का आध्यात्मिक प्रेम जिसके धरातल में 'मैं या मेरे' का भौतिक जञ्जाल समान की चेतनता में विलीन हो जायगा। यह अमृत के पावस बिन्दुओं के सदृश्य भूमिहीनों की क्षुधा और पिपासा का शमन कर उन्हें जीवन दान देगा। यह भू क्रान्ति का शख नाद है, सर्वोदय समाज का रहस्य है, साम्ययोग की आधार शिला है।

उपसंहार

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मध्यस्थों एव जमींदारी उन्मूलन के पश्चात अब भी उचित एव न्यायपूर्ण भूमि व्यवस्था क लिए निम्नलिखित बातों की आवश्यकता है—

(क) भविष्य म भूस्वामियों द्वारा पुन प्राप्त की जाने वाली भूमि और मौजूदा आराजियों की उच्चतम सीमा निर्धारित कर भूमि का पुनर्वितरण, निर्धारित उच्चतम सीमा से ऊपर की अतिरिक्त भूमि को हस्तगत कर भूमिविहीन खेतिहर मजदूरों को पुन बसाना, और लाभकर आराजियों के आकार को बढ़ाना।

(ख) बिखरी हुई आराजियों को एकत्र करके चकबन्दी करना और जमीन को लाभकर आकार से बहुत ज्यादा टुकड़ों म बँट जाने और छोटा होने से रोकना।

(ग) सहकारी खेती का विकास जिसके द्वारा छोटी आराजियों को एक साथ इकट्ठी करके उस पर सम्मिलित खेती की जा सके जिससे खेती की क्रियात्मक इकाई का आकार बढ़ सके और बड़े पैमाने के संगठनों की मितव्ययिता का लाभ प्राप्त किया जा सके, और जिसके फलस्वरूप, अन्त में, सहकारी ग्राम प्रबन्ध स्थापित हो सके।

भूमि नीति के उद्देश्य दोहरे हैं—सामाजिक न्याय और अधिक उत्पादन। भूमि में दिलचस्पी रखने वाले विभिन्न वर्गों के अधिकारों में समन्वय स्थापित करने के लिये साधन भी इसमें सम्मिलित हैं। यह समन्वय भूमि के और अधिक समान वितरण और कृषि ढाँचे का पुनर्गठन करने के लिये आवश्यक है क्योंकि इससे वे खराबियाँ दूर की जा सकेंगी जिनके कारण कृषि के विकास में बाधाएँ उपस्थित होती हैं। सामाजिक प्रतिष्ठा, आमदनी और अवसरों की विषमताओं को सच्चे प्रजातान्त्रिक समाज के निर्माण के लिये दूर करना जरूरी है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि उन्नत उत्पादन के लिए मनोवैज्ञानिक उत्साह और उपयुक्त संस्थात्मक ढांचा प्रदान किया जाय।

जहां तक काश्तकारी कानूनों का सम्बन्ध है मौजूदा कानूनों की उपर्युक्त जाँच से स्पष्ट है कि विभिन्न राज्यों द्वारा अपनाई गई कार्यवाहियों में बहुत भिन्नता है। अधिकतम लगान की दर पैदावार के १।६ भाग से ५० प्रतिशत तक है। इसी प्रकार काश्तकारों को जमीन का मालिक बनाने के लिये की गई कार्यवाहियों में बहुत फर्क है। यद्यपि दूसरी पचवर्षीय योजना सभी राज्य सरकारों द्वारा स्वीकार की गई है, लेकिन दरअसल की गई कार्यवाही को देखने से नजर आता है कि बड़ा फर्क अभी तक मौजूद है।

मौजूदा आराजियों की अधिकतम सीमा निर्धारित करने की नीति व्यापक तौर पर स्वीकार की गई है। लेकिन इस नीति को कार्यरूप में लाने की धीमी रफ्तार से जाहिर होता है कि काफी संशय और हिचकिचाहट मौजूद है। मौजूदा आराजियों की अधिकतम सीमा निर्धारित करने के लिये केवल कुछ ही राज्यों में कानून जारी किये गये हैं लेकिन उन कुछ राज्यों में भी कानून को अमल में लाने में काफी तरक्की नहीं हुई है।

यह भी जरूरी है कि सभी काश्तकारों को भूमि व्यवस्था सम्बन्धी पूरी सुरक्षा देने और विभिन्न प्रकार की बेदखलियाँ तुरन्त बन्द करने के लिये काश्तकारी सम्बन्धी सुधार कानून लागू किये जायें। इस तरह के भूमि सुधारों को लागू करने में थोड़ी सी देर हो जाने की वजह से बहुत काश्तकारों को बेदखली का सामना करना पड़ा है। जहाँ तक निजी खेती के लिये फिर से जमीन हस्तगत करने का ताल्लुक है यह

जरूरी है कि बहुत साफ साफ शब्दों में निजी खेती की परिभाषा कर दी जाय। निजी खेती के तौर पर खेती करने के उद्देश्य से जमीन पर फिर कब्जा करने के लिये खेत पर एक निम्नतम मात्रा में स्वय श्रम करना बुनियादी रूप में अनिवार्य हो जाना चाहिये। इसके लिये सिर्फ पूँजी लगाना और सामान्यत खेती बाड़ी की देख रेख करना ही काफी नहीं माना जाना चाहिए। चूँकि भूतकाल में निजी खेती की परिभाषा सामान्य तौर पर दोषपूर्ण रही है, इसलिए कुछ राज्यों म बटाई द्वारा खेती की व्यवस्था को जिसमें काश्तकारी की सभी विशेषताएँ पाई जाती हैं निजी खेती नहीं माना गया और बटाईदार उन हकों से वचित रखे गये हैं जो काश्तकार को मिले हैं। इस दोष को भी जहाँ तक मुमकिन हो जल्द से जल्द दूर कर देना चाहिये।

लगान का नियमन एक अन्य भूमि सुधार है जिसके सम्बन्ध में अब देर करना वाछनीय नहीं है। पहली पचवर्षीय योजना में यह कहा गया था कि अगर लगान दर उपज के एक चौथाई या पाँचवें हिस्से से अधिक हो तो उसके लिये विशेष औचित्य का आधार जरूरी होना चाहिये। लगान के नियमन की दिशा में हुई प्रगति असमान रही है और कई राज्यों में कानून काफी पीछे पड़ गये हैं। इसलिये यह वाछनीय है कि लगान की दर को इस स्तर पर ला दिया जाय जिसका सुझाव पहली पचवर्षीय योजना में दिया गया है। लगान नियमन के सामान्य तरीके के अलावा अधिकतम लगान को भी मालगुजारी के कुछ गुने के रूप में निश्चित कर देना लाभ दायक सिद्ध होगा।

सिर्फ भूमि सुधार सम्बन्धी प्रगतिशील कानून बनाना ही पर्याप्त नहीं। हमारा अनुभव बतलाता है कि भूमि सम्बन्धी कानून बना देने से उन लोगों क लिये बहुत सी कठिनाइयाँ और परेशानिया पैदा हो जाती हैं जिन्हें इन कानूनों से लाभ पहुँचाना होता है। यहाँ तक कि हाल के चुनावों क समय यह भी देखा गया कि उन बहुत से राज्यों में जहाँ पर भूमि व्यवस्था सम्बन्धी अच्छे कानून बनाये गये हैं उन दोनों ही पक्षों ने—जिन्हें कि लाभ पहुँचा है अथवा जिनकी जमीन हस्तगत कर ली गई है—शासक दल क खिलाफ मत दिया है। यह भी जरूरी है कि हमारा प्रशासन, खास तौर पर ग्रामीण स्तर पर, बहुत साफ सुथरा और ईमानदार हो, अन्यथा प्रगति शील भूमि सुधारों का बहुत कुछ महत्व प्रशासन की अयोग्यता और भ्रष्टाचार के कारण नष्ट हो जायगा जिसका सामना किसानों और ग्रामीणों को अपने प्रति दिन के जीवन में करना पड़ता है। भूमि व्यवस्था का उचित एव न्यायपूर्ण होना अत्यन्त आवश्यक है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इस समस्या के समाधान होने पर ही भारत राजनैतिक, सामाजिक एव आर्थिक क्षेत्रों में विकास करने का स्वप्न साकार कर सकता है, अन्यथा नहीं।

पंडित जवाहर लाल नेहरू के शब्दों में—

"चीन में साम्यवादी विजयी हो रहे थे पर भूमि समस्या विजय का प्रधान कारण थी। ४० वर्ष पूर्व वहाँ के शासक निष्कासित कर दिये गये थे क्योंकि चीन आवश्यक भूमि सुधार न कर पाया था। परिणाम यह हुआ कि सरकार स्वयं ही समाप्त हो गई। इतिहास बतलाता है कि जो भी सरकार भूमि समस्या का निराकरण नहीं कर पाई वही विलीन हो गई।"



कृषि नियोजन के उद्देश्य

भारतवर्ष ऐसे कृषि प्रधान देश में कृषि नियोजन के समुचित उद्देश्य नहीं हैं। नियोजन के उद्देश्य अत्यन्त उदार, न्यायपूर्ण एवं उच्च हैं। कुछ लोगों की धारणा है कि कृषि नियोजन का उद्देश्य पूँजीवादी व्यवस्था को सुदृढ़ बनाना है तथा कुछ लोगों का विचार है कि नियोजन का उद्देश्य साम्यवादी व्यवस्था को स्थापना करना है। ये दोनों ही विचार धाराएँ भ्रम पूर्ण हैं। हमारे देश के कृषि नियोजन के उद्देश्य संक्षेप में निम्नलिखित हैं—

(क) "विकास का अभिप्राय अब केवल भौतिक पदार्थों के उत्पादन के बढ़ाने से ही नहीं है, अब इस बात का निश्चय करना आवश्यक है कि इसके साथ ही अन्य उद्देश्यों जैसे पूर्ण उद्यम तथा आर्थिक विषमताओं का भी निराकरण हो जाय।" (प्रथम पञ्चवर्षीय योजना)

(ख) अधिकतम उत्पादन, बेरोजगारी का अन्त, आर्थिक समानता तथा सामाजिक न्याय की उपलब्धि नियोजन के अत्यन्त उदार उद्देश्य हैं।

(ग) जनसाधारण को शिक्षा एवं उनके स्वास्थ्य को प्राप्त करना।

(घ) शोषण का अन्त करना तथा वर्गहीन भ्रातृत्व प्रेम एवं देश प्रेम की सुन्दर भावनाओं से ओत प्रोत समाज की रचना करना।

(ङ) अतीत कालीन सभ्यता एवं संस्कृति की पृष्ठ भूमि पर समाज का वैज्ञानिक एवं न्याय पर आधारित संगठन प्राप्त करना।

(च) करोड़ों निरीह एवं निर्धन किन्तु श्रमशील किसानों का आर्थिक एवं सामाजिक विकास करना।

(छ) देश के अपार प्राकृतिक साधनों का अधिकतम विकास करना जिससे कि हमारा देश एक सुदृढ़, शक्तिशाली एवं समृद्धिशाली देश बन सके और विश्वव्यापी शान्ति सन्देश के द्वारा आधुनिक अशान्तिमय विश्व को चिरकाल तक शान्तिमय आनन्द प्रदान करने की क्षमता प्राप्त कर सके।

नियोजन के प्रयत्न

द्वितीय महायुद्ध के फलस्वरूप हमारे आर्थिक एवं सामाजिक ढाँचे में विघ्नताएँ एवं अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो गई तथा जो पहले से थीं उनमें जटिलता आ गई। अत: जनता एवं सरकार दोनों का ध्यान नियोजन की ओर आकर्षित हुआ। देश के विभिन्न अर्थशास्त्रियों एवं विद्वानों द्वारा कई एक योजनाएँ प्रस्तुत की गईं। इनमें प्रमुख योजनाएँ बम्बई योजना (Bombay Plan) गांधी योजना (Gandhian Plan), लोक योजना (Peoples Plan) बिड़ला योजना (Birla Plan),

सरकारी योजना, राष्ट्रीय योजना समिति की योजना (National Planning Committee's Plan), कोलम्बो योजना (Colombo Plan) तथा प्रथम तथा द्वितीय पचवर्षीय योजनाएँ हैं। उपरोक्त सभी योजनाओं में कृषि का महत्व स्वीकार किया गया है तथा खेती को ही भारतीय आर्थिक, सामाजिक एव राजनैतिक विकास की आधारशिला माना गया है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना एवं कृषि

प्रथम पचवर्षीय योजना में कृषि को प्राथमिकता प्रदान की गई। प्रथम पंचवर्षीय योजना का सम्पूर्ण अनुमानित व्यय २०६६ करोड़ रुपया था, जिसका १७.४ प्रतिशत कृषि एव सामूहिक विकास योजनाओं के लिए रक्खा गया था। १८४ करोड़ रुपया केवल कृषि के विकास के लिए रखा गया था। कुल मिलाकर कृषि या कृषि से सम्बन्धित सुधारों एव विकास के लिए कुल व्यय का ६८.६ प्रतिशत व्यय किया जाने का निश्चय किया गया था। प्रथम पचवर्षीय योजना के उद्देश्यों को सक्षेप में बतलाते हुए योजना कमीशन ने लिखा है कि "यद्यपि पचवर्षीय योजना के मूल में कृषि विकास प्रधान है, तथापि इसका सम्बन्ध एक ऐसी बृहद्तर योजना से है जिसका उद्देश्य राष्ट्र का सर्वाङ्गीण विकास है।"

प्रथम पचवर्षीय योजना सन् १९५१ मे लागू की गई थी तथा १९५६ में समाप्त हो गई। सन् १९५६ से दूसरी योजना चल रही है। प्रथम पचवर्षीय योजना में बड़ी सफलता प्राप्त हुई। खाद्य सकट लगभग निवारण कर दिया गया। खाद्यान्नों के उत्पादन में लगभग ३०%, कपास उत्पादन में ४५% तथा तिलहन में ८४ प्रतिशत की वृद्धि हुई। लगभग १६० एकड़ भूमि पर सिंचाई की व्यवस्था की गई। रसायनिक खाद की व्यवस्था, उत्तम बीजों की व्यवस्था, कृषि में नवीन वैज्ञानिक अनुसधान तथा भूमि व्यवस्था में सुधार इत्यादि अत्यन्त लाभप्रद कार्य किये गये। चकबन्दी, सहकारी साख एव विपणन समितियों का विकास इत्यादि के द्वारा खेती के सर्वाङ्गीण विकास की ओर ठोस कार्य किये गये। केन्द्रीय सरकार ने केन्द्रीय ट्रैक्टर सगठन (Central Tractor Organisation) की स्थापना की जिसका प्रमुख कार्य राज्यों में ऊसर, बजर तथा ऊबड़ खाबड़ जमीन को पुनः खेती योग्य एव उपजाऊ बनाना है तथा मशीनों द्वारा खेती करने की उचित सलाह एव सहायता प्रदान करना है। सिंदरी, जिला मिर्जापुर में एक खाद बनाने वाली विशाल फैक्टरी स्थापित की गई। पशुओं की नस्ल में सुधार, भूमिक्षरण, सहकारिता प्रशिक्षण की व्यवस्था, तथा सहकारी कृषि के प्रयोग किये गये। सन् १९५२ में प्रारम्भ किये गये टेक्निकल कोआपरेशन आयोजन (Technical Co-operation Programme) के अन्तर्गत हजारों पाताल

तोड़ कुओं का निर्माण किया गया। समुद्री मत्स्य के उत्पादन तथा टिड्डी दलों पर नियन्त्रण के विभिन्न उपाय प्रयोग में लाए गये। चहुंधन्धी सहकारी समितियां, सहकारी कृषि समितियों, साख सहकारी समितियों तथा क्रय विक्रय समितियों की स्थापना की गई।

उपरोक्त कार्यों के अतिरिक्त भूमि सम्बन्धी समस्याओं को हल करने के लिये तथा राज्यों के तत्सम्बन्धी कार्यों के क्रमबद्ध करने एवं प्रोत्साहित करने के लिये 'केन्द्रीय भूमि सुधार संगठन (Central Organization for Land Reforms) की स्थापना की गई। कृषि श्रमिकों की समस्या की ओर भी विशेष ध्यान दिया गया।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में सिंचाई के प्रोजेक्टों के लिये ५१८ करोड़ रुपयों की व्यवस्था की गई तथा कुछ महत्वपूर्ण प्रोजेक्ट पूरे भी किये गये जिनसे हजारों एकड़ भूमि हरे भरे खेतों से परिपूर्ण हो गई। सामूहिक विकास योजनाओं, खेती के लिये वित्त व्यवस्था तथा वैज्ञानिक विपणन सम्बन्धी महत्वपूर्ण कार्य किये गये। कृषि प्रणाली का सुधार, कृषि औजारों का सुधार, कृषि शिक्षा का प्रसार एवं कृषि अनुसन्धानों में भी काफी प्रगति हुई। दुग्धशालाओं की स्थापना, फल एवं शाक उत्पादन में वृद्धि की गई।

प्रथम पंचवर्षीय योजना की सबसे महत्वपूर्ण सफलता यह हुई कि इसने दीर्घ काल से सुषुप्त एवं गुलामी की जंजीरों में जकड़े हुये किसानों में नवीन जागृति एवं चेतना उत्पन्न कर दी है। किसान अब अपने महत्व, गौरव एवं कर्तव्यों को समझने लगा है। उनमें पारस्परिक सहयोग की भावना का प्रादुर्भाव हुआ है तथा उनके अन्तःकरण में उन्नति एवं प्रगति की प्रबल इच्छा उत्पन्न हो गई है। प्रथम पंचवर्षीय योजना ने ग्रामीण क्षेत्रों को अपने नव निर्माण सन्देश के द्वारा जागरूक कर दिया है। इस योजना ने भविष्य के समृद्धशाली तथा खुशहाल भारत की नींव डाली है जिसके आधार पर द्वितीय एवम् तृतीय पंचवर्षीय योजनाओं को कार्य करना है। इस योजना में हमें द्वितीय पंचवर्षीय योजना की सफलता के अंकुरों का प्रत्यक्ष दर्शन होता है।

द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना एवं कृषि

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में उद्योगों की उन्नति को प्राथमिकता दी गई है परन्तु कृषि की अवहेलना न करके उसको इस योजना में भी बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। वास्तव में यह निर्विवाद सत्य है कि उद्योगों की प्रगति के लिये कृषि की प्रगति उतनी ही आवश्यक है जितनी कि मनुष्यों को जीवित एवं

कार्यशील रखने के लिये भोजन की आवश्यकता होती है। उद्योगों को कच्चा माल प्रदान करना कृषि का ही कार्य है। अतः द्वितीय पचवर्षीय योजना में भी कृषि का महत्व कम नहीं है।

द्वितीय पचवर्षीय योजना में अनुमानित व्यय का लगभग १८ प्रतिशत कृषि के लिये निर्धारित किया गया है। लगभग १६ प्रतिशत सिंचाई तथा शक्ति के साधनों पर व्यय किया जाना है। द्वितीय पचवर्षीय योजना सन् १६६०-६१ में पूर्ण हो जायगी और उस समय तक आशा की जाती है कि खाद्यान्नों में १५%, कपास उत्पादन म ३१%, गन्ना उत्पादन में २६ प्रतिशत, तिलहनों के उत्पादन में २७%, जूट उत्पादन में २५% तथा चाय के उत्पादन में लगभग ६% की वृद्धि हो जायगी। सामूहिक विकास योजनाओं तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवा कार्यों में भी पर्याप्त व्यय किया जायेगा। जूट, कपास, गन्ना, तिलहन, फल, शाक, तरकारियाँ, दूध, फल, अण्डा तथा मत्स्य उत्पादन पर विशेष जोर दिया जायगा। भूमि प्रबन्ध एवं भूमि व्यवस्था तथा भूमिहीन कृषकों में भूमि वितरण इत्यादि के कार्य किये जावेंगे।

वनस्पतियों, मछली, दूध तथा फलों के उत्पादन के लिए प्रथम पचवर्षीय योजना में केवल ६६ करोड़ रुपये व्यय किये गये थे किन्तु द्वितीय योजना में इन पर लगभग ६८ करोड़ रुपया व्यय किया जायगा। पशुओं की नस्ल सुधारने के लिये प्रथम योजना में ६०० ग्राम केन्द्र (Key Villages) और १५० कृत्रिम गर्भाधान केन्द्र खोले गये थे। द्वितीय आयोजन में १२५८ नस्ल सुधार ग्राम केन्द्र तथा २४५ कृत्रिम गर्भाधान केन्द्र स्थापित करने की व्यवस्था है। लगभग १६०० नये पशु चिकित्सालयों की स्थापना की जायगी।

द्वितीय पचवर्षीय योजना के अन्त में अनुमान किया जाता है कि अन्न का उपभोग प्रति व्यक्ति वर्तमान समय के १७ २ औंस से बढ़कर १८ ३ औंस हो जायगा। शक्कर का उपभोग प्रति व्यक्ति १.४ औंस से बढ़कर १.७ औंस हो जावेगा। विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि करने के अतिरिक्त उनकी किस्मों में सुधार की ओर भी विशेष ध्यान दिया जावेगा।

सिंचाई के साधनों में वृद्धि के द्वारा अतिरिक्त सिंचित भूमि में लगभग २१ मिलियन एकड़ भूमि की वृद्धि हो जायगी। लगभग २०० नवीन सिंचाई प्रोजेक्ट बनाये जायँगे। ३५८१ नए पाताल तोड़ कुएँ बनाए जावेंगे जो कि जल विद्युत से सचालित किये जायँगे।

रसायनिक खादों के उत्पादन में १६५६ के ६१ लाख टन से १८० लाख टन तक वृद्धि की जावेगी। लगभग ३००० ऐसे कृषि फार्म खोले जायँगे जिनपर

वैज्ञानिक ढंग से उत्तम बीज उत्पादित किए जायेंगे। लगभग ३५० लाख एकड़ नई भूमि कृषि योग्य बनाई जावेगी।

कृषि पदार्थों के सुरक्षित एवं संग्रह करने के लिये अनेक संग्रहालय (Store-Houses) खोले जायेंगे। नई मंडियों का संगठन एवं पुरानी मंडियों का पुनर्संगठन किया जावेगा। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्त तक लगभग ५०% विपणन कार्य *सहकारी विपणन समितियों द्वारा होने लगेगा। विपणन सम्बन्धी कार्य करने* तथा संगठित करने के लिये राष्ट्रीय सहकारिता विकास तथा गोदाम बोर्ड (National Co-operative Development and Warehousing Board) की स्थापना की जा चुकी है। इस बोर्ड ने अब तक १७ राज्यों में सहकारी योजनाओं को कार्यान्वित करने की स्वीकृति प्रदान कर दी है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत कार्य एवं उनका आलोचनात्मक अध्ययन

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत कार्य प्रारम्भ होने के एक ही वर्ष उपरान्त विभिन्न क्षेत्रों में उन्नति के लक्षण स्पष्ट दिखाई पड़ने लगे। सन् १९५६-५७ तक खाद्य सामग्रियों के उत्पादन में १.४ मिलियन टन की वृद्धि हुई। इसके अतिरिक्त रूई और गन्ने के उत्पादन में भी पर्याप्त वृद्धि हुई। औद्योगिक उत्पादन में भी ९% की वृद्धि हुई। सन् १९५६-५७ के वर्ष में ८७ मील नई रेलवे लाइनें *खोली गईं तथा ५२४ मील नई रेलवे लाइनों के बनने का कार्य हो रहा है।* हमारे देश के वैज्ञानिकों ने इसी वर्ष एक एटामिक रिएक्टर की स्थापना करने में सफलता प्राप्त की है। यह कार्य देश की औद्योगिक उन्नति के लिये स्वर्णिम आशाओं से पूर्ण है। सन् १९५७-५८ में २० लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि पर सिंचाई होने लगी। १९५८-५९ के लिये इसका जो अनुमान लगाया गया है उसका योग २०३ लाख एकड़ है। परन्तु इन सभी प्रयत्नों के बावजूद भी कृषि के क्षेत्र में द्वितीय योजना के अन्तर्गत वांछित सफलता प्राप्त नहीं हुई है। १९४९-५० से १९५६-५७ तक की अवधि में कृषि उत्पादन में केवल २ से २.५ प्रतिशत की ही वृद्धि हुई है। वृद्धि की यह गति पर्याप्त नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रथम पंचवर्षीय योजना की उत्तोपजनक सफलता के बाद जिस आशा एवं उत्साह से दूसरी योजना प्रारम्भ की गई थी, गत दो-तीन वर्षों तक उसे पूर्ण करने के प्रयत्नों के बाद आज हमारी वह आशा, वह उमंग और वह आशामय वातावरण कुछ शिथिल पड़ गया है। हमने जिन *कठिनाइयों की कल्पना* मान की थी, वे हमारे सामने आ गई। उनमें से कुछ कठिनाइयाँ ऐसी भी हैं, जिन पर हमारा कोई वश न था। गत दो वर्षों से इन्द्र भगवान की कृपा से हम वंचित

हो गये। अनावृष्टि एवं अतिवृष्टि दोनों कारणों से हमारा अन्न उत्पादन खतरे की सीमा को पार कर गया और हमें आज करोड़ों रुपयों का बोझ विदेशी मुद्रा पर डाल कर अनाज का आयात करना पड़ रहा है। जन साधारण में प्रत्येक औसत व्यक्ति की शिकायत है कि जीवन निरंतर मँहगा होता जा रहा है और अन्न वस्त्र आदि नित्य काम आने वाले पदार्थ दुर्लभ से दुर्लभतर होते जा रहे हैं। योजना के सरकारी वकीलों द्वारा इस शिकायत का उत्तर आँकड़ों के तीरों की बौछार करके दिया जाता है और आँकड़े भी बहुधा, अमरीकनों के अनुकरण में रुपयों के दिए जाते हैं कि अमुक कार्य में इतने करोड़ रु० व्यय किये गए और अमुक पर इतने। इस प्रकार रुपयों की चकाचौंध में यह स्पष्ट दिखाई नहीं देता कि अन्न वस्त्र आदि उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन अथवा उपलब्धि में कितनी वृद्धि हुई।

वस्तुतः योजना की सफलता असफलता प्रकट करने के लिए, उसके विभिन्न कार्यों पर व्यय किए गए या किए जाने वाले रुपयों का ब्यान न करके, उनसे प्राप्त फलों का विवरण देना चाहिए, और इस कसौटी पर कसने से द्वितीय योजना की असफलताएँ जितनी सामने आती हैं, उतनी सफलताएँ नहीं आतीं।

द्वितीय योजना में अन्न की उपज बढ़ाने का लक्ष्य १०० लाख टन रक्खा गया था, अर्थात् १९५६ की समस्त उपज ६५० लाख टन मानकर १९६१ तक उसे ७५० लाख टन कर देने का निश्चय किया गया था। यह लक्ष्य द्वितीय योजना तैयार करते समय १९५४ में निर्धारित किया गया था। पीछे १९५६ में इन राज्य मंत्रियों ने मसूरी में एकत्र होकर निश्चय किया कि अन्न उत्पादन में वृद्धि का लक्ष्य १०० लाख टन कम है, उसे बढ़ाकर १६५ लाख टन कर दिया जाय। परन्तु इस प्रकार लक्ष्य ऊँचा उभार देने मात्र से उसकी पूर्ति नहीं हो जाती। स्वयं योजना आयोग की रिपोर्ट के अनुसार द्वितीय योजना के प्रथम दो वर्ष में पंजाब, उत्तर प्रदेश और राजस्थान आदि राज्यों का उत्पादन निर्धारित लक्ष्य से बहुत पीछे रह गया। निम्न तालिका से ऐसा स्पष्ट होता है—

राज्य	वृद्धि का लक्ष्य (लाख टन)	वर्ष	वास्तविक उत्पादन (लाख टन)
पंजाब	१४.४०	१९५६ ५८	२.८४
उत्तर प्रदेश	२४ ००	" "	५ ५५
राजस्थान	८ ०७	" "	१.२७
मध्य प्रदेश	१४ ६१	" "	२ ३०
कश्मीर	२.०६	" "	०.२७

वास्तव में द्वितीय पचवर्षीय योजना में भारी उद्योगों के प्रलोभन में कृषि की उपेक्षा ही इस स्थिति का मुख्य कारण रही। प्रधान मन्त्री पं० नेहरू के शब्दों में—

"भारत सरकार एवं योजना आयोग ने कृषि की ओर पर्याप्त ध्यान न देकर एक कड़वा सबक सीख लिया है। औद्योगिक प्रगति की अपेक्षा कृषि उत्पादन बढ़ाने की समस्या 'बहुत उलझनपूर्ण' और मुश्किल है, क्योंकि इसका सम्बंध विशाल जन समूह से है।'

उपर्युक्त कटु अनुभव के आधार पर ही द्वितीय पचवर्षीय योजना में कृषि पुनः अपनी प्रथम स्थिति पर आसीन हो गई है।

बहुत से अर्थशास्त्रियों की ओर से यह मत प्रदर्शित किया गया है कि योजना आवश्यकता से अधिक महत्वाकांक्षिणी हो गई है अर्थात् उसके लक्ष्यों एवम् कार्यक्रमों को निर्धारित करते समय साधनों की अपर्याप्तता को दृष्टिगत नहीं किया गया है। योजना आयोग व शासन के अधिकारी इस विचार का विरोध करते रहे हैं और इसे निराशाजनक मनोवृत्ति बताकर आशा व उत्साह का सदेश देते रहे हैं। किन्तु अब वे भी वस्तु स्थिति को देखकर धीरे-धीरे विपत्त की सचाई को स्वीकार करने लगे हैं। पहले ५५ ६० अरब रुपये की बात करते थे फिर ४८ अरब रुपये पर उतर आये और योजना के पूर्ण करने पर जोर देने लगे। फिर अनिवार्य योजनाओं (Core of the Plan) को अवश्य पूर्ण करेंगे, यह कहकर दबी जबान से प्राथमिकता के अनुसार कुछ कम आवश्यक योजनाओं पर पुनर्विचार की बात की जाने लगी। किन्तु अब स्थिति की गंभीरता को समझ कर योजना ही ४५ अरब रुपये की कर दी गई है यद्यपि ४८ अरब रुपये के शब्दों की सख्या को वे अभी तक छोड़ नहीं पाये हैं। फलस्वरूप १२०० करोड़ रुपये की घाटे की अर्थ व्यवस्था करने के बाद भी आन्तरिक साधनों में ४०० करोड़ रुपये की कमी आती है। भारत को विदेशी सहायता पर अवलम्बित होने के लिये विवश होना पड़ रहा है। अभी हाल ही में वर्तमान वित्त मन्त्री श्री मोरारजी देसाई इसी कठिनाई को हल करने के लिये अपनी विदेश यात्रा पर गये थे और उनको इस दिशा में आशातीत सफलता भी प्राप्त हुई है, परन्तु खेद का विषय है कि माननीय मन्त्री का एक ब्रिटिश दैनिक पत्र द्वारा निम्नलिखित शब्दों में स्वागत किया गया—

"एशिया का भिखारी आया......भारत दिवालिया हो चुका है..... और भारत का वित्तमन्त्री हाथ में भीख का कटोरा लेकर अपने दुर्दैव की एक लम्बी-चौड़ी मनगढ़न्त कहानी सुनाने आ रहा है।"

अभी हाल में ही भारत की मुद्रा विनिमय सम्बन्धी कठिनाइयों की ओर सकेत करते हुए विश्व बैंक के विशेषज्ञों ने कहा है कि स्थिति इतनी गंभीर है कि सतर्कता

तथा विवेक का दृष्टिकोण लेने पर पूँजीगत मालों के आयात को पूर्णतया स्थगित कर देना आवश्यक प्रतीत होगा। परन्तु जहाँ तक विदेशी सहायता का सम्बन्ध है इसको कदाचित अनुचित नहीं कहा जा सकता क्योंकि विश्व के प्रत्येक देश ने नियोजन की सफलता क लिये विदेशी सहायता का सहारा लिया है। हम भीख नहीं माँगते हैं, ऋण की याचना करते हैं जिसमें किसी प्रकार की अपमान की बू नहीं है। पण्डित नेहरू ने स्पष्ट कहा है कि भारत अपने स्वाभिमान को खोकर विदेशों से कुछ भी सहायता लेने के लिये तैय्यार नहीं है।

इसमें कोई सदेह नहीं कि विशुद्ध आर्थिक दृष्टिकोण से देखा जावे तो हमारी योजना कुछ महत्वाकांक्षिणी प्रतीत होगी और लक्ष्यों का तुलना म साधन अपर्याप्त प्रतीत होंगे, किन्तु आवश्यकताओं क दृष्टिकोण से देखा जाय तो अपने वर्तमान स्वरूप में योजना महत्वकांक्षिणी नहीं वरन् अपर्याप्त प्रतीत होगी। वास्तव म उच्च आशाएँ एव अभिलाषाएँ मानव जीवन में प्रगति के मूल तत्व हैं। आशाएँ मनुष्य को जीवन म निरन्तर प्रयास करने क लिये प्रेरणा प्रदान करती रहती हैं और उत्साह के कारण वह अपनी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने में सफल हो जाता है। अत योजना का महत्वाकांक्षिणी होना प्रगति के लिये आवश्यक ही है।

तृतीय पचवर्षीय योजना में १० हजार करोड़ रुपए के विनियोग की व्यवस्था की गई है। इस योजना के एक ओर कृषि उत्पादन तथा दूसरी ओर औद्योगिक उत्पादन को विशेष महत्व दिया गया है। इस प्रकार इस योजना में कृषि को एक बार फिर प्रमुख स्थान दिया गया है, जिसका खाद्य उत्पादन एक आवश्यक अग है।

उपसहार

हमारे देश के किसान आज दरिद्रता, महामारी एव अज्ञानता के चगुल में फँसे हुए हैं। उनकी भूमि अत्यन्त अल्प, शक्तिहीन, खण्डित एव तु षेत है। घोर परिश्रम करने, चोटी का पसीना एड़ी तक आने पर भी वे भूखे एव अर्द्ध नग्न रहने पर विवश हैं। उनका जीवन स्तर अत्यन्त नीचा है। वह अनेक बुराइयों एव सामाजिक कुरीतियों के शिकार हो रहे हैं। हमारे देश म वास्तव में पूछा जाय तो किसानों की दशा तथा उनके सुधार के विषय में आवश्यकता से अधिक लम्बे चौड़े भाषण दिये जा चुके हैं, लेख लिखे जा चुके हैं तथा योजनाएँ बनाई गई हैं परन्तु इन सबकी अपेक्षा उनके वास्तविक जीवन में अब तक बहुत कम सुधार हो पाया है। अत इस बात की बड़ी भारी आवश्यकता है कि हमें नव निर्माण एव नवीन रचनात्मक कार्यों का सदेश कृषकों की भाषा में घर घर तथा जन जन तक पहुँचाना है। किसानों की दशा सुधारने के लिए सुधारकों तथा विद्वानों को स्वय किसान बनकर दु ख सुख में हिस्सा बँटाकर,

उनमें घुल मिलकर कार्य करना चाहिए और तभी हम उनका वास्तविक हित कर सकते हैं। कृषि समस्याओं का समाधान उस समय तक नहीं हो सकता जब तक कि उनपर बहुमुखी आक्रमण नहीं किया जाता। बहुमुखी आक्रमण (Launching attack on all sides) बिना बुद्धिमत्तापूर्ण नियोजित योजना के सम्भव नहीं हो सकता। यह अत्यन्त हर्ष की बात है कि हमारी राष्ट्रीय सरकार के कर्णधार ऐसे महापुरुष हैं, जिन्होंने हमारे देश के निर्धन किसानों के लिए तन, मन, धन अर्पण कर रखा है। आशा है कि उनके नेतृत्व में हम सब मिल-जुलकर कृषि नियोजन को सफल बनाकर अपने गाँवों को सुख, समृद्धि एवं शान्ति से भरपूर बनाने में सफल हो सकेंगे। यह सही है कि आज देश की खाद्य व्यवस्था छिन्न-भिन्न होती सी प्रतीत हो रही है, बेकारी के कम हो जाने के आसार नजर नहीं आ रहे हैं और विदेशी मुद्रा इस स्थिति में पहुँच गई है कि राष्ट्र के दिवालियेपन का खतरा दृष्टिगोचर होने लगा है। इन्हीं कारणोंवश लोगों की धारणा बन गई है कि राष्ट्र प्रगति नहीं कर रहा है। परन्तु स्वाधीन भारत के शैशवकाल में यह स्वाभाविक ही है। एक शिशु अनेक संकटों से गुजर कर ही बड़ा होता है। हम अपने राजनैतिक तथा आर्थिक स्वार्थों से प्रेरित होकर भले ही कुछ आलोचना करें, किन्तु विदेशी अर्थशास्त्रियों एवं अनुभवी शासकों की दृष्टि में हम जो प्रयत्न कर रहे हैं वे सही दिशा में किये जा रहे हैं। अनावृष्टि तथा अतिवृष्टि, विदेशी उत्पादकों की प्रतिस्पर्द्धा या स्वावलम्बन की प्रवृत्ति आदि को हम कैसे वश में कर सकते हैं। प्रथम योजना से अब तक लगभग ४ करोड़ जनसंख्या बढ़ गई है। योजना तो केवल एक लक्ष्य के पूर्ति की साधन मात्र है, अतः योजना को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। प० नेहरू ने ठीक ही कहा है—

"हमारी द्वितीय योजना ग्रामीण भारत का पुनर्निर्माण करती है। यह औद्योगिक विकास की आधारशिला निर्मित करती है और देश के कमजोर एवं अधिकारहीन वर्गों के लिए यथासम्भव अधिक से अधिक सीमा तक सुअवसर प्रदान करती है। इसका उद्देश्य देश के सभी हिस्सों का सतुलित विकास करना है।"

सत्य तो यह है कि यदि आज सारा देश ईमानदारी और कठोर परिश्रम का मार्ग अपनाये तो कोई कारण नहीं कि कठिनाइयों के रहते हुए भी हम अपने निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त न कर सकें। इस समय यदि हमें धन से भी अधिक किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता है तो वह है चरित्र बल, निःस्वार्थ सेवा, ईमानदारी तथा देश के भविष्य में विश्वास।

—ooo—

१२

सामुदायिक विकास योजनाएँ

Community Development Projects

"भारत के विस्तृत ग्रामीण क्षेत्रों में सामुदायिक विकास और राष्ट्रीय विस्तार सेवा योजनाएँ सबसे महत्वपूर्ण विकास हैं। हम यह कह सकते हैं कि वास्तव में पहली बार हमने ग्रामीण समस्या को सही ढंग से सुलझाने का प्रयास किया है। नव जागरण का श्री गणेश हो चुका है।"—प० नेहरू

विदेशों में यह शब्द एक ऐसे जनसमूह का बोध कराता है जिसका अस्तित्व प्राकृतिक क्षेत्र, सांस्कृतिक विकास तथा सामान्य आर्थिक समस्याओं पर आधारित हो। सामुदायिक विकास योजना की कल्पना देश तथा परिस्थितियों के अनुसार भिन्न भिन्न हो सकती है। उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका में सामुदायिक केन्द्र से ऐसे सार्वजनिक भवनों तथा संस्थाओं से आशय होता है जो सामान्य मनोरंजन तथा बौद्धिक एवं सांस्कृतिक विकास कार्यक्रम संचालित करती हैं। ये सामुदायिक केन्द्र प्रायः प्रौढ़ शिक्षा के स्थान माने जाते हैं। श्री से-डरसन के शब्दों में—

"सामुदायिक संगठन सामूहिक कल्याण के लिए आवश्यक उद्देश्यों की पूर्ति तथा इसके सम्बन्ध में सर्वोत्तम साधन उपलब्ध करने की एक कार्यविधि है।"

सामुदायिक विकास योजना का यदि सरल शब्दों में अर्थ किया जाय तो उसका तात्पर्य यही है कि किसी भी कार्य को आपस में मिल जुल कर करना जिससे उनके स्वयं के विकास के साथ साथ समुदाय का भी विकास हो। इसमें व्यक्ति को निजी लाभ के साथ-साथ राष्ट्र को भी लाभ होना चाहिए। दूसरे शब्दों में यह वह योजना है जो गाँवों में बहुमुखी विकास की ओर संकेत करती है जैसे कृषि, शिक्षा, स्वास्थ्य, आरोग्य, पशुकल्याण नौकरी आदि सभी दिशाओं में एक ही साथ विकास हो। श्री 'लोयब्रोह' के शब्दों में—

"सामुदायिक योजना गहन विकास की ओर एक संगठित तथा आयोजित प्रयत्न है।"

पर भारतवर्ष में इन योजनाओं का उद्देश्य ग्रामों की सारी समस्याओं का एक साथ समाधान करना है, जैसा कि १९५२ 'अधिक अन्न उपजाओ समिति' ने स्पष्ट कहा था—

"हमारे ग्रामों की समस्याएँ अन्तर्सम्बन्धित हैं और जब तक इन समस्याओं को हल करने के लिए एक प्रयत्न नहीं किया जायगा, हमारी खाद्य-समस्या का समाधान असम्भव है।"

सामुदायिक योजनाएँ ग्रामों के आर्थिक एवं सामाजिक जीवन में काया पलट करने की योजनाएँ हैं और ग्राम विकास सेवा इस उद्देश्य को प्राप्त करने का साधन है। आज दरिद्रता, अज्ञान, रोग, क्षुधा तथा विभिन्न प्रकार के नैतिक रोग से पीड़ित भारतीय गाँव मानवता का एक अत्यन्त ही दयनीय चित्र उपस्थित करते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों के आर्थिक एवं सामाजिक जीवन का विकास करने के लिए यह एक नवीन कार्यक्रम है। इसका उद्देश्य ग्रामों का बहुमुखी विकास है अर्थात् गाँवों में कृषि, शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार, रहन सहन एवं सार्वजनिक कल्याण कार्यों की वृद्धि हो।

इस योजना का मुख्य आधार जनता का सहयोग है। सरकार केवल पथ प्रदर्शन करेगी और धन की सहायता देगी, किन्तु जनता को इस योजना में तन मन धन से योग देना होगा। यह विकास योजना स्वयं जनता के सामुदायिक प्रयत्नों से क्रियान्वित होगी, इसलिए इसे 'सामुदायिक विकास योजना' कहते हैं। यह योजना जन मन में जागृति उत्पन्न करने के हेतु आरम्भ की गई है। सामुदायिक विकास राष्ट्र निर्माण का एक भाग है। प्रधान मन्त्री प० नेहरू के शब्दों में—

"मामूली योजनाओं के बनिस्बत यह कुछ ज्यादा व्यापक और विस्तृत है। राष्ट्र के निर्माण का एक शक्तिशाली अस्त्र है। हम सब मिलकर एक नये भारत का अमूर्त राष्ट्र के लिए नहीं, वरन् ३६ करोड़ व्यक्तियों के लिए निर्माण कर रहे हैं।"

योजना आयोग के शब्दों में—

"विकास के जिन क्षेत्रों का ग्रामीण जनता की भलाई से सबसे अधिक और निकट सम्बन्ध है, उनमें सामुदायिक विकास योजनाओं और राष्ट्रीय प्रसार सेवा को मूल महत्व का स्थान प्राप्त है। राष्ट्रीय प्रसार और सामुदायिक विकास योजनाओं के ढाँचे पर भरपूर कार्य के लिए जिन क्षेत्रों को चुना जायगा उनमें कृषि, शिक्षा, स्वास्थ्य, ग्रामोद्योग और सहकारिता के क्रम को तेज किया जायगा।"

राजनैतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति मानव कल्याण की सर्वोत्तम स्थिति तक

पहुँचने का एक साधन है, साध्य नहीं। स्वतन्त्रता के उपरान्त सदियों के शोषण से छिन्न-भिन्न हुई अर्थ-व्यवस्था के सुधारने के लिये नागरिकों को तथा राज्य को मिल कर कई मोर्चों पर विभिन्न समस्याओं का सामना करना पड़ेगा। खँडहरों पर एक नया भवन बनाना एक विशाल कार्य है। दीर्घकालीन दासता की बेड़ियाँ तोड़ कर भारत आज अभाव-ग्रस्त विशाल जन समुदाय के जीवन को समृद्ध एवं सुखी बनाने के लिये उद्यत हुआ है। जनोत्साह का अभाव नहीं है और न प्राकृतिक व मानवीय साधनों की ही कमी है। अब तक जो भी प्रयास गाँवों के उत्थान के लिए हुआ है उससे स्पष्ट है कि सरकारी अधिकारियों द्वारा विभिन्न विभागों के अन्तर्गत ग्रामीण समस्याओं को खंडत लेकर हल करने से कभी भी सफलता नहीं मिल सकती। मानव जीवन एक अजस्र धारा है, और इसकी समस्याओं को हल करने के लिये उन सभी का समन्वय करके कोई एक ऐसी योजना कार्यान्वित करनी होगी जो कि समस्त जीवन के सम्पूर्ण पक्षों को ढक ले। सामुदायिक विकास योजनाएं इस दिशा में उचित प्रयास है।

भारत ग्रामों का देश है। भारत की कुल जनसंख्या का लगभग ८२ प्रतिशत भाग ग्रामों में निवास करता है। अत ग्रामोत्थान की कल्पना से विहीन राष्ट्रोन्नति की कोई योजना का चित्र अधूरा रहेगा। ग्रामों का बहुमुखी विकास देश की सुख समृद्धि के लिए उचित ही नहीं, अनिवार्य है। सामुदायिक विकास योजनाएँ इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये सञ्चालित की गई हैं। वैसे तो असहयोग आन्दोलन के समय से ही समाज सुधारकों का ध्यान इस ओर गया था और राज्य ने इस ओर छुट पुट कार्य किये भी है, परन्तु पचवर्षीय योजना में राज्य व नागरिकों के सहयोग से ग्रामों की सर्वाङ्गीण उन्नति की जो सामुदायिक योजनाएँ बनाई गई हैं, भारत के भविष्य म विकास की मुख्य आधारशिला हैं।

श्री एस० के० डे० ने इनका महत्व बतलाते हुए कहा था—

"सामुदायिक योजना एक ऐसा उद्यान है जिसका परिपालन एक चतुर माली अत्यन्त सावधानी से करता है। यह योजना एक ऐसे जगल के समान नहीं है जिसमे मुक्त व्यापार की तरह वृक्ष तथा वनस्पतियाँ भी हों।"

विशेषताएँ

(i) ग्रामों का सर्वाङ्गीण विकास
(ii) कृषि की उन्नति
(iii) जन सहयोग, श्रमदान, द्रव्यदान और स्वयसेवा
(iv) ग्राम स्तर कार्यकर्ता

कार्यक्रम

(i) कृषि तथा कृषि सम्बन्धी क्षेत्रों में—

(क) परती या निरुपयोगी भूमि को काम में लाना

(ख) सिंचाई के लिये पानी का प्रबन्ध करना

(ग) अच्छी किस्म के बीज और पद्धतियों को उपलब्ध करना

(घ) पशुओं की चिकित्सा का प्रबन्ध करना

(ङ) उन्नतशील कृषि, विक्रय, खाद आदि की व्यवस्था करना

(च) फलों, मछलियों और तरकारियों की खेती को उन्नत करना

(ii) यातायात तथा सवाहन क्षेत्र में—

(क) कच्ची तथा पक्की सड़कों की व्यवस्था करना

(ख) मोटर यातायात की व्यवस्था करना

(ग) पशु यातायात का नवीनीकरण करना

ग्रामों में इस प्रकार सड़कों का निर्माण किया जायगा जिससे प्रत्येक ग्राम विकास क्षेत्र से सम्बन्धित किया जा सके। इस प्रकार की सड़कें एक ग्राम से दूसरे ग्राम की दिशा में ½ मील तक लम्बी होंगी और इनका निर्माण ग्रामीणों के ऐच्छिक श्रम द्वारा होगा। अन्य सड़कें सरकार के व्यय से निर्मित होंगी। इस प्रकार यातायात क्षेत्र में मानवीय श्रम की महत्ता एवं ग्रामीणों के सहयोग पर ही अधिक जोर दिया गया है।

(iii) शिक्षा क्षेत्र में—

(क) ६ वर्ष से १४ वर्ष तक के बच्चों को अनिवार्य और निःशुल्क प्राइमरी शिक्षा की व्यवस्था करना

(ख) मिडिल तथा हाई स्कूलों का विस्तार करना

(ग) प्रौढ़ शिक्षा को प्रोत्साहित करना तथा साधारण जनता को स्वास्थ्य, सफाई, सामाजिक कर्तव्यों की जानकारी करवाना।

(घ) प्राविधिक प्रशिक्षा (Technical Training) की व्यवस्था।

(iv) स्वास्थ्य—प्रत्येक योजना क्षेत्र में तीन प्राथमिक चिकित्सा की इकाइयाँ (Health units) होंगी जो विकास खण्डों में होंगी। इसके अतिरिक्त योजना क्षेत्र का सहायक चिकित्सा इकाई होगी, जिसके अन्तर्गत एक अस्पताल तथा एक चल औषधालय (Mobile Dispensary) होगा, जो पूरे क्षेत्र में घूमता रहेगा। क्षेत्रों में स्वास्थ्य संगठन का उद्देश्य गांवों में अधिकाधिक स्वच्छता तथा पीने के लिये उत्तम

पानी का प्रबन्ध, मनुष्यों तथा जानवरों के मल मूत्र एव मृतक के अन्तिम सस्कारों की उचित व्यवस्था, चिकित्सा का प्रबन्ध, जनता को स्वच्छ रहन सहन तथा अच्छे भोजन के बारे में शिक्षा आदि देना होगा।

(v) प्रशिक्षण—शोध (Research) विकास तथा ग्रामीण स्तर कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षण देना।

(vi) रोजगार या नियोजन—बेकारी दूर करने के लिये कुटीर और लघु पैमाने के उद्योगों का विकास करना जिससे गाँवों का बेकार तथा अर्द्ध बेकार ग्रामीण लोगों को काम मिल सके।

(vii) आवास स्थान—अच्छे मकान बनाने के लिये ग्रामीणों को प्रेरणा तथा सम्पत्ति प्रदान करना। पार्कों तथा खेल के मैदानों की भी व्यवस्था की जायगी।

(viii) सामाजिक कल्याण—इसके अन्तर्गत मनोरजन और व्यावहारिक शिक्षा के लिये सिनेमा, खेल, तमाशे, मेले और प्रतियोगिता आदि का प्रबध करना है।

सामुदायिक विकास योजनाएँ भारतवर्ष के जनसमूह के लिये केवल आर्थिक विकास की योजनाएँ ही नहीं हैं वरन् उनके जीवन का सर्वाङ्गीण विकास ही उनका उद्देश्य है। इन योजनाओं का देश में आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक और नैतिक विकास करना मुख्य उद्देश्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि मनुष्य केवल रोटी से ही जीवित नहीं रहता यद्यपि रोटी उसकी आधारभूत आवश्यकता है। अत मनुष्य के जीवन का सम्पूर्ण विकास उसकी सभी आवश्यकताओं आर्थिक, सामाजिक, एव नैतिक—की पूर्ति करना ही भारत की सामुदायिक विकास योजनाओं का उद्देश्य है।

योजनाओं का सगठन—इन योजनाओं के उचित सचालन एव व्यवस्था के लिए एक केन्द्रीय सगठन होगा जिसका नाम सामुदायिक विकास शासन (Community project Administration) है। इसके अन्तर्गत एक केन्द्रीय समिति (Central Committee) तथा सामुदायिक योजना प्रबन्धक (Community project Administrator) सम्मिलित हैं। इस समय स्वय योजना आयोग ही केन्द्रीय समिति का कार्य कर रहा है। इस समिति का कार्य प्रमुख नीति निर्धारण, सामान्य निरीक्षण तथा कार्य सचालन करना होगा। इसकी सहायता के लिए एक परामर्शदात्री समिति होगी जिसके अन्तर्गत सरकार के उच्च, योग्य तथा अनुभवी अधिकारी होंगे जो प्रबन्ध, वित्त, कर्मचारी आदि योजना से सम्बन्धित अनेक विषयों पर सलाह देंगे।

प्रत्येक राज्य में राज्य विकास समिति (State Development Committee) होगी, जिसमें राज्य के प्रधान मन्त्री तथा ऐसे मन्त्री, जिन्हें वह आवश्यक समझेंगे, सम्मिलित होंगे। इस समिति का कार्य-वाहक राज्य विकास कमिश्नर होगा। विकास कमिश्नर पर ही राज्य में योजना को कार्यान्वित करने की जिम्मेवारी है। यही समिति राज्य में समस्त सामूहिक नियोजन का पथ प्रदर्शन करेगी।

प्रत्येक जिले में सामूहिक योजना के निरीक्षण का उत्तरदायित्व एक जिला विकास अधिकारी का होगा जो राज्य विकास कमिश्नर के अधीन होगा जिसमें सामूहिक योजना से सम्बन्धित सरकार के सभी विभागों के अधिकारी होंगे। इस समिति का अध्यक्ष जिलाधीश तथा मन्त्री जिला विकास अधिकारी होगा।

योजना कमीशन के अनुसार प्रत्येक सामुदायिक योजना के अन्तर्गत लगभग ३०० गाँव होते हैं, जिनकी जनसंख्या २ लाख के लगभग तथा सम्पूर्ण क्षेत्रफल लगभग ४५० से ५०० वर्ग मील होगा। योजना क्षेत्र को ३ विकास खण्डों (Development Blocks) में विभाजित किया जाता है। प्रत्येक विकास खण्ड के अन्तर्गत १०० गाँव होते हैं जिनकी जनसंख्या लगभग ६० हजार से ७६ हजार तक होती है। यह विकास खण्ड पाँच पाँच गाँवों के उपखण्डों में विभाजित कर दिया जाता है।

योजनाओं की अर्थ-व्यवस्था

भारत में इन योजनाओं का प्रादुर्भाव अमेरिका की प्रेरणा से हुआ है। अमरीका ने अपनी कृषि विकास योजनाओं के द्वारा अपने यहाँ देश का विकास किया था। भारतीय सामुदायिक विकास योजनाएँ अमरीकी योजनाओं के अनुरूप हैं। इन योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए ५ जनवरी १९५२ को अमरीका सरकार से भारत अमरीका शैक्षिक सहायता समझौता (Indo U. S A Technical Co-operation Agreement) किया गया था जिसके अनुसार अमरीका ने 'फोर्ड फाउन्डेशन' के अन्तर्गत आर्थिक सहायता देने का भी वचन दिया है।

वास्तव में इन योजनाओं के संचालन में अमरीका ने प्रेरणा और आर्थिक सहायता प्रदान की है। योजना कमीशन के अनुमान के अनुसार ग्रामीण क्षेत्र में तो एक योजना पर ३ वर्ष में ६५ लाख रुपए व्यय होंगे जिनमें ६.५३ लाख रुपया अमरीका से मिलेगा। शहरी क्षेत्र के एक सामुदायिक विकास क्षेत्र में ३ वर्षों में १११ लाख रुपया व्यय होगा जिसमें १५.४५ लाख रुपया डालर सहायता से प्राप्त होगा। योजना कमीशन ने प्रथम आयोजन काल के लिए कुछ सोच विचार के उपरान्त ग्रामीण

क्षेत्र की योजना का व्यय ६५ लाख रुपए से घटाकर प्रति योजना पर ४२ लाख रुपया कर दिया था।

सामुदायिक विकास योजनाओं पर व्यय में केन्द्र तथा राज्य सरकारों का सहयोग है। अस्थायी व्यय का ७५ प्रतिशत केन्द्र तथा २५ प्रतिशत राज्य सरकार देती है। स्थायी व्यय का दोनों आधा आधा देते हैं।

योजनाओं का आरम्भ एवं प्रगति

सामुदायिक विकास योजनाओं का आरम्भ सर्वप्रथम उत्तर प्रदेश के इटावा जिले के 'महेवा' नामक स्थान में सितम्बर १६४८ ई० में हुआ। इस केन्द्र के पीछे यदि कोई शक्ति थी तो वह अमरीकन विशेषज्ञ श्री अलबर्ट मेयर की बुद्धि थी। इस योजना में रुपया भी अमरीका ने ही लगाया। पहले महेवा केन्द्र का कार्य क्षेत्र केवल ६४ गाँवों तक सीमित था। आगे चलकर यह ६७ गावों तक पहुँचा। इस प्रथम प्रयास में ही कूप, सिंचाई, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि क्षेत्रों में जो आशातीत उन्नति हुई, उससे देश की जनता ही नहीं वरन् सुदूर देशों के लोग भी प्रभावित हुए और इसकी प्रशंसा की और इन योजनाओं को 'शान्तिमय क्रान्ति' कह कर पुकारा।

महेवा केन्द्र और विदेशी अनुभव से प्रोत्साहन एवं प्रेरणा के फलस्वरूप पंचवर्षीय योजना आयोग के सदस्यों ने भी इन योजनाओं को ग्रामीण उन्नति में महत्वपूर्ण स्थान दिया। परिणामस्वरूप इन योजनाओं का श्री गणेश पूज्य बापू के जन्म दिन पर २ अक्टूबर सन् १६५२ को हुआ। पूरे देश को ५५ सामुदायिक योजना क्षेत्रों में बाटा गया जिनका विस्तार दक्षिण में कुमारी अन्तरीप से लेकर उत्तर में काश्मीर तक था। विभिन्न राज्यों में इन योजनाओं का वितरण इस प्रकार किया गया—उत्तर प्रदेश में ६, मद्रास में ६, बम्बई में ४, बंगाल में ३, उड़ीसा में ३, आसाम में २, मध्यभारत में २, हैदराबाद में २, राजस्थान में २, केरल में २। इनके अतिरिक्त प्रत्येक 'ब' और 'स' वर्ग के राज्य में एक-एक योजना नियत की गई। इन समस्त योजनाओं का क्षेत्र लगभग २७ हजार मील पर विस्तृत था जिसमें लगभग १८½ हजार गाव शामिल थे और ये डेढ़ करोड़ ग्रामीण जनता के जीवन से सम्बद्ध थीं। २ अक्टूबर सन् १६५३ को ५३ योजनाओं पर कार्य आरम्भ हुआ।

ग्रामीण क्षेत्रों में प्रारम्भिक कार्य करने के हेतु भारत सरकार ने २ अक्टूबर सन् ५३ को राष्ट्रीय विकास सेवा योजना का सूत्रपात किया। यह सामुदायिक विकास योजना के लिए अनुकूल वातावरण तैयार करती है और तीन वर्ष बाद राष्ट्रीय विकास सेवा खण्ड सामुदायिक योजना खण्ड में परिणित हो जाता है। इस प्रकार

मार्च १९५६ को राष्ट्रीय विकास सेवा खण्ड सामुदायिक योजना खंड का रूप धारण कर लेंगे। अब तक भारत में राष्ट्रीय विकास सेवा खण्डों की संख्या इस प्रकार है।

२ अक्टूबर सन् १९५३ को चालू	२५८
२ अक्टूबर सन् १९५४ को चालू	२४१
१ अप्रैल सन् १९५५ को चालू	१०७
२ अक्टूबर सन् १९५५ को चालू	११६
२ अक्टूबर सन् १९५६ को चालू	३१४
योग	१०३६

इनमें से १८३ खण्ड, सामुदायिक खण्डों में बदले जा चुके हैं और अब ८५३ चालू हैं। दूसरी योजना के अन्त (१९६०–६१) तक राष्ट्रीय विकास सेवा योजना सारे देश म चालू हो चुकेगी। इस समय ३,८०० राष्ट्रीय विकास सेवा खण्ड होंगे और १,७४० सामुदायिक विकास खण्ड होंगे।

जनवरी १९५९ तक सामुदायिक-विकास और राष्ट्रीय-विस्तार-सेवा-खण्डों का विस्तार २,७६,००० गाँवों पर था और इन केन्द्रों की संख्या २३८३ थी। इन गाँवों के १३ करोड़ से अधिक परिवारों को इन विकास कार्यों से लाभ पहुँचा। सामुदायिक-विकास कार्यक्रम से १९५७ ५८ में ११·४ मिलियन परिवार लाभान्वित हुए जब कि राष्ट्रीय विस्तार कार्यों से ३७ २ मिलियन परिवारों को लाभ पहुँचा। इन विकास कार्यों से लगभग डेढ़ लाख व्यक्तियों को पूरे समय का रोजगार प्राप्त हुआ; जब कि ५ लाख से अधिक व्यक्तियों को थोड़े समय के लिए काम मिला। स्पष्ट है कि इनसे रोजगार में पर्याप्त वृद्धि हुई। जनता म अपनी सहायता आप करने की भावना उत्पन्न हुई है और एक मनो वैज्ञानिक परिवर्तन आ गया है। अतः आशा है कि सामुदायिक-विकास कार्य निश्चय ही ग्रामीण क्षेत्रों के विकास में महत्वपूर्ण हाथ बटा-यगा और ग्राम-क्षेत्रों के विकास का स्वप्न एक दिन पूरा होकर रहेगा।

२ अक्टूबर १९५८ तक की प्रगति की तालिका इस प्रकार है—

खाद वितरण	३,२८,६७,००० मन
बीज वितरण	२,३६,२१,००० मन
फलों का बढ़ाया क्षेत्र	१,५७,००० एकड़
नया सिंचाई में लाया गया क्षेत्र	१,५६,००० एकड़
तरकारियों का बढ़ाया क्षेत्र	३,८८,००० एकड़
परती भूमि का सुधार	११,००,००० एकड़

नए स्कूल	१,१७,०००
प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र	८८,०००
कच्ची सड़कें	७०,६०० मील
पक्की सड़कें	६,०२६ मील
नई सहकारी समितियाँ	३६१५
वाचनालय	३०,८००
नया दिया गया रोजगार	३ ०४ लाख लोगों को
नए मनोरंजन व केन्द्र एवं पुस्तकालय	६६,५१२

उपर्युक्त विवेचन से प्रकट है कि सामुदायिक योजनाएँ देश के दैनिक जीवन का अंग बन गई हैं, क्योंकि इनमें केवल सरकारी कर्मचारी और धन ही नहीं काम कर रहा है बल्कि कोटि कोटि ग्रामीण जनता तन मन धन से सहयोग कर रही है।

सन् १६५७ तक इन योजनाओं पर जितना सरकारी धन व्यय हुआ है उसका लेखा इस प्रकार है—

१ पशुपालन तथा कृषि प्रसार	४२५ लाख रुपया
२ सिंचाई	६२४ "
३ भूमि नौतोड़ (Land Reclamation	६३ "
४ स्वास्थ्य तथा गाँवों की सफाई	५१० "
५ सामान्य शिक्षा	३६८ "
६ सामाजिक शिक्षा	२१३ "
७. सम्वाद वाहन	२३ "
८ ग्रामीण हस्तकलाएँ व उद्योग	२८३ "
६ गृहनिर्माण	६८ "
	३,४०७ लाख रुपया

२ अक्टूबर १६५८ तक कुल व्यय १६६·३६ करोड़ रुपया था जिसमें से १०३ ३८ करोड़ सरकारी और ६५ ६८ करोड़ रुपया जनता का था।

इस धन के अतिरिक्त शेष रुपया प्रशासन पर व्यय हुआ है। प्रथम पंचवर्षीय आयोजन काल में योजना कमीशन के १०१ करोड़ रुपया की व्यवस्था की थी। द्वितीय आयोजन में इसके लिए २०० करोड़ रुपये व्यय किये जायेंगे। प्रथम आयोजन काल में सामुदायिक विकास योजनाओं तथा प्रसार सेवा खण्डों की सफल प्रगति

के लिए विदेशों से भी सहायता ली गई है। इस दृष्टिकोण से अमरीका ने १९५२ में प्रारम्भ किये गये ५५ विकास क्षेत्रों के लिए २·४२ करोड़ रुपये का सामान दिया था। इसके उपरान्त फिर २·६६ करोड़ रुपया इस कार्य के लिए अमरीका सरकार ने नकद दिया। फोर्ड फाउन्डेशन भी विकास कार्यकर्ताओं के लिए प्रशिक्षण की व्यवस्था करके सहायता कर रही है।

भारतीय जनता भी तन मन-धन से इन योजनाओं में सहयोग दे रही है। मार्च १९५८ तक सरकार ने लगभग ६६·४० करोड़ रुपया विभिन्न सामुदायिक योजनाओं तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवाओं पर व्यय किया है जब कि जनता ने ५७·६५ करोड़ रुपये के मूल्य का सहयोग नकदी, सामान तथा श्रमदान के द्वारा दिया है।

राष्ट्रीय-विस्तार परिषद् ने यह निर्णय किया है कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना की समाप्ति तक देश भर के ग्रामीण क्षेत्र पर राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्डों का जाल बिछ जाय और देश की ३१ करोड़ ग्रामीण जनता उनके द्वारा नवजागरण के पथ पर अग्रसर हो जाय। सामुदायिक योजना खण्डों का विस्तार ग्रामीण भारत के ४० प्रतिशत भाग पर करने का निश्चय किया गया है। शेष समस्त भाग पर राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्ड छा जायेंगे। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्त तक सारे देश में ३८०० राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्ड खोले जायेंगे। इनमें से १,१२० खण्डों को सामुदायिक विकास खण्डों में बदल दिया जायगा। इस काम के लिए योजना में दो अरब रुपये की व्यवस्था की गई है।

अभी हाल ही में माउण्ट आबू में हुए सामुदायिक विकास के वार्षिक सम्मेलन को प्रधान मन्त्री ने अपने शुभ सन्देश में कहा कि—

'अब सामुदायिक आन्दोलन को प्रगतिमय ढंग से जनता के हाथों में सौंप देना चाहिए। उसमें सरकारी मदद व सहूलियत जरूरी है और यह जारी रहेगी। लेकिन इसे ज्यादा से ज्यादा जनता का आन्दोलन बनना है, न कि ऊपर से सरकार द्वारा चलाई गई एक चीज।'

श्री वी० टी० कृष्णामचारी, उपाध्यक्ष योजना आयोग ने भी सामुदायिक विकास की सभी योजनाओं में ग्रामीण संस्थाओं को साथ मिलाने की सख्त जरूरत पर बल दिया। श्री कृष्णामचारी ने इच्छा प्रकट की कि अगले दो तीन वर्षों के भीतर ही सभी क्षेत्रों में ग्राम संगठन स्थापित करने को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जानी चाहिए। अन्त में उन्होंने कहा—

"आन्दोलन को मानवीय मान्यताओं के आधार पर लिया जाना चाहिए। पुरुषों और महिलाओं के व्यक्तिगत और सम्मिलित जिम्मेदारी

दोनों ही भावनाओं का विकास करना ही उसका लक्ष्य है। ताकि वे निजी उन्नति के साथ २ सामूहिक तौर पर सामाजिक जीवन की पूर्णता को प्राप्त कर सकें।

इस प्रकार से ग्रामीण जीवन सामाजिक और नैतिक समन्वय को प्राप्त होगा, जो कि राष्ट्रीय एकता का एक मात्र आधार है।

माउण्ट आबू सम्मेलन ने प्रजातान्त्रिक विकेन्द्रीकरण के बारे में बलवन्तराय मेहता अध्ययन दल की रिपोर्ट पर भी सविस्तार विचार विमर्श किया और महसूस किया कि सभी राज्य सरकारों को चाहिए कि वे अध्ययन दल के सुझावों को अत्यावश्यक मानकर उन्हें कार्यान्वित करें। यह महसूस किया गया कि जब तक ग्राम सङ्गठनों को काफी अधिकार देकर स्थानीय नेतृत्व को विकसित नहीं किया जाता, तब तक सामुदायिक विकास कार्यक्रम के आधारभूत लक्ष्यों को पूरी तरह हासिल नहीं किया जा सकेगा।

सम्मेलन ने सामुदायिक विकास और ग्रामदान आन्दोलन के बीच यथोचित समन्वय लाने की जरूरत पर जोर दिया। सभी ने स्वीकार किया कि आचार्य विनोबा का ग्रामदान कार्य जनता में सहकारिता और आपसी मदद विकसित करके उनमें सामुदायिक जीवन की भावना पैदा करने में बहुत कारगर रहा है। हमें आशा है कि इस सम्मेलन से सामुदायिक विकास कार्य को सही मानें में जन आन्दोलन बनाने की अहम समस्या को हल करने में काफी मदद मिलेगी।

केन्द्रीय सामाजिक विकास एवं सहयोग मन्त्रालय ने ११ राज्यों की सरकारों को अधिकार दिया है कि वे २ अक्टूबर, १९५९ से १०१ खण्डों के विस्तार के पूर्व के कार्य प्रारम्भ कर दें। जम्मू व काश्मीर सरकार भी विस्तार सेवा खण्डों के अन्तर्गत आती है। आन्ध्र प्रदेश में १८, आसाम में ५, बिहार में २३, मध्यप्रदेश में १२, मद्रास में १३, मैसूर में १०, केरल में ५ उड़ीसा में १२, उत्तर प्रदेश में ३७, पश्चिमी बंगाल में १२ खण्ड विस्तार के लिये निर्धारित किए गये हैं।

आलोचनाएँ

इस योजना के आलोचकों का कहना है कि—

(१) यह योजना हमारे आर्थिक परावलम्बन की द्योतक है, क्योंकि इसके लिए अमरीका का सहारा लिया गया है। ऐसी दशा में जनता में आत्मविश्वास कैसे पैदा होगा।

(२) हमारी विदेशी नीति अमरीका के आधीन होने को बाध्य हो जायगी। यह कहा जाता है कि ये योजनाएँ अमरीकी पूँजीवाद और औपनिवेशवाद स्थापित

करना चाहती है। आचार्य विनोबा भावे तथा श्री कुमारप्पा अमरीकी सहायता के पूर्णतः विरुद्ध हैं।

(३) राज्य सरकारों के पास विकास कार्यों के लिए धन की कमी रहती है, वे अपने हिस्से की लागत का कहाँ से प्रबन्ध करेंगी?

(४) योजना के अमरीकी अध्यक्ष को भारत की ग्राम्य समस्याओं का कोई क्रियात्मक ज्ञान नहीं, वह कैसे पथ प्रदर्शन कर सकेगा?

(५) कुछ लोगों का कहना है कि यद्यपि इन योजनाओं में जन सहयोग का महत्व बतलाया जाता है, पर प्रत्येक योजना के संचालक बड़े बड़े अमरीकी कर्मचारियों के अतिरिक्त और कोई नहीं है।

(६) विकास की दिशा ही त्रुटिपूर्ण है। खाद, बीज इत्यादि इतनी महत्व पूर्ण बातें नहीं हैं जितनी कि चकबन्दी, भूमि हीन मजदूरों इत्यादि की समस्याएँ, जिनको सामुदायिक योजनाओं ने बिल्कुल छोड़ रखा है।

(७) छोटे मोटे विकास कार्यकर्ता जैसे ग्राम सेवक इत्यादि भ्रष्ट हैं और वे विकास कार्यों के लिए व्यय किये जाने वाले रुपये का दुरुपयोग करते हैं तथा गाँवों में किसानों को सीमेंट, अन्न, खाद अथवा अन्य इसी प्रकार की वस्तुएं दिलाने में पक्षपात से काम लेते हैं। इसी विभाग के प्रमुख पत्र 'कुरुक्षेत्र' के कुछ वाक्य उद्धृत करना कदाचित् अनुचित न होगा—

"सामुदायिक योजना क्षेत्रों के गैर सरकारी निरीक्षकों का यह अभिमत है कि वहाँ हुकूमत की वृत्ति अधिक है और जनसेवा कम। सामुदायिक योजना के कारण यह तो हुआ है कि जहाँ गाँवों में पहले अधिकारियों की संख्या बहुत कम थी, वहाँ अब काफी संख्या में अधिकारी पहुंच गये हैं, परन्तु उनके कारण गांवों की उन्नति हो रही है इसका कोई ठोस प्रमाण हमें नहीं मिलता। बल्कि उन्होंने गाँव की स्वायत्त शासन संस्था को भी छा लिया है। कहने के लिये तो २ हजार से ऊपर ब्लाक बन चुके हैं जिनका प्रसार २ लाख ७५ हजार गाँवों में और १४ करोड़ जनता के अन्दर है, परन्तु इसकी वास्तविकता क्या है? योजना के उपयुक्त हो या न हो, अफसरों की संख्या तो काफी है लेकिन जिन ग्राम सेवकों पर योजना का दारोमदार है उनकी संख्या कितनी है?— हर गाँव के पीछे एक ग्राम सेवक! उद्यम, अध्यवसाय, उत्साह, देश सेवा और ग्राम सेवा सब उसी ग्राम सेवक के लिये हैं। नतीजा क्या कि वह भी खानापूरी में लग जाता है और वह भी छोटा अफसर बन जाता है।"

उपसंहार

उपर्युक्त आलोचनायें कोई सार नहीं रखती हैं क्योंकि विकास कार्यक्रम एक या

दो वर्ष का नहीं अनेक वर्ष का होता है। यद्यपि इसकी कई गणमान्य व्यक्तियों जैसे आचार्य कृपलानी, विनोबा भावे इत्यादि तक ने कटु आलोचना की है तो भी शंका के लिए विशेष स्थान नहीं है, क्योंकि विकास का सभी कार्य स्वयं जनता द्वारा कराया जा रहा है। ये योजनाएँ अवश्य ही जन जागृति का शंखनाद फूंककर ग्राम्य क्षेत्रों के बहुमुखी विकास में सहायक होंगी। योजना का सञ्चालन विभिन्न स्तरों पर अनेक समितियों, जिनके सदस्य भारतीय नेता, मन्त्रीगण, सरकारी अफसर तथा जनता के प्रतिनिधि हैं, किया जा रहा है। 'प्रमुख योजना प्रशासक' जो एक अमरीकी हैं स्वतः योजना नहीं बनाता, योजना निर्माण में सलाहमात्र देता है। इस प्रकार हमें एक विकसित देश के अनुभवों से लाभ उठाने का अवसर मिलता है। जहाँ तक हमारी विदेशी नीति के अमरीका की वशवर्तिनी होने का प्रश्न है यह केवल भ्रान्ति है। हमारे प्रधान मन्त्री आत्म सम्मानपूर्ण विदेशी नीति का निबाह कर रहे हैं जिसमें किसी के आश्रय की गन्ध भी नहीं है। जहाँ तक सरकारी कर्मचारियों के भ्रष्टाचार का प्रश्न है, वह योजना का दोष नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त प्रत्येक योजना के परीक्षण काल में प्रारम्भिक दोषों का होना स्वाभाविक ही है। सत्य तो यह है कि अभी इन योजनाओं की शैशवावस्था ही है और इसलिए रचनात्मक दृष्टिकोण विकसित करने की आवश्यकता है। डा० राजेन्द्र प्रसाद ने ठीक ही कहा है—

"ये योजनाएँ ऐसे छोटे बीज की तरह हैं जो एक दिन विशाल वृक्ष में परिणित हो जायेंगी।"

अपने विशाल आकार और ग्रामीण भारत में बड़े पैमाने पर तब्दीलियाँ लाने के अपने मकसद की वजह से सामुदायिक विकास कार्यक्रम में कुछ हद तक प्रयोग करने और गलती होने की विशेषता का होना स्वाभाविक है। इस कार्यक्रम को भारत के असंख्य गाँवों में सामाजिक आर्थिक क्रान्ति लाने का एक गतिशील साधन मानने के उद्देश्य से प्रारम्भ से ही इसकी बार बार जाँच होती रही है और इसकी प्रगति पर तेज निगाह रखी गयी है। इस बात को ध्यान में रखकर ही उन क्रान्तिकारी परिवर्तनों पर विचार करना चाहिये, जिनका प्रस्ताव इस वर्ष सामुदायिक विकास के संशोधित कार्यक्रम में किया गया है। इस कार्यक्रम को सामुदायिक विकास सम्बन्धी केन्द्रीय समिति ने मन्जूर कर लिया है। यह बलवन्त राय मेहता कमेटी के मुख्य सुझावों पर आधारित है। इसमें आयोजन और विकास कार्यों को जल्द से जल्द विकेन्द्रित करने की कल्पना की गई है।

संशोधित कार्यक्रम में दो तब्दीलियाँ बड़ी ही महत्वपूर्ण हैं। उनका सम्बन्ध कार्यक्रम लागू करने के काल क्रम और पूँजी लगाने के पैमाने से है। संशोधित कार्यक्रम के मसविदे को अधिकांश राज्यों ने मन्जूर कर लिया है। मसविदे का लक्ष्य यह है

कि इस समय विकास कार्यों में तीन अवस्थाएँ—राष्ट्रीय विस्तार सेवा, गहन सामुदायिक विकास और उत्तर गहन अवस्था है, उनकी जगह पर पाँच पाँच साल की सिर्फ दो अवस्थाएँ रखी जावें। आशा की गई है कि ऐसा करने से विकास की गति तेज हो जावेगी, जो कि अभी तक बहुत सन्तोषप्रद नहीं रही है। प्रस्तावित अवस्थाओं में पहली गहन अवस्था होगी। इसके लिये बजट में १२ लाख रुपये की व्यवस्था की गयी है। दूसरी अवस्था के लिये ५ लाख रुपये खर्च करने का फैसला किया गया है। पुराने कार्यक्रम में पूँजी का कुल खर्च सिर्फ १२ लाख रुपये रखा गया था।

केन्द्रीय समिति ने कार्यक्रम को मन्जूर करते हुए खण्ड विकास कार्यक्रम में विकेन्द्रीकरण की अहमियत पर जोर दिया था और बलवन्त राय मेहता कमेटी का यह सुझाव मान लिया गया था कि खण्ड या जिला स्तर पर ऐसी नियमानुकूल संस्थाएँ स्थापित होनी चाहियें, जिन पर आयोजन और विकास की पूरी जिम्मेदारी हो। अब राज्यों से अनुरोध किया जाने वाला है कि वे अगले तीन वर्षों के भीतर इन नियमानुकूल संस्थाओं का निर्माण कर लें, ताकि पहली अवस्था खत्म होने से पहले उन पर काम शुरू हो जावे। कार्यक्रम के संशोधन में इस बात पर भी जोर दिया गया है कि देश में सामुदायिक विकास कार्यक्रम का जाल बिछा देने के लिये अप्रैल १९६१ की बजाय, अक्तूबर १९६३ कर दी जावे। लेकिन ये दोनों अवस्थाएँ दूसरी योजना में निश्चित किये गये २०० करोड़ रुपये की मौजूदा व्यवस्था से पूरी कर ली जावेंगी। कार्यक्रम पूरा करने की तारीख टाल देने से एक यह फायदा होगा कि इस समय प्रशिक्षित कर्मचारियों की जो कमी है वह दूर हो जावेगी। उससे दूसरा फायदा यह होगा कि साधारण योग्यता वाले कर्मचारियों की भर्ती करने की जरूरत नहीं पड़ेगी, जिससे कार्यक्रम में काफी मजबूती आ जावेगी।

वास्तव में ये योजनाएं भारतीय ग्रामीणों के जीवन में नव ज्योति, नवीन चेतना एवं स्वर्णिम प्रभात का संदेश हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये योजनाएँ थोड़े ही समय में राष्ट्र के पददलित ग्रामीण जीवन में क्रान्तिकारी आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनैतिक परिवर्तन कर देंगी। पंडित जवाहर लाल नेहरू के शब्दों में—

"समस्त भारत में मानव क्रियाओं के ये केन्द्र ऐसे ज्योति स्तम्भ हैं जो घने अन्धकार में प्रकाश फैला रहे हैं। यह प्रकाश उस समय तक फैलता रहेगा जब तक समस्त भारत भूमि आलोकित न हो उठे।"

१३

मूल्यों का स्थिरीकरण

(Price Stabilisation)

हमारे देश के किसानों का जीवन स्तर अत्यन्त निम्न कोटि का है। अनन्त परिश्रम करने पर भी उनको भुखमरी से मरना पड़ता है तथा अर्द्ध नग्न रह कर जाड़े में ठिठुरना एवं गर्मी में गरम लू की लपटें सहन करना पड़ता है। कृषि उनके लिये उद्यम नहीं वरन् उत्साहहीन जीवन यापन करने का एक मात्र साधन ही है। उनके पास सामान्यतः एक अल्प कृषि भूमि मात्र ही है, उसी पर अपने दासतापूर्ण औजारों तथा भूखे निर्बल बैलों एवं अपने अथक परिश्रम के सहारे वे जो कुछ भी पैदा कर लेते हैं उसी पर उन्हें और उनके आश्रितों को निर्वाह करना पड़ता है। उन्हें कृषि कार्य की चाह नहीं वरन् मजबूरन कार्य करना ही पड़ता है। इस दयनीय दशा का एक मात्र कारण यह है कि उनको अपने परिश्रम एवं पूँजी व्यय का उचित पारितोषिक (Reward) नहीं मिल पाता।

डा० एन० रामस्वामी के शब्दों में—

"अनिश्चित मानसून और क्रूर मूल्य व्यवस्था के बीच भारतीय कृषक आर्थिक संकट के दलदल में नीचे ही धसता गया।"

कृषक निर्धन हैं, अशिक्षित तथा असहाय हैं। वे अपने उत्पादन की लागत निकालना नहीं जानते और जानते भी हैं तो निकालना बेकार समझते हैं क्योंकि वे समझते हैं कि कृषि वस्तुओं का मूल्य अनेक ऐसी परिस्थितियों पर निर्भर होता है जिन पर उनका कोई वश नहीं चल सकता। उत्पादन लागत मूल्य निकले या न निकले उन्हें तो उसे बेचना ही है क्योंकि ऐसा न करने पर उनके जीवन या मरण का प्रश्न उपस्थित हो जाता है। अन्य उद्योगों में उत्पादक अपने लागत व्यय के ऊपर कुछ प्रतिशत मुनाफा लेकर ही अपनी वस्तुओं को बेचता है परन्तु कृषि-वस्तुओं में प्रायः ऐसा सम्भव नहीं होता।

हमारे देश के कृषकों के द्वारा उत्पादित वस्तुओं का मूल्य नगरों के व्यापारियों और मध्यस्थों के द्वारा निर्धारित किया जाता है। ये अपने लाभ को ही दृष्टिकोण में

रखकर निरीह कृषकों का शोषण करने पर ही तुले रहते हैं। कृषक एवं उपभोक्ता के बीच सीधा सम्बन्ध न होने के कारण कृषि वस्तुओं के मूल्य माँग और पूर्ति के नियमों के अनुसार निर्धारित नहीं हो पाते। यहाँ तो यदि कृषि वस्तुओं के मूल्य नीचे गिरते हैं तो निरीह एवं भोले-भाले कृषक काल, धर्म तथा ईश्वर के मत्थे दोष मढ़ देते हैं और जी तोड़ कर अधिक परिश्रम करते हैं जिससे कि उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति भर को पर्याप्त धन मिल सके। परिणाम उल्टा होता है। एक ओर तो उत्पादन के ह्रास का नियम लागू होने के कारण लागत व्यय बढ़ता जाता है और दूसरी ओर उत्पादन बढ़ने से मूल्य और भी कम हो जाते हैं। युद्ध इत्यादि कारणों से यदि मूल्य बढ़े तो हमारे देश के किसान हाथ पर हाथ रखकर बैठ जाते हैं और थोड़े से ही लाभ में सन्तोष की साँस लेने लगते हैं। अकर्मण्यता के कारण ये उन बढ़े हुए मूल्यों का पूरा लाभ नहीं उठा पाते। जो कुछ लाभ प्राप्त भी होता है उसे मुकदमे, ब्याह, ब्रह्मभोज इत्यादि अनुत्पादक कार्यों में व्यय कर डालते हैं। अतः हमारे देश में कृषि वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि होने से भी कृषकों की दशा में अच्छाई की ओर कोई परिवर्तन नहीं होता है। अपने देश की आर्थिक दशा को सुधारने के लिए कृषि और कृषकों की दशा में सुधार होना अत्यन्त आवश्यक है। अतः जब तक कि कृषकों को अपने श्रम एवं पूँजी के बदले उचित तथा पर्याप्त पारितोषिक नहीं मिल पायगा तब तक उनकी दशा में कोई स्थायी सुधार की सम्भावना नहीं हो सकती। कृषि मूल्य जब तक स्थिर नहीं किये जायेंगे तथा कृषि वस्तुओं के विपणन की कठिनाइयाँ दूर नहीं की जायगी तब तक न तो उनका शोषण ही समाप्त किया जा सकता है और न उपभोक्ताओं को उचित मूल्य पर खाद्यान्न तथा अन्यान्य कृषि वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं।

आर्थिक लाभ—कृषि-वस्तुओं के मूल्य का स्थिरीकरण करने से निम्नलिखित आर्थिक लाभ प्राप्त हो सकेंगे—

(क) कृषक इस बात का प्रयत्न करने लग जायेंगे कि उनका उत्पादन व्यय कम से कम हो जिससे उनको अधिक लाभ प्राप्त हो सके।

(ख) कृषकों का शोषण सम्भव न हो सकेगा तथा मध्यस्थों को लाभ कम होने के कारण वे भी विलीन हो जायेंगे।

(ग) कृषकों के जीवन स्तर (Standard of Living) में आकस्मिक परिवर्तन न हो सकेगा जिससे कि उनका जीवन स्तर स्थिर रहेगा।

(घ) कृषि वस्तुओं की विपणन सम्बन्धी कठिनाइयाँ बहुत कुछ दूर हो जायँगी।

(ङ) मूल्य इस स्तर पर स्थिर किये जायँगे जिस पर न तो कृषकों में अकर्मण्यता एवं आलस्य की भावना ही आ पावेगी और न उनको अनुत्पादक घोर परिश्रम ही करना पड़ेगा।

(च) कृषि से ही लगभग समस्त उद्योगों को कच्चा माल प्राप्त होता है। उनके मूल्य में स्थिरीकरण हो जाने पर अन्य उद्योगों की वस्तुओं का लागत व्यय भी स्थिर एवं निश्चित हो सकेगा तथा इसका प्रभाव अन्य वस्तुओं के मूल्य पर भी अच्छा पड़ेगा।

(छ) कृषि वस्तुओं के मूल्य स्थिरीकरण करने से सम्पूर्ण देश को आर्थिक लाभ होगा तथा राष्ट्रीय आय (National Income) में वृद्धि होगी।

(ज) कृषकों को उचित पारितोषिक मिलने के कारण एक सम एवं न्यायपूर्ण वितरण से युक्त खुशहाल समाज का संगठन हो सकेगा।

(झ) उपभोक्ताओं को निश्चित एवं उचित मूल्य पर कृषि पदार्थ प्राप्त हो सकेंगे तथा उनके जीवन स्तर में भी इस स्थिरीकरण का अच्छा प्रभाव पड़ेगा।

(ञ) आधुनिक आर्थिक समाज में द्रव्य के मूल्य में अस्थिरीकरण होने से आकस्मिक तथा कष्टकारी परिवर्तन होते हैं। द्रव्य मूल्य के स्थिरीकरण में भी कृषि वस्तुओं के मूल्य स्थिरीकरण का अच्छा प्रभाव पड़ेगा।

मूल्यों की गति का ऐतिहासिक सिंहावलोकन

हमारे देश में औद्योगिक क्रान्ति के प्रभावों के फलस्वरूप, जनसंख्या वृद्धि, अकाल तथा प्राकृतिक दुर्घटनाओं, कृषि का व्यापारीकरण एवं अन्तर्राष्ट्रीयकरण तथा यातायात के साधनों की वृद्धि इत्यादि कारणों से कृषि पदार्थों के मूल्यों में अत्यधिक वृद्धि हुई। सर्वप्रथम सन् १६१३ के बाद से कृषि पदार्थों के मूल्य सम्बन्धी आँकड़े एकत्रित किए जाने लगे। निम्नांकित तालिका से तत्कालीन कुछ वर्षों के मूल्यों की गति का अनुमान किया जा सकता है।

थोक विक्रय मूल्य निदेशांक
(Wholesale Price Index Nos.)

आधारीय वर्ष (Base Year) जुलाई १६१४ ई० = १००

वर्ष संख्या	बम्बई	कलकत्ता
१६१४	१००	१००
१६२०		२०१
१६२१	१६८	१७६
१६३३	६८	८७
१६३६	६६	६१
१६३७	१०६	१०२
१६३८	१०१	६५
१६३६	१०६	१०८

उपरोक्त तालिका के निरीक्षण करने पर पता लगता है कि हमारे देश में कृषि मूल्यों में कितनी अस्थिरता रही। सन् १६२६ में विश्वव्यापी मन्दी का दौर-दौरा प्रारम्भ हुआ। हमारे देश पर इसका बड़ा बुरा असर पड़ा। कृषि वस्तुओं के मूल्यों में बहुत कमी हो गई। औद्योगिक कृषि वस्तुओं के मूल्य खाद्यान्नों की अपेक्षा बहुत नीचे गिर गये। अन्य औद्योगिक देश भारत की अपेक्षा इतनी बुरी तरह नहीं प्रभावित हुये क्योंकि वहाँ पर उद्योग विकसित थे। हमारे देश में उद्योगों का अभाव था। कुटीर उद्योग निर्बल तथा विनिष्ट हो चुके थे। परिणामस्वरूप ग्रामीण क्षेत्रों में त्राहि त्राहि मच गई। ग्रामीण जनता की क्रय शक्ति में ह्रास तथा मूल्यों की गिरावट के कारण जो कुछ उद्योग चल रहे थे वे भी बन्द होने लगे। बहुत से बैंकों तथा महाजनों का दिवाला पिट गया। कृषि वस्तुओं के मूल्यों में गिरावट का कुप्रभाव ग्रामीण जनता अथवा कृषकों की दरिद्रता, भुखमरी तथा असहायता के रूप में प्रकट हुआ। सम्पूर्ण देश की अर्द्ध विकसित आर्थिक व्यवस्था की नींव को एक जबरदस्त धक्का लगा। सम्पूर्ण आर्थिक व सामाजिक जीवन अस्त-व्यवस्त हो गया। सन् १६३४ तक आर्थिक मन्दी के निर्दयी दानव के द्वारा सम्पूर्ण भारतीय जनता त्रस्त एवं दुखी होती रही। उसके उपरान्त धीरे धीरे कृषि मूल्यों में वृद्धि होना प्रारम्भ हुआ परन्तु यह परिवर्तन न के बराबर रहा। फिर भी पिछले वर्षों की अपेक्षा सन् १६३६ में मूल्य स्तर पर्याप्त ऊँचा रहा।

द्वितीय महायुद्ध काल—द्वितीय महायुद्ध की घोषणा सन् १६३६ में हुई और कृषि वस्तुओं के मूल्य बढ़ने की ओर अग्रसर होने लगे। सन् १६४१ से मूल्यों में निरन्तर वृद्धि होने लगी। युद्धकाल में मूल्यों के बढ़ने के कतिपय निम्नलिखित कारण थे—

(क) युद्ध की अफवाहें और सट्टेबाजी में वृद्धि।

(ख) भारतीय बाजार में इंगलैंड की सरकार द्वारा युद्ध सामग्री तथा खाद्यान्न इत्यादि का खरीदा जाना।

(ग) जापान, चीन व ब्रह्मा से खाद्यान्न आयात का बन्द हो जाना।

(घ) यातायात के साधनों का अभाव और कठिनाइयाँ।

(ङ) मुद्रा स्फीति का होना।

(च) कृषि-पदार्थों का व्यापारियों, किसानों तथा सरकार द्वारा संग्रह किया जाना।

(छ) चोरबाजारी, घूसखोरी का बोलबाला तथा सरकारी मूल्य नियन्त्रण नीति की शिथिलता और अयोग्यता।

(ज) बढ़ती हुई जनसंख्या की बढ़ती हुई माँग।

उपरोक्त सभी कारणों का प्रभाव यह हुआ कि मूल्य स्तर में काफी वृद्धि हुई और जनता को अन्न वस्त्र के अभाव तथा बढ़े हुए मूल्यों के कारण बहुत कष्ट उठाने पड़े। जिस प्रकार आर्थिक मन्दी के समय मूल्यों में गिरावट के कारण कठिनाइयाँ उपस्थित हुई थीं उसी प्रकार बढ़े हुए मूल्यों के कारण उपभोक्ता वर्ग में त्राहि त्राहि मच गई। सन् १६४३ ई० में जन आन्दोलन तथा स्थिति की गम्भीरता से प्रभावित होकर सरकार ने मूल्य निर्धारण तथा नियन्त्रण के प्रयास करना प्रारम्भ किये।

युद्धकाल में मूल्यों की वृद्धि का अनुमान निम्नलिखित तालिका से लगाया जा सकता है।

निर्देशांक (आधारीय वर्ष १६३६ = १००)

वर्ष Year	कृषि पदार्थ Agricultural Commodities	सामान्य General
१६३६–४०	१२७ ५	१२५·६
१६४०–४१	१०८ ६	११४ ८
१६४१–४२	१२४ २	१३७·०
१६४२–४३	१६६ ७	१७१·०
१६४३–४४	२६८ ७	२३६ ४
१६४४–४५	२६५·४	२४४ १
१६४५–४६	२७२ ६	२४४ ६
१६४६–४७	३१८ ८	२७५ ४

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट प्रकट होता है कि युद्धकाल में निरन्तर मूल्यों में वृद्धि होती गई और यह भी प्रकट होता है कि किस प्रकार कृषि-पदार्थों के मूल्य सामान्य निर्देशांकों को प्रभावित करते रहे। कृषि-वस्तुओं के मूल्यों का बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध सम्पूर्ण देश के मूल्य-स्तर से है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि सम्पूर्ण देश के मूल्य-स्तर के स्थिरीकरण के लिए कृषि पदार्थों के मूल्यों का स्थिरीकरण अत्यन्त आवश्यक ही नहीं वरन् अनिवार्य है।

युद्धोपरान्त का काल—युद्ध समाप्त हुआ परन्तु मूल्य निरन्तर वृद्धि की ओर ही अग्रसर होते रहे। द्वितीय महायुद्ध काल में भी मूल्य वृद्धि के कारण ज्यों के त्यों प्रभावशाली बने ही रहे साथ ही कुछ अन्य कारण भी उपस्थित हो गये। देश की

स्वतन्त्रता के साथ-साथ देश का विभाजन भी हुआ। फलस्वरूप पर्याप्त उपद्रव उपस्थित हो गया। तूफानी आर्थिक सागर में बड़े बड़े भयकर उथल पुथल प्रारम्भ हो गये। हमारे देश को कम आर्थिक साधनों के द्वारा बहुत बड़ी जनसख्या का भरण पोषण करने की समस्या उपस्थित हो गई। लाखों की सख्या में शरणार्थियों को शरण देने की समस्या ने हमारे देश की युद्धकालीन समस्याओं के द्वारा जर्जरित आर्थिक ढाँचे को झकझोर डाला। जो कुछ उत्पादन में वृद्धि अधिक अन्न उपजाओ इत्यादि योजनाओं के द्वारा हुई थी वह सब विलीन हो गई। खाद्य सकट उपस्थित हुआ तथा मूल्यों में वृद्धि की सीमा न रह गई।

निम्नांकित तालिका से मूल्य वृद्धि का कुछ अन्दाजा लगाया जा सकता है।

थोक मूल्य निर्देशाक आधारीय वर्ष सन् १९३९ = १००

वर्ष	खाद्य पदार्थ	कच्चा औद्योगिक माल	सामान्य
१९४७–४८	३०६	३७८	३०८.२
१९४८–४९	३८३	४४५	३७६ ९
१९४९–५०	३९१	४७२	२८५.४
१९५०–५१	४१६	५२३	४०९ ७
१९५१–५२	३९९ १	५७४.१	४३३ १
आधारीय वर्ष—१९५२-५३ = १००			
१९५४–५५	९४ ६	१०१ ९	९७ ५
१९५५–५६	८६ ६	९९ १	९१ ४
१९५६–५७	१०२ २	१०६ ०	१०५·२
१९५७–५८	१०६ ४	११६ ५	१०८·४
दिसम्बर १९५८	११७ ९	११६ ५	११४ ४

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि कृषि पदार्थों के मूल्यों में अब भी वृद्धि हो रही है। सन् १९५९ में भी मूल्यों की प्रगति वृद्धि ही की ओर है। उत्तरी भारत के पूर्वी प्रदेशों में वर्षा के अभाव तथा अन्य प्राकृतिक उपद्रवों के कारण खाद्यान्नों का अभाव हो गया है। इस वर्ष सन् १९५९ में तो खाद्यान्न के मूल्यों में और भी अधिक वृद्धि हो गई है। खाद्य सकट की समस्या ने इस वर्ष अति उग्र रूप धारण करके, भारत की द्वितीय पचवर्षीय योजना को और भी जटिल बना दिया है। समाचार पत्रों ने पूर्वीय क्षेत्र के लोगों की दयनीय दशा का वर्णन करते हुए लिखा है कि बहुत से लोग वृक्षों की पत्तियाँ खा खाकर अपने जीवन की रक्षा करने पर मजबूर हो गए हैं।

प्रथम पञ्चवर्षीय योजना मे हुई खाद्यान्नों के उत्पादन की वृद्धि बढ़ती हुई जनसंख्या, बेकारी, प्राकृतिक उपद्रव तथा अन्न वितरण की मशीनरी में शिथिलता इत्यादि कारणों से प्रभावहीन हो गई है। मूल्यों मे गिरावट की कोई आशा दृष्टिगोचर नहीं हो रही है। हमारी राष्ट्रीय सरकार इस समस्या की ओर जागरूक है तथा सकट निवारण के लिए भरसक प्रयत्न कर रही है।

श्री अशोक मेहता की अध्यक्षता में सरकार ने सन् १६५७ में "खाद्यान्न जाँच समिति" की नियुक्ति की थी जिसने अपने प्रतिवेदन में स्पष्ट रूप से सुझाव दिया है कि अनाज के मूल्यों मे स्थिरता लाने के लिए ठोस कदम उठाना अत्यन्त आवश्यक है। इस दृष्टि से समिति ने एक उच्च अधिकारप्राप्त "मूल्य स्थिरता बोर्ड" (Price Stabilization Board) स्थापित करने का सुझाव दिया है। यह बोर्ड सामान्य रूप से भाव स्थिरीकरण के सम्बन्ध मे अपनी नीति निर्धारण करने के साथ साथ उसे समय समय पर लागू करने के लिए कार्यक्रम निश्चित करेगा। सरकार को खाद्यान्नों के मूल्यों में होने वाले परिवर्तनों का पता लगता रहे, इसके लिए एक अलग से "मूल्य सूचना विभाग" स्थापित करने की भी सलाह समिति ने दी है।

सन् १६५८ में सरकार द्वारा अनाज के थोक व्यापार के राष्ट्रीयकरण एव नियन्त्रण की घोषणा मूल्यों के स्थिरीकरण की दिशा में निश्चय ही एक सराहनीय कदम है। इस नीति का मूल उद्देश्य ही कृषि पदार्थों के मूल्यों में ऐसी स्थिरता लाना है जिससे उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं दोनों को ही उचित दर पर खाद्यान्न सुलभ हो जायें।

उचित मूल्य निश्चित करके उसको देश में लागू करने के लिए यह आवश्यक है कि सरकार निश्चित मूल्य पर बाजार में वस्तुएँ खरीदने एव बेचने के लिए तैयार रहे। सहकारी विक्रय समितियाँ भी इस दिशा मे प्रशसनीय कार्य कर सकती हैं। सन् १६५८ म खाद्यान्न के मूल्यों की वृद्धि रोकने के लिए सरकार ने सस्ते गल्ले की दूकानों की व्यवस्था विभिन्न स्थानों पर की है। परन्तु समस्त खाद्यान्न की माँग को पूरा करना सरकार की सामर्थ्य के बाहर है और इसके कारण सरकार की इस नीति का खाद्यान्न के मूल्यो पर कुछ भी प्रभाव न पड़ना स्वाभाविक ही है। व्यापारी वर्ग पर बिना नियन्त्रण के खाद्यान्न के मूल्यों की समस्या का समाधान कदाचित् असम्भव सा प्रतीत होता है। ऐसी दशा में एक केन्द्रीय सस्था की स्थापना, जो उत्पादन एव वितरण पर नियत्रण रक्खे और खाद्यान्नों का आर्थिक स्थिति के अनुसार मूल्य स्थिर करे, अत्यन्त आवश्यक है। समठित बाजारो की स्थापना भी इस दिशा म काफ़ी सहायक सिद्ध हो सकती है। आज खाद्यान्न के मूल्यों म वृद्धि का मूल कारण व्यापारियों द्वारा खाद्यान्न का अनुचित सग्रह है। इस पर भी नियत्रण आवश्यक है। बिना इसके सरकार द्वारा मूल्य स्थिरीकरण के अन्य प्रयत्न सफल हो सकें, इसम किंचित सन्देह है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि आर्थिक पुनर्निकाय की सफलता तथा आर्थिक समृद्धि के लिए कृषि वस्तुओं के मूल्यों का स्थिरीकरण अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं आवश्यक है। मूल्य स्थिरीकरण के द्वारा हम अपने किसानों के साथ न्याय कर सकते हैं और उनको उचित पारिश्रमिक प्रदान करके उन्हें खुशहाल बना सकते हैं और दूसरी ओर उपभोक्ताओं के रहन सहन के स्तर में आशातीत वृद्धि कर सकते हैं। आज खाद्यान्न के बढ़ते हुए मूल्यों के फलस्वरूप जनता में असतोष की भावना व्याप्त है। असतोष ही क्रान्ति की जननी है। ऐसे समय में इन मूल्यों में स्थिरता लाना देश की शांति, सुरक्षा एवं आर्थिक प्रगति के लिए नितान्त आवश्यक है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना की सफलता भी खाद्यान्न के मूल्यों की स्थिरता पर ही निर्भर है। वास्तव में ये बढ़ते हुए मूल्य द्वितीय योजना के लिए चुनौती हैं। मध्य वर्ग की समृद्धि और खुशहाली ही नहीं, लोकतन्त्र एवं स्वतन्त्र समाज का भविष्य भी आज खतरे में है। मूल्यों का स्थिरीकरण देश के आर्थिक ढाचे को स्थायी एवं दृढ़ बनाने के लिए और उपभोक्ताओं के जीवन स्तर को ऊँचा बनाये रखने के लिए नितान्त आवश्यक है। बिना इसके देश के आर्थिक विकास की योजनाओं की सफलता शीघ्र नहीं हो सकती।



१४

कुटीर उद्योग-धन्धे

(Cottage Industries)

छोटे पैमाने पर चलाये जाने वाले उन उद्योगों को ही 'कुटीर उद्योग' कहते हैं जिनमें कोई व्यक्ति स्वय ही साधारण औजारों की सहायता से काम करता है। ऐसे उद्योगों में अधिकतर मालिक स्वय अपने घर के सदस्यों की सहायता से ही काम करता है और मजदूरी पर कार्य करने वाले श्रमिकों की सख्या बहुत सीमित होती है। किन्तु कुटीर उद्योग म मशीनों तथा चालक शक्ति का सर्वथा अभाव होना आर्थिक दृष्टि से वाछनीय नहीं है। ये कुटीर उद्योग तभी देश की भावी आर्थिक व्यवस्था में पूर्ण स्थान रख सकते हैं जब कि उनमे एक सीमा तक चालक शक्ति तथा मशीनों का प्रयोग किया जा सके। लघु उद्योग वे हैं जिनमें सामान्यत १० से ५० व्यक्ति तक काम करते हैं। इनमें पारिश्रमिक पर श्रमिकों को रखा जाता है और मशीनों से भी कार्य किया जाता है तथा बिजली की शक्ति प्रयोग म लाई जाती है। इनम अक्सर वर्ष भर काम चलता रहता है।

महत्व

भारतीय अर्थ व्यवस्था मे कुटीर उद्योग धधों का क्या महत्व है, यह बतलाना वास्तव में सूर्य के सम्मुख दीपक दिखाना है। महात्मा गाधी के शब्दों में—

"भारत का मोक्ष उसके कुटीर-उद्योगों में ही निहित है।"

भारत कृषि प्रधान देश है और इसीलिए भारतीय अर्थ व्यवस्था में गाँवों की आर्थिक सम्पन्नता एव कृषि विकास का महत्वपूर्ण स्थान है। भारत में कृषक वर्ष में लगभग ५ महीने बेकार रहता है। भारतीय कृषि वर्षा पर निर्भर है और भूमि की उर्वरा शक्ति क्षीण हो जाने के कारण उत्पादन भी कम होता है जिसके परिणाम स्वरूप भारतीय किसान की आर्थिक दशा अत्यन्त शोचनीय है। वर्षा के अभाव में या अन्य कारणों से अकाल पड़ने पर किसानों की दशा और भी शोचनीय हो जाती है। अकाल पड़ने पर आमदनी के अन्य साधन न होने के कारण किसानों को काल के गाल में जाना पड़ता है। कुटीर उद्योग-धधों के होने पर किसान न केवल अपने खाली समय का सदुपयोग करके अपनी आर्थिक स्थिति दृढ कर सकता है वरन् सकट

के समय अपने को भुखमरी से बचा सकता है। सच तो यह है कि कुटीर उद्योग भारतीय किसानों के आर्थिक धनुष की दूसरी डोरी का कार्य करेंगे।[1] किसानों की आर्थिक सम्पन्नता के कारण कृषि का विकास एवं उत्पादन में वृद्धि होना स्वाभाविक ही है। कुटीर उद्योगों का महत्व निम्न दृष्टिकोण से और भी अधिक बढ़ जाता है—

इन उद्योगों से भारत की बहुत बड़ी संख्या को काम व जीविका प्राप्त होती है। सन् १९३१ में भारत के समस्त औद्योगिक मजदूरों में ८५% मजदूर कुटीर उद्योगों में लगे थे।

कुटीर उद्योगों के विकास से बेकारी की समस्या बहुत कुछ हल हो सकती है। मिल उद्योगों में करीब ३९ लाख अर्थात् १% व्यक्ति ही खप सकते हैं। भावी विकास का अनुमान करते हुए अधिकाधिक इतने ही व्यक्ति और खप जायेंगे। फिर भी बेकारी की समस्या का समाधान न हो सकेगा। किन्तु यदि देश भर में कुटीर उद्योग फैला दिये जायें तो यह समस्या काफी हद तक सुलझ सकती है।

गाँवों की आर्थिक व्यवस्था में इनका महत्व इसलिए भी है कि ये किसान के लिये अतिरिक्त आय के साधन बन सकते हैं और उसके बेकारी या अर्द्ध बेकारी के चार-पाँच महीनों में काम प्रदान कर सकते हैं।

कुटीर उद्योगों के विकास से देश की आर्थिक विषमता कम की जा सकती है। मिल उद्योगों के कारण एक ओर दरिद्रता का अट्टहास एवं दूसरी ओर भोग-विलास और अपरिमित वैभव देखने में आता है। कुटीर उद्योगों के फैलाव से धन के वितरण में समानता लाई जा सकती है क्योंकि बेकारी दूर होने से प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये पर्याप्त धन मिलेगा तथा किसी व्यक्ति विशेष को अधिक धन संग्रह करने का अवसर न रहेगा। शोषण की संभावना भी न रहेगी।

उद्योगों के केन्द्रीयकरण से अनेक प्रकार की समस्याएँ पैदा हो गई हैं, जैसे निवास स्थानों की कमी, नैतिक पतन, स्वस्थ वातावरण का अभाव इत्यादि। इसके अतिरिक्त शत्रु सरलतापूर्वक बम-वर्षा द्वारा उद्योगों को नष्ट कर सकते हैं। कुटीर-उद्योगों के स्थापित करने से केन्द्रीयकरण के दोष दूर हो जायेंगे। कानपुर, बम्बई, कलकत्ता जैसे शहरों की मजदूर बस्तियों के नारकीय जीवन से मजदूरों को बचाया जा सकेगा। औद्योगीकरण के लाभ सारे देश पर समान रूप से बट जायेंगे, अर्थात् नगर ही धन की निधि न होकर गाँव भी धन वैभव से युक्त हो जायेंगे।

---

[1] Cottage industries will act as the second string to the bow of finanees of the agriculturists."

नैतिक दृष्टि से भी कुटीर उद्योगों का विकास अत्यन्त आवश्यक है। मशीनों ने जिस स्वार्थ परता एवं विद्वेष की भावना, असहयोग तथा कटुता का प्रसार किया है, उसको नष्ट करके सहानुभूति, भ्रातृभाव, पारस्परिक सहयोग एवं स्नेह के भावों का विकास करना कुटीर उद्योगों के विकास पर ही निर्भर है।

अधिकाधिक उत्पादन का प्रश्न भी आज देश के सामने है। उत्पादन के इस महान कार्य में कुटीर उद्योग भी सहयोग दे सकते हैं।

देश के विभाजन के कारण विस्थापितों की विकट समस्या उपस्थित हो गई है। उन्हें काम देने तथा समान रूप से देश में बसाने के लिये कुटीर उद्योग बहुत उपयुक्त हैं। कुछ दिनों की औद्योगिक शिक्षा देने के बाद उन्हें गाँवों में कुटीर उद्योगों की सुविधाएँ दी जायँ तो विस्थापितों की समस्या शीघ्र सुलझ सकती है।

विशेष परिस्थिति आ पड़ने पर कुटीर उद्योग बहुत लाभप्रद सिद्ध हो सकते हैं। उदाहरणार्थ द्वितीय महायुद्ध में कुटीर उद्योगों का कार्य सराहनीय रहा। उत्तर प्रदेश के शीशागरों ने फौज के लिये काँच का सामान बनाया, आगरा के संग-तराशों ने फौज के लिये परिचय पट्टक बनाये, मछली के जाल बनाने वालों ने फौज के लिये शत्रु से छिपाने वाले जाल बनाये तथा खिलौना बनाने वालों ने फौजी टोप बनाये।

कुटीर उद्योग मिल उद्योग के सहायक बन सकते हैं जैसा जापान में होता है। एक-एक भाग अलग अलग जगह में बनाकर किसी एक फैक्टरी में जोड़कर पूरी चीज तैयार करने की व्यवस्था भी की जा सकती है।

बड़े बड़े उद्योग तो पूँजीवाद को जन्म देते हैं क्योंकि इन उद्योगों से कुछ हाथों में ही द्रव्य केन्द्रित होता जाता है जिसके कारण शोषण, निर्धनता एवं धन के वितरण की समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। कुटीर उद्योग धधों से धन का समान वितरण होता है, शोषण का अन्त हो जाता है और धन का संग्रह कुछ व्यक्तियों में ही नहीं सीमित रहता है। वास्तव में कुटीर उद्योग-धन्धे साम्यवाद की चुनौती है और समाजवाद के जन्मदाता हैं। भारत आज अपना विकास समाजवाद के दृढ़ आधार पर कर रहा है। ऐसे समय में कुटीर उद्योग धधों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। वास्तव में 'कल्याणकारी राज्य' (Welfare State) की स्थापना में कुटीर उद्योग धधे ही मुख्य आधारशिला हैं। वास्तव में कुटीर उद्योग धन्धे भारत की सामाजिक क्रान्ति के बीज हैं जिनके बिना राम राज्य ऐसे वृक्ष की कल्पना नहीं की जा सकती जिसकी सुखद एवं शीतल छाया में भारतीय नागरिक सुख एवं शान्ति की नींद सो सकेंगे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आज भारत के कुटीर उद्योग-धन्धों का महत्व औद्योगीकरण में इतना है जितना सम्भवतः पहले नहीं था। बम्बई योजना में लिखा गया है—

"औद्योगिक संगठन हमारी योजना का एक महत्वपूर्ण भाग है। इसमें बड़े पैमाने के उद्योगों के साथ लघु प्रमाण एवं कुटीर धन्धों की समुचित योजना होनी चाहिये। यह इसलिये महत्वपूर्ण नहीं है कि वे रोजगार का साधन मात्र हैं, अपितु पूँजी की विशेषतः प्रारम्भिक स्थिति में बाहरी पूँजी की आवश्यकता कम करने के लिये भी आवश्यक है। ..... सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि आधारभूत उद्योगों में छोटी छोटी इकाइयों के लिये कम स्थान है, परन्तु उपभोग वस्तुओं के उत्पादन में उनकी उपयोगिता एवं महत्व अधिक है। इस क्षेत्र में उनका कार्य अधिकतर बड़ी इकाइयों के लिये सहायक होगा।"

प्रथम पञ्चवर्षीय योजना में भी कहा गया है—

"ग्रामीण विकास कार्यक्रम में कुटीर धन्धों का प्रमुख स्थान है।...... यदि कृषि को वैज्ञानिक करना है तो सम्पूर्ण देश के अतिरिक्त श्रमिकों को जो कुल संख्या के ⅓ हैं, काम देने का साधन खोजना होगा तथा ग्रामीण क्षेत्रों की विशाल मानवी एवं आर्थिक समस्याओं को सुलझाना होगा, इसलिये निकट भविष्य में कुटीर धंधों की आवश्यकता एवं महत्व सब से अधिक है, जिस पर जोर देना होगा।"

श्री गैडगिल के शब्दों में—

"आधारभूत एवं लघु प्रमाण धन्धों के विकास से ही आर्थिक विषमता का अन्त होगा।"

ग्राम उद्योगों के लिए स्थान

प्राय: यह प्रश्न पूछा जाता है कि क्या हमारी अर्थ व्यवस्था में खादी तथा ग्रामोद्योगों के लिये स्थायी स्थान है और क्या उन्हें आर्थिक सहायता सदैव मिलती रहनी चाहिये? जहाँ तक भविष्य के पर्दे में झाँककर देखा जा सकता है ये उद्योग उस आवश्यकता की पूर्ति करते हैं जो द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना की अवधि तक ही नहीं बनी रहेगी, वरन् ऐसी अनेक पञ्चवर्षीय अवधियों तक बनी रहेगी। हमारी अर्थ-व्यवस्था मुख्यतः ग्राम प्रधान अर्थ-व्यवस्था है जिसमें ग्रामीण उद्योगों के ह्रास के कारण सतत असंतुलन बना हुआ है। अतीत में इन उद्योगों के द्वारा इन कृषिजन्य तथा अन्य कच्चे माल का समुचित प्रयोग किया जा सका है जो ग्रामीण क्षेत्रों में उचित मात्रा में

उपलब्ध हैं। ये पूरक धंधे, सहायक उद्योग तथा ग्राम कलाएँ इस तरह से चलायी जा रही हैं जो हमारी ग्राम्य अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकताओं के लिये उपयुक्त हैं। इन उद्योग-धंधों में ग्रामों में ही निर्मित यंत्र तथा उपकरण प्रयोग करके पूरे समय तथा अवकाश के समय में काम किया जाता है। कोई भी राष्ट्र तब तक प्रगति नहीं कर सकता जब तक लोग उन उपयोगी उत्पादक कार्यों में न लगाये जा सकें जो उनकी आवश्यकताएँ अधिक से अधिक सीमा तक उनके अपने ही प्रयासों से पूरी करते हैं। इन्हीं उद्योगों द्वारा हम अपने ग्राम्य जीवन पर छाये अवसाद को दूर कर सकते हैं। जब ग्राम निवासियों को विविध आर्थिक उत्थान के अवसर सुलभ हो सकेंगे तभी हमारी राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था सुदृढ़ होगी।

बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण का विगत चार दशकों का अनुभव बतलाता है कि धन तथा आर्थिक शक्ति धीरे-धीरे कुछ व्यक्तियों के हाथ में जाकर इकट्ठी होती जाती है। शहरों की जनसंख्या दिनों दिन बढ़ती जाती है और इसके साथ ही साथ गंदी बस्तियाँ भी। नारकीय जीवन का प्रादुर्भाव होना इन परिस्थितियों में स्वाभाविक ही है। निश्चय ही ऐसी परिस्थितियों में विकेन्द्रीकृत उद्योगों की महान् आवश्यकता है। छोटे पैमाने पर उपभोग की वस्तुएँ बनाने वाले विकेन्द्रीकृत उद्योगों का विस्तार ही लाभ को अधिकाधिक लोगों में वितरित करने में सहायक हो सकता है और इस प्रकार धन के विषम-वितरण की समस्या का समाधान भी कुछ सीमा तक संभव हो जायेगा। विकेन्द्रीकृत आधार पर उत्पादन करने से जो सामाजिक लाभ होंगे वे केन्द्रीकृत आधार पर उत्पादन करने के वित्तीय लाभों से अधिक महत्वपूर्ण होंगे।

ऐतिहासिक मीमांसा एवं पतन के कारण

भारत बहुत प्राचीन समय से अपनी कला-कौशल और उद्योग धन्धों के लिये विख्यात रहा है। भारतीय औद्योगिक आयोग १६१८ ने लिखा है—

"जब यूरोप के उन देशों में, जो आज औद्योगिक विकास के नेता बने हैं, असभ्य जातियाँ निवास करती थीं, तब भारत अपने शासकों के अपार वैभव तथा कारीगरों की श्रेष्ठ कला के लिये प्रसिद्ध था।"

शताब्दियों तक गाँव की साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ग्रामीण कलाओं तथा दस्तकारियों के उद्योग, नगरों में राजदरबारों तथा धनी एवं समृद्धिशाली वर्गों के लिये और निर्यात के लिये भोग-विलास की सामग्रियों के अनेक उद्योग हमारे देश में पनपते रहे। सूती तथा रेशमी कपड़े, कशीदों के काम, ऊनी शालें तथा दरियाँ, धातु के काम, पत्थर नक्काशी, मीना के काम के आभूषण, हाथी दाँत के काम, जरी के काम, लाख और खिलौने के काम, अस्त्र शस्त्र तथा ढालों के बनाने

के काम, शाही कारखानों तथा दस्तकार संघ के आधीन दस्तकारों के घरों पर सुसंगठित थे। राजाओं तथा दरबारियों से उन्हें सदा प्रोत्साहन मिलता था तथा वे अपनी सुन्दरता और श्रेष्ठता के लिये सुदूर मिश्र, यूनान और बेबीलोन के बाजारों में प्रसिद्ध थ। भारतीय सूती वस्त्र उद्योग के सम्बन्ध में मुगलकालीन यात्री ट्रेवर्नियर लिखता है—

"भारत निर्मित वस्तुएँ इतनी सुन्दर थी कि वे तुम्हारे हाथ मे हैं यह ज्ञान किंचित ही होता था। वह अतीव कोमलता से काते गये तागो से बुना जाता था तथा १ पोंड रुई मे २५० मील लम्बा कपड़ा बुना जाता था।"

मिश्र में ईसा से २,००० वर्ष पूर्व के शव उच्च कोटि की भारतीय मलमल में लपेटे हुये पाये गये हैं। रोम में भारतीय माल की खपत बहुत होती थी और ढाका की मलमल से यूनानी परिचित थे, जिसे वे गंजेटिका कहते थे।

भारत के गौरव कुटीर उद्योग अंग्रेजी शासन के प्रारम्भ के साथ साथ क्रमश: अवनति की ओर अग्रसर होने लगे। महात्मा गाँधी के शब्दों मे—

"The cottage industry in India had to perish in order that Lancashire might flourish"

कुटीर उद्योग धन्धों की अवनति के कई कारण थे जिनका सक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है—

(१) नवाबों एवं राजाओं का अन्त—देशी शासक कुटीर उद्योगों की बनी वस्तुओं को प्रोत्साहन देते थे। राजधानियों में कितने ही ऐसे उद्योग चालू थे, जिनका अस्तित्व नवाबों और राजाओं के संरक्षण पर ही था। जब राजा, महाराजा, नवाब और उनके दरबारी न रहे तो अधिकांश कुटीर उद्योगों की वस्तुओं की माँग जाती रही। इस प्रकार ब्रिटिश राज्य की स्थापना के साथ साथ प्राचीन भारतीय शासकों का लोप होता गया जिसके फलस्वरूप कुटीर-उद्योगों के आश्रय, प्रोत्साहन एवं खपत का प्रधान स्रोत समाप्त हो गया।

(२) विदेशी सरकार की घातक नीति—देश में अँग्रेजी शासन के प्रारम्भ तथा ईस्ट इण्डिया कम्पनी की भारतीय उद्योग नीति से कुटीर उद्योगों को धक्का लगा। इस नीति को निर्धारित करते समय सरकार हमेशा अंग्रेजी उद्योग धन्धों के हितों को ध्यान में रखती थी। फल यह हुआ कि भारत के इन उद्योगों का क्रमशः ह्रास होने लगा। एक ओर तो सरकार ने भारत में जुलाहों, कारीगरों और शिल्पकारों को उत्पादन बन्द करने को बाध्य किया और यहाँ तक कि उनके अँगूठे भी कटवा लिए, दूसरी ओर इंगलैंड में जो भारतीय माल धड़ाधड़ आयात हो रहा था, उसको रोकने के लिए अनेक आयात कर लगाए गए और भारतीय वस्तुओं के उपभोग को एक कानूनी

अभियोग घोषित किया गया। यही नहीं भारत के ऊपर स्वार्थवश "स्वतन्त्र व्यापार" की नीति लादी गई। इसका प्रमाण ब्रिटिश ससद की सन् १८१३ की बहस से मिलता है। इसमें श्री टायर्न (Tierney) ने कहा था—

"हमारी आर्थिक नीति का यह सामान्य सिद्धान्त हो कि इङ्गलैण्ड का बना हुआ माल भारत मे बेचा जाय, जिसके बदले एक भी भारतीय वस्तु न ली जाय।"

कहने का तात्पर्य यह है कि मैनचेस्टर, लंकाशायर, शैफील्ड इत्यादि के उद्योग-धन्धों की उन्नति करने के उद्देश्य से अंग्रेजों ने भारत के सारे गौरवपूर्ण उद्योगों को जबरदस्ती गर्त में गिरा दिया। प्रोफेसर विल्सन लिखते हैं—

"यदि इस प्रकार के प्रतिरोधी कर का बन्धन विद्यमान न होता तो पैसले और मैनचेस्टर की मिलों का जन्म से ही गला घुट जाता और उन्हें वाष्प शक्ति से भी चलाना कठिन हो सकता था।"

(३) पाश्चात्य सभ्यता का प्रादुर्भाव—अंग्रेजों से सम्पर्क पड़ने पर लोगों के रहन सहन, पहनावे और रुचि में परिवर्तन आ गया, इसलिए भी प्राचीन कुटीर-उद्योगों की वस्तुओं की माँग कम हो गई। पश्चिमी ढग पर शिक्षित हुआ नया शिष्ट समाज पुरातन भारतीय गौरव को एकदम भूल गया। जैसा कि डा० एन्सेट का कहना है—

"भारत के धनी वर्ग ने योरोपीय फैशन को अपनाना शुरू कर दिया और या तो वे विदेशो से आयात की हुई वस्तुओ को खरीदते अथवा उन सस्ते देशी उत्पादनो से ही सतुष्ट हो जाते जो योरोपियनो को बेचे जाते थे। यदि इन्हीं को वे पहले अपने यहाँ से लेते, तो निश्चय ही नाक-भौं सिकोड़ते।"

इस पश्चिमी धुन से भारतीय कुटीर धन्धों की उत्पादन की माँग गिरने से उनकी अवनति हो गई।

(४) आवागमन के साधनो मे विकास एवं मशीन द्वारा निर्मित वस्तुओ से प्रतियोगिता—विदेशों, विशेषतः इङ्गलैण्ड से मशीन की बनी वस्तुओं के आयात का कुटीर उद्योगों पर बुरा प्रभाव पड़ा। मशीन की बनी वस्तुएँ सस्ती होती थीं, अत. कुटीर-उद्योग उनके समक्ष टिक न सका। रेलों के बन जाने से विदेशी माल देश के कोने-कोने तक पहुँचने लगा, इसलिए भी कुटीर-उद्योग की वस्तुओं के लिए खपत का स्थान नहीं रहा। औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप इङ्गलैंड में और भारत में मशीनों से सस्ती और एक आकार की वस्तुओं का निर्माण होने लगा, जिनके सामने हमारे छोटे उद्योग नहीं ठहर सकते थे। स्थल पर सड़कों और रेलों के बनाने से विदेशी माल देश के कोने-कोने में जाने लगा। गाँव के घरेलू धन्धे भी नगरों के शिल्प की

भाँति नष्ट होने लगे। इस देश में रेलों का निर्माण इतनी तीव्र गति से हुआ कि यहाँ के धन्धों को आकस्मिक धक्का लगा और कारीगरों को अन्य धन्धा अपनाने का अवसर ही नहीं मिला। अगर रेलों का विस्तार धीरे-धीरे होता और केवल विदेशी माल का ध्यान न रख कर यहाँ के धधों की उन्नति का ध्यान रखा गया होता तो हमारे शिल्पियों को विवश होकर खेतों पर निर्भर नहीं होना पड़ता। आवागमन के साधनों की उन्नति होने से जहाँ और देशों की आर्थिक दशा सुधरती है, वहाँ भारतवर्ष की दशा और भी बिगड़ने लगी। इसका कारण यह था कि इस देश में आवागमन के साधन इस देश की आर्थिक उन्नति को ध्यान में रखते हुए नहीं उन्नत किये गये। रेल, तार, डाक, सड़कें, जहाज सब का निर्माण और उनके संचालन की नीति एक ही थी, अर्थात् अंग्रेजी व्यापारिक माल की वृद्धि और वहाँ के तैयार माल को इस देश में खपाना।

(५) गाँव की स्वावलम्बिता का अन्त—वे गाँव जो पहले स्वावलम्भी थे, अर्थात् अपनी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं करते थे, अब विदेशी वस्तुओं का उपयोग करने लगे और गाँवों के कुटीर-उद्योग नष्ट हो चले।

इस प्रकार स्थानीय संरक्षण का अभाव, मशीन की प्रतिस्पर्धा, मुक्त व्यापार, और सरकार की उदासीनता ये सब ऐसे कारण थे जिन्होंने भारतीय उद्योगों को खत्म कर दिया और हमारे देश को एक तथाकथित 'कृषि प्रधान देश' बना दिया। इस कथन में कि 'ब्रिटेन की औद्योगिक क्रांति भारतीय सम्पत्ति के शोषण द्वारा ही सम्भव हुई है', कुछ अतिशयोक्ति अवश्य है, पर कुछ सच्चाई भी है।

वर्तमान परिस्थिति एवं समस्याएँ

वर्तमान परिस्थिति यह है कि कुटीर उद्योग अपनी प्राचीन गौरवपूर्ण अवस्था से बहुत दूर जा पड़े हैं। कुछ दस्तकारियाँ तो पूर्णतया मर ही गई हैं जैसे ढाका की मलमल का तो नाम-निशान ही नहीं मिलता। कुछ अन्य ऐसी हैं जो मृतप्राय दशा में हैं, जैसे हाथ कताई और कुछ अन्य ऐसे हैं जैसे बुनने के हाथ-कर्घे की जो हाल ही में पुनः साँस लेने लगे हैं। प्रो० राधाकमल मुकर्जी ने घरेलू दस्तकारियों की एक बहुत लम्बी सूची दी है जो अब भी देश के भिन्न-भिन्न भागों में पाई जाती हैं। उनमें से कुछ हैं—बनारस, इलाहाबाद और जौनपुर जिले में टोकरी बनाना, मलाबार और दक्षिण तथा पूर्वी बंगाल में रस्से बटना, चटाई बनाना, पत्तियाँ बनाना, आसाम में रेशम के कीड़े पालना; मेरठ, बदायूँ, मिर्जापुर, बोलपुर (बंगाल), चेन्नापटन (मैसूर) और कोंडापल्ले (मद्रास) में लाख और खिलौने बनाना, मुर्शिदाबाद, मालदा, मदूरा और भागलपुर में रेशम बुनना; मिर्जापुर और नदिया (बंगाल) में कलापूर्ण मिट्टी की मूर्तियाँ बनाना; तिन्नेवली (मद्रास) में लुङ्गियाँ और साड़ियाँ बनाना;

फतेहपुर और फिरोजाबाद में काँच की चूड़ियों का काम। डा० मुकर्जी उल्लेख करते हैं—

"प्रत्येक जिले में एक या अधिक गाँवों में सूती कपड़ा और रेशम की बुनाई होती है, सोने, चादी, तांबे, द्विधातु, बाँस, बेत और चमड़े का ऊँचे स्तर पर कला पूर्ण काम होता है। सारे देश भर में कर्घों पर कताई और बुनाई का काम होता है। साबुनसाजी का भी बहुत विस्तार के साथ काम किया जाता है।"

पर आज इन सभी उद्योगों के सामने कुछ कठिनाइयाँ हैं जिनके कारण ही इन उद्योगों का विकास अब तक सम्भव न हो सका है। इनमे से मुख्य निम्नलिखित हैं—

(१) कच्चे माल की प्राप्ति में कठिनाई—समय-समय पर उत्तम कच्चा माल उचित मूल्य पर प्राप्त नहीं हो पाता। बड़ी बड़ी कम्पनियों के एजेण्ट निर्यात तथा मिल उद्योगों के लिए पहले ही अधिकांश माल खरीद लेते हैं, अत. कारीगरों को घटिया माल से ही सन्तुष्ट रहना पड़ता है। प्राय. यह माल भी उन्हें नियमित रूप से तथा उचित मूल्य पर मिलना कठिन होता है।

कुटीर उद्योग के लिए कच्चे माल की पूर्ति के सम्बन्ध में सरकार को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये कि प्रत्येक कारीगर को उसकी उत्पादन शक्ति के अनुसार पर्याप्त कच्चा माल मिल सके। उदाहरणार्थ जुलाहों को उनकी आवश्यकताओं के अनुसार सूत मिले और मूल्य भी उचित हो। ऐसी सहकारी-समितियों के भी बनाने में सरकारी सहायता की आवश्यकता है, जो कारीगरों को आवश्यकता पड़ने पर ऋण तथा उचित मूल्य पर सामान दे सकें।

(२) पूँजी की कमी (Lack of Capital)—कारीगर स्वयं तो निर्धन हैं ही और उनको ऋण देने के लिए भी कोई समुचित व्यवस्था कहीं नहीं हो पाई है। बैंक उन्हें रुपया उधार नहीं देते तथा सहकारी समितियों का प्रचार अभी कारीगरों में नहीं के बराबर है। महाजन ही कर्ज प्राप्त करने का एक साधन है, अत. बेचारे कारीगरों का महाजन के द्वारा शोषण होता है। मजबूर होकर उन्हें अपना माल उसके हाथ कम मूल्य पर बेचना पड़ता है। कारीगरों की बैंक में कोई साख नहीं होती और न अभी उन्होंने सहकारी ऋण समितियों का ही संगठन पर्याप्त रूप से किया है। इस प्रकार आर्थिक सहायता के अभाव में देश के लघु उद्योगों को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ रहा है। बहुत से कारीगर तो वित्त के अभाव में अपने वंश परम्परागत उद्योगों को छोड़कर मिलों में मजदूर बनने के लिए विवश हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त लघु उद्योगों के पास मिश्रित पूँजी कम्पनियों की भांति पूँजी संग्रहीत करने के साधन भी

उपलब्ध नहीं होते, क्योंकि न तो इनके लिए 'शेयर-होल्डर' ही मिलना सरल है और न फिर बाजार ही। बम्बई आर्थिक एवं औद्योगिक जाँच समिति, १६४० ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है—

"लघु तथा मध्यम आकार के उद्योगों की जो लोकव्यापी समस्या है वह है वित्त की समस्या। ये अधिकांश में किसी एक व्यक्ति के अधिकार में अथवा साझीदारी में चलाये जाते हैं और उनके पास अपने औजारों की दशा सुधारने के लिए पर्याप्त धन नहीं होता। उनके पास कच्चे माल के खरीदने के लिए भी आवश्यक पूँजी नहीं होती और जब उन्हें बाहर से ऋण लेना पड़ता है, तो ऊँची ब्याज की दर देनी पड़ती है।"

सरकार को चाहिये कि कारीगरों को उनके धन्धों को उन्नत करने तथा उनमें सुधार करने के लिए रुपया उधार देने की उचित व्यवस्था करे। नये ढङ्ग के औजार कारीगरों को दे और उनसे तब तक किराया लेती रहे जब तक उनकी पूरी कीमत वसूल न हो जाय। इसके बाद वे कारीगरों के हो जायँ। कारीगरों में भी ऋण-सहकारी-समितियाँ खोली जायँ, जो ऋण प्राप्ति की व्यवस्था करें। किन्तु इस तरह बहुत समय लगेगा। अतः भारत के राज्य बैंक ने इस समस्या पर विचार करके 'पाईलट योजना' चालू की है जिसके अनुसार राज्य बैंक उद्योगों को लम्बी और मध्यम अवधि के लिए सस्ती दर पर ऋण प्रदान करेगा। यह पाईलट योजना आगरा, दिल्ली, लुधियाना, बम्बई, कोल्हापुर, सूरत, मद्रास, कोयम्बटूर तथा विजयवाड़ा में चालू की गई है।

(३) शिल्पियों की अशिक्षा, एवं अनुसन्धान व प्रशिक्षण की कठिनाई—वास्तव में भारतीय शिल्पियों की अकुशलता का मुख्य कारण उनकी अशिक्षा एवं अज्ञानता ही है। अशिक्षित होने के कारण ही वे अपनी निर्मित वस्तुओं का उचित विपणन नहीं कर पाते और न आधुनिक यन्त्रों से जानकारी रख पाते हैं। इस प्रकार एक ओर उनकी अकुशल उत्पादन प्रणाली के कारण वस्तुओं की लागत व्यय अधिक होती है और दूसरी ओर अज्ञानता के कारण विपणन में वस्तुएँ सस्ते मूल्य पर जाती हैं। अतः दोनों ही ओर से शिल्पियों को आर्थिक घाटा उठाना पड़ता है। शिल्पियों के पास अपने उद्योग में प्रशिक्षण पाने के लिए कोई साधन नहीं होते। देश में औद्योगिक शिक्षा के अभाव में अनुसन्धान में भी प्रगति नहीं हो सकी है। इसमें सन्देह नहीं है कि कुटीर उद्योगों की पिछड़ी हुई अवस्था का एक प्रमुख कारण यह भी है कि उनमें अनुसन्धान तथा प्रशिक्षण का अभाव है जिसकी वजह से ये उद्योग मिलों की स्पर्द्धा में नहीं ठहर पाते। अनुसन्धान द्वारा ऐसे औजारों का आविष्कार किया जा सकता है जो सस्ते, सरल और देश के अनुकूल हों, उत्पादन में वृद्धि हो और किस्म में सुधार हो। नई नई आधुनिक डिजाइनों के प्राप्त होने

पर कारीगर आधुनिक प्रकार की वस्तुओं का निर्माण कर सकने में समर्थ हो सकेगा और ऐसे माल की माँग में अवश्य वृद्धि होगी।

उपर्युक्त दोषों को दूर करने के लिए कारीगरों को प्राथमिक एवं औद्योगिक शिक्षा की व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक है। कुटीर-उद्योग अनुसन्धानशालाओं की स्थापना विभिन्न राज्यों में की जानी चाहिए।

(४) विपणन की व्यवस्था का अभाव (Lack of Marketing Organization)—कारीगरों की अपनी कोई संस्था नहीं, जो तैयार माल को बेचने में सहायक हो सके। उन्हें बाजार का भी उचित ज्ञान नहीं होता है। वह साधनहीन होता है और इसलिए परिस्थितिवश उचित-अनुचित मूल्य पर अपना माल बेच देने पर मजबूर होता है। बीच के आढ़ती दलाल, आढ़ती इत्यादि उसका शोषण करते हैं। बहुधा उसे अपना माल महाजन के हाथ बेचना पड़ता है, जो मनमाने दाम लगाता है। कारीगर असहाय और विवश होता है।

सरकार को बिक्री केन्द्र (Sales Depot) खोलने चाहिए। कारीगर अपना माल उस केन्द्र पर बेचें और उस केन्द्र से माल दुकानदारों को दिया जाय। कुछ सहकारी समितियाँ खोल कर कारीगरों को महाजन के चंगुल से छुड़ाने की व्यवस्था की जाय, ताकि वह स्वतन्त्रतापूर्वक माल खरीद व बेच सके। सरकार ऐसा भी प्रबन्ध करे कि बाजार में दलालों तथा आढ़तियों द्वारा कारीगर को परेशान करने वाली हरकतों पर अंकुश लगे।

(५) अकुशल उत्पादन प्रणाली—कारीगरों के औजार एवं उत्पादन के ढंग पुराने होते हैं तथा कार्य करने का समय भी समयानुकूल नहीं होता। परम्परा से वे जिस प्रणाली का प्रयोग करते चले आते हैं उसी पर चलते हैं। विज्ञान के विकास का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। फल यह होता है कि उनका तैयार माल बढ़िया तथा समय की रुचि के अनुकूल नहीं होता। उत्पादन की मात्रा भी बहुत कम रहती है।

इस समस्या का वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन किया जाना चाहिए। जापान, स्विट्‌जरलैंड तथा अन्य देशों में चालू नवीन प्रणालियों का अध्ययन करके अपने देश के धन्धों में उनका व्यापक प्रचार किया जाना चाहिए। इसके लिए प्रदर्शनियों का आयोजन किया जा सकता है। प्रत्येक उद्योग पर अनुसंधान किये जाएँ और अर्जित ज्ञान को समय-समय पर कारीगर तक पहुँचना चाहिए। इस कार्य में कारीगरों की सहकारी संस्थाओं तथा सरकार, दोनों का प्रयत्नशील रहना आवश्यक है।

(६) तैयार माल का निश्चित मापदंड (Standardisation)—कुटीर उद्योग द्वारा तैयार किये गये माल का कोई उचित मापदण्ड नहीं होता

अर्थात् कोई कारीगर उत्तम माल बनाता है तो दूसरा, दूसरी तरह का घटिया माल बनाता है और कम दाम पर बेचने लगता है। विवश होकर पहले कारीगर को भी सस्ता माल निकालना पड़ता है। परिणाम यह होता है कि माल घटिया होता है। जब तक एक सा माल न बनाया जाय तब तक कुटीर उद्योग, मिल उद्योग के सहायक नहीं हो सकते और उनमें ऐसा सम्पर्क स्थापित नहीं हो सकता जैसा कि जापान में है। वहाँ कुटीर उद्योग में किसी एक वस्तु के भिन्न-भिन्न भाग बनाये जाते हैं और अन्त में इस प्रकार भिन्न-भिन्न कारीगरों से प्राप्त पृथक पृथक अंशों को किसी एक फैक्ट्री में जोड़कर पूरी वस्तु बना ली जाती है।

अपने देश की सहकारी समितियों को इस समस्या की ओर ध्यान देना चाहिए और निश्चित माप की वस्तुएँ बनाने वाले लोगों से कारीगरों को परिचित करना चाहिए। सरकार भी इस कार्य में अपना हाथ बटा सकती है। जापान अथवा स्विटजरलैंड के ढङ्ग पर भारत में भी सहकारी समितियों द्वारा नियुक्त निपुण निरीक्षकों की सेवाओं का उपयोग कुटीर उद्योग के भी क्षेत्र में होना चाहिए। समितियों के यह निरीक्षक स्थान स्थान पर कारीगरों के काम की देख रेख करें और जिस कारीगर का माल नियत माप से गिरा हो, उसे निर्यात लाइसेन्स न दिये जायँ।

(७) मिल उद्योग से प्रतियोगिता (Competition of Mill made Goods)—मिल की बनी वस्तुएँ बड़े पैमाने पर तैयार होती हैं, और इसीलिये बाजार में माल की प्रचुरता हो जाती है, साथ ही यह सस्ती भी होती हैं। इसीलिये कुटीर उद्योग से बनी वस्तुएँ इनसे प्रतियोगिता नहीं कर सकतीं।

सरकार को चाहिये कि कुटीर उद्योगों को संरक्षण देने के ध्यान से एक ऐसी योजना बनाये जिससे मिल उद्योग एक विशिष्ट प्रकार की वस्तुएँ बनाये तथा कुटीर उद्योग द्वारा दूसरे प्रकार की वस्तुएँ तैयार हों। अथवा ऐसी व्यवस्था की जाय कि कुटीर उद्योगों तथा मिल उद्योगों में सहकारी सम्पर्क स्थापित हो सके। जापान की तरह दोनों उद्योग आपसी सहयोग द्वारा उत्पादन करें। स्विटज़रलैंड से जो घड़ियाँ यहाँ आती हैं उनके बनाने में वहाँ के कुटीर उद्योग का महत्वपूर्ण स्थान है। छोटे-छोटे पुर्जे तथा भाग अलग अलग स्थानों पर बनाये जाते हैं और पूरी घड़ी तैयार हो जाती है।

(८) संरक्षण (Protection)—भारत के कुटीर उद्योग द्वारा निर्मित वस्तुओं को विदेश से निर्यात किये गये सामान से भी मुकाबला करना पड़ता है। विदेशों के उद्योग धन्धे इतने बढ़े चढ़े हैं कि कुटीर उद्योगों का माल उनका मुकाबला नहीं कर सकता।

विदेशी माल से रक्षा करने के लिए सरकार को इन्हें संरक्षण देना चाहिये और बाहर से आने वाली वस्तुओं पर इतना आयात कर लगाना चाहिये कि वे देश के कुटीर उद्योगों से बनी वस्तुओं से सस्ती न रहें।

(६) चालक शक्ति का प्रयोग (Use of Power)—कुटीर उद्योगों में अब बिजली का प्रयोग भी होने लगा है। परन्तु इन्हें पर्याप्त बिजली उपलब्ध नहीं होती, क्योंकि बड़े बड़े उद्योगपति तो पैसे के बल पर पदाधिकारियों से अधिक बिजली हड़प लेते हैं, जब कि गरीब कारीगरों को उचित मात्रा में भी नहीं मिल पाती।

विद्युत शक्ति की पूर्ति के लिए सरकार को चाहिए कि वह कुटीर उद्योगों को पर्याप्त बिजली प्रदान करने का व्यवस्था करे, तभी कुटीर धंधे अधिक माल सस्ती लागत पर बना सकेंगे और उन्नति के पथ पर क्रमशः बढ़ना प्रारम्भ कर सकेंगे।

सरकार द्वारा प्रयत्न (Government Measures)

कुटीर उद्योगों के विकास के लिए ब्रिटिश सरकार ने भी कुछ प्रयत्न किये थे, परन्तु यदि उस विकास को विकास कहा जाय तो 'विकास' शब्द का अर्थ ही बदल जाय। सन् १८१४ में व्यावसायिक विकास की एक संस्था स्थापित की गई थी, परन्तु संस्थाओं का स्थापन करने से ही विकास कार्य यदि सम्भव हो जाय तो फिर पूछना ही क्या? कुटीर उद्योग के विकास कार्य का केवल ढोंग रचा गया, परन्तु वास्तव में तो विकास बात की तरफ ध्यान भी नहीं दिया गया। इंगलैंड को कच्चे माल की आवश्यकता थी और था आवश्यकता बाजार की। अब उसकी यह नीति हो गई कि कच्चे माल के उत्पादन को ही प्रोत्साहन दें और भारत में विदेशी वस्तुओं के लिए बाजार प्राप्य रहे। तब तक स्वदेशी आन्दोलन की चिनगारी ज्वाला के रूप में परिणित हुई और कुटीर उद्योग ने बल पाया। विदेशी वस्त्रों की होली जलाई गई और स्वदेशी वस्त्रों की तरफ लोगों का ध्यान आया। विदेशी सरकार को कुछ भय हुआ और उसने पाँच लाख रुपये प्रति वर्ष पाँच वर्षों तक इन उद्योगों के विकास के लिए खर्च करने का आश्वासन दिया। सन् १९३४ में ग्रामीण उद्योग संस्था की स्थापना की गई, परन्तु वह जन्म लेते ही श्मशान घाट पर पहुँच चुकी थी। सन् १९३५ में प्रत्येक राज्य में उद्योग विभाग का स्थापना की गई। इसके अतिरिक्त इसी वर्ष 'अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ' की स्थापना कांग्रेस के तत्वावधान में हुई। सन् १९३९ ई० में 'राष्ट्रीय योजना समिति' ने भी भारतीय कुटीर उद्योगों के उत्थान के साधनों पर विचार किया। युद्धोपरान्त योजनाओं में देश में 'वुड ऐबट रिपोर्ट' का

भी महत्व है, जिसने उद्योगों के विकास के लिए एक नवीन शिक्षा योजना देश के समक्ष रक्खी।

स्वतन्त्रता के उपरान्त

१५ अगस्त, सन् १६४७ को जब हम स्वतन्त्र हुए, तब तक अन्धकार की चादर हमारे मानस पटल से उतर चुकी थी। केन्द्रीय सरकार तथा प्रदेश की सरकारों ने कुटीर उद्योगों के महत्व को समझा। बेरोजगारी की समस्या उनके सामने थी। कृषि भी अधिक बोझिल हो चुकी थी। अब अधिक बोझा ढोना इसकी सहनशक्ति के बाहर था। तब लोग व्यवसाय तथा उद्योग की तरफ आये। उनके पास पूँजी की कमी थी और था विदेशी मशीनों का अभाव। फिर भी बाजार में क्रेताओं से विक्रेताओं की ही संख्या अधिक थी। तब केन्द्रीय सरकार ने उन सभी व्यवसायों को अपनाया जो राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के थे और प्रदेश की सरकारों ने उनको अपनाया, जिनका स्थानीय महत्व था।

लघु उद्योगों के विकास में सीधा भाग लेना सरकार ने दिसम्बर १६४७ में आरम्भ किया जब नई दिल्ली में भारत के औद्योगिक विकास के लिए एक सम्मेलन किया गया। इस सम्मेलन की सिफारिश पर भारत सरकार ने १६४८ में एक कुटीर उद्योग बोर्ड और एक कुटीर उद्योग डायरेक्टर की स्थापना की। १६५२ के अन्त में विभिन्न प्रकार के कुटीर उद्योगों के लिए विशेष बोर्डों की स्थापना होने पर कुटीर उद्योग डायरेक्टर का नाम बदल कर लघु उद्योग डाइरेक्टरेट रक्खा गया और उसे लघु उद्योगों के विकास का काम सौंपा गया।

१६४८ में भारत सरकार ने एक शिष्टमण्डल जापान भेजा। इसका उद्देश्य लघु उद्योगों के विषय में वहाँ किये गये उपायों का अध्ययन करना और भारतीय व्यवस्थाओं के उपयुक्त कुछ छोटी मशीनें भी खरीदना था। इस शिष्टमण्डल ने कुछ जापानी विशेषज्ञ भर्ती किये और अनेक प्रकार की मशीनें खरीदीं। अरब की सराय तथा हरदुआगंज आदि स्थानों पर इन मशीनों के प्रयोग किये गये। रस्सी, जाल, खिलौने आदि बनाने की कुछ मशीनें भारत के लघु औद्योगिकों ने अपना लीं। अन्य बहुत सी मशीनें भारतीय अवस्थाओं के अनुकूल सिद्ध नहीं हुईं। कुछ राज्य सरकारों ने भी जापान को शिष्टमण्डल भेजे परन्तु उनका भी यही परिणाम हुआ।

(?) कारीगरों के शिक्षण की व्यवस्था—राज्य सरकारें भी लघु उद्योगों के क्षेत्र में कुछ करना चाहती थीं, परन्तु उनके पास न तो धन था और न ऐसे विशेष कर्मचारी ही जो किसी साहसपूर्ण कार्य को अमल में ला सकते। कुछ राज्य सरकारों ने कारीगरों को शिक्षा देने का काम आरम्भ किया और बेकार व्यक्तियों को तरह तरह की

विपणन व वितरण के लिए भी राज्य की ओर से प्रयास किये जा रहे हैं। सहकारी विपणन समितियों की स्थापना इस दिशा म सराहनीय प्रयास है। इस कार्य के लिए केन्द्रीय सरकार ने अप्रैल सन् १९४९ म केन्द्रीय कुटीर उद्योग एम्पोरियम की स्थापना की है। यह देशी एवं विदेशी माँग द्वारा कुटीर उद्योगों के माल के विक्रय में सहायता देकर प्रोत्साहन देता है। इस एम्पोरियम ने कुटीर उत्पादन के विज्ञापन के लिए संयुक्त राज्य, लंका, अफगानिस्तान, जापान, न्यूजीलैंड आदि देशों में प्रदर्शनियों का आयोजन किया जिससे वहाँ की माँग से लाभ हो सके। उत्तर प्रदेश, मध्यभारत, मद्रास, काश्मीर, आसाम, पंजाब तथा बम्बई प्रान्तों म भी कुटीर निर्मित माल के विपणन के लिए एम्पोरियम हैं जो देश की विभिन्न प्रदर्शनियों में माल के विज्ञापन के हेतु दूकान रखते हैं। परन्तु ऐसे एम्पोरियम प्रत्येक राज्य म होने चाहिए, जो केन्द्रीय एम्पोरियम से सहयोग लेकर कुटीर उद्योगों के उत्पादन का विपणन करें।

इसके अतिरिक्त केन्द्र तथा राज्य सरकारें अपने उपभोग के लिए इन उद्योगों का माल खरीदती हैं। भारत सरकार ने यह निर्णय किया है कि जहाँ किस्म, मूल्य तथा अन्य बातें समान हों, वहाँ सरकारी उपभोग के लिए कुटीर उद्योगों के बने माल की ही खरीद करनी चाहिए। ये माल अधिकांश में या तो सहकारी समितियों के द्वारा खरीदे जायँ, अथवा राज्य सरकारों की सलाह से किसी ऐसी एजेन्सी से खरीदे जायँ जिन्हें केन्द्रीय व्यापार तथा उद्योग मन्त्रालय की अनुमति मिल गई हो। इस दृष्टि से भारत सरकार 'अखिल भारतीय खादी तथा ग्रामोद्योग संघ' से प्रति वर्ष खादी खरीदती है। इस खरीद का उद्देश्य खादी को प्रोत्साहन देना है। मद्रास सरकार ने करघा उद्योग को संरक्षण प्रदान करने के उद्देश्य से यह कानून बना दिया है कि राज्य में उत्पन्न होने वाली साड़ियों म ४० प्रतिशत करघे द्वारा बुनी जायँगी। अन्य राज्यों में भी इसी प्रकार सरकारें प्रत्यक्ष रूप से माल खरीद कर अथवा अन्य विपणन सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान करके कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहित कर रही हैं।

(५) ऋण की व्यवस्था—सन् १९४९ ५० के वित्तीय वर्ष से भारत सरकार ने लघु तथा कुटीर उद्योगों के लिये अनुदान तथा ऋण देकर राज्य सरकारों की सहायता करनी आरम्भ कर दी। प्रान्तीय अर्थ प्रमण्डल विधान के अन्तर्गत कुछ राज्यों में अर्थ-प्रमण्डल बनाये गये हैं, जैसे बम्बई तथा पंजाब में। फिर भी अन्य राज्यों में आर्थिक प्रदान की कमी है। राज्य सरकारें कुटीर उद्योगों को कुछ आर्थिक सहायता प्रान्तीय औद्योगिक सहायता अधिनियम के अन्तर्गत देती हैं, परन्तु वह अपर्याप्त है।

इस कार्य के लिये केन्द्रीय अधिकोषण जाँच समिति के अनुसार सहकारी

ऋण समितियों की स्थापना की जानी चाहिये, जो समितियाँ केवल कुटीर उद्योगों को ही साख सुविधाएँ देने का कार्य करें तथा अपने सदस्यों को सस्ते दरों पर पर्याप्त मात्रा में आर्थिक सुविधाएँ दें। इसी हेतु नवम्बर सन् १९५४ में लघु उद्योग सभा की स्थापना की गई है, जो इन उद्योगों की आर्थिक एवं शिल्पिक समस्याओं को हल करेगी।

उत्तर प्रदेश ने इस कार्य के लिये सन् १९५२-५३ में ५७½ लाख रुपये का आयोजन किया था परन्तु वह भी अधूरा ही रहा। इसलिये उत्तर प्रदेश सरकार ने मात्र व कुटीर धन्धों को सहकारी संस्थाओं की भाँति सस्ते ब्याज की दरों पर आर्थिक सुविधाएं देने के लिये कहा है, विशेषतः हाथ कर्घा उद्योग के लिये जिसमें इस समय ६ से ७ लाख व्यक्ति कार्य करते हैं। रिजर्व बैंक ने कुटीर उद्योगों को उनके विकास के लिये प्रान्तीय सहकारी बैंकों के माध्यम से २% ब्याज पर १५ मास की अवधि तक आर्थिक सुविधाएं देने का विशेष आयोजन किया है परन्तु इस कार्य के लिये औद्योगिक सहकारिताओं के स्थापना की आवश्यकता है, जिससे कुटीर उद्योगों की आर्थिक, कच्चे माल की तथा निर्मित माल की बिक्री की समस्याएँ हल होकर उनकी नींव सुदृढ़ हो सकेगी। स्टेट बैंक ने छोटे उद्योगों को ऋण देने की योजना में लगभग ७०० छोटे कारखानों को ऋण दिया है। दिसम्बर १९५८ के अन्त तक बैंक ने इन कारखानों को २ करोड़ ९८ लाख रु० का ऋण दिया था। यह योजना उन सभी स्थानों में लागू होती है जहाँ पर स्टेट बैंक की शाखाएँ हैं।

(६) राष्ट्रीय लघु उद्योग कारपोरेशन की स्थापना—राष्ट्रीय लघु उद्योग कारपोरेशन की ज्वाइंट स्टाक कम्पनियों के रूप में ४ फरवरी सन् १९५५ को रजिस्ट्री की गई। इसकी सारी पूँजी सरकार ने लगाई है। इसका उद्देश्य लघु उद्योगों की उन्नति करना, उनको संरक्षण, आर्थिक सहायता तथा अन्य सहायता देना है। यह कार्पोरेशन केवल ऐसे लघु उद्योगों को सहायता देगा जो शक्ति का प्रयोग करते हों एवं जिनमें ५० से कम व्यक्ति काम करते हों अथवा जो शक्ति का प्रयोग न करते हों, परन्तु उनमें १०० से अधिक व्यक्ति काम न करते हों तथा उनकी पूँजी ५ लाख रुपये से अधिक न हो। इसके निम्न कार्य हैं—

(i) सरकारी आदेशों का समुचित हिस्सा लघु उद्योगों को दिलाना।

(ii) जिन उद्योगों को ऐसे आदेश मिले हैं उनको आदेशों की पूर्ति के लिये आवश्यक आर्थिक एवं शिल्पिक सहायता देना।

(iii) संगठित एवं लघु उद्योगों में सामंजस्य लाना, जिससे लघु उद्योग संगठित उद्योगों की पूरक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें।

(iv) लघु उद्योगों के बैंकों अथवा अन्य संस्थाओं से मिलने वाली ऋणों की जमानत देना एवं अभिगोपन (Underwrite) करना।

इस कारपोरेशन की पूँजी १० लाख रुपये है जो १०,००० अंशों में विभाजित है। कार्पोरेशन ने सरकारी आर्डर लेकर उन्हें लघु औद्योगिकों को देना आरम्भ कर दिया है। यह औद्योगिकों को सरकार से सीधे आर्डर लेने में सहायता करेगा। यह बड़े तथा छोटे उद्योग के मध्य एकीकरण भी करेगा जिससे छोटे उद्योग बड़े उद्योगों में काम आने वाली वस्तुएँ तैयार कर सकें। बिक्री भंडारों की एक शृंखला तथा चलती फिरती बिक्री गाड़ियाँ चालू करने के विषय में भी कार्पोरेशन विचार कर रहा है। उसने लघु औद्योगिकों को किराया खरीद प्रणाली के अनुसार छोटी मशीनें और उपकरण देने भी आरम्भ कर दिये हैं। लघु उद्योग सेवा कार्पोरेशन द्वारा उन व्यक्तियों से सम्पर्क किया जाता है जिन्हें इन मशीनों की आवश्यकता है। अब तक ११ लाख रुपये की मशीनों के आर्डर प्राप्त हो चुके हैं। इन आर्डरों के अनुसार पहले मशीन किराये पर दी जायेंगी और फिर बाद को लेने वाले ही उन्हें खरीद लेंगे। जून १९५८ के अन्त तक निगम के पास १,२६२ प्रार्थना पत्र आये जिनमें ३,८०,५०,६४५ रुपये की ४,५१६ मशीनों की माँग की गई, जबकि ६७,२८,८५८ मशीनें खरीदारों को प्रदान कर दी गई।

(v) फोर्ड फाउन्डेशन योजना

सन् १९५३–५४ में भारत सरकार ने लघु उद्योगों की उन्नति के लिये फोर्ड फाउण्डेशन के सहयोग से विदेशी विशेषज्ञों का एक दल निमंत्रित किया। ये विशेषज्ञ अमरीका तथा स्वीडन के थे। इस दल ने भारत के लघु उद्योगों के विभिन्न केन्द्रों का दौरा किया। इस दल ने बड़ी सावधानी के साथ अध्ययन करने के बाद यह मत व्यक्त किया कि देश में ही खपत के लिए नूतन बड़ा बाजार उपलब्ध होने के कारण लघु आधार पर उद्योगों का विकास करने की अच्छी गुंजायश है। परन्तु उसने यह भी देखा कि बहुत से लघु उद्योगों की दशा बिगड़ती जा रही है। उनके माल की किस्म गिरती जा रही है और उनके कारीगर उन्हें छोड़ छोड़कर भागते जा रहे हैं। उनके माल की माँग घट जाने के कारण उत्पादन घटता जा रहा है। अतः वे अपने कारीगरों को अच्छी मजदूरी देने में भी असमर्थ हैं। यह सब देखकर दल ने लघु उद्योगों के लिए बहुउद्देशीय शिल्पशालाएँ स्थापित करने की सिफारिश की जो लघु उद्योगों की मूलभूत गवेषणा सम्बन्धी आवश्यकता पूरी करने के साथ साथ शैल्पिक सहायता दें और कारीगरों को शिक्षा भी प्रदान कर सकें। इसके अतिरिक्त वर्तमान निर्माण प्रणालियों का पथप्रदर्शन भी कर सकें तथा लघु उद्योगों के विकास के लिए परीक्ष

रणात्मक तथा क्रियात्मक गवेषणा को भी हाथ में ले सकें। अच्छे ढंग के औज़ारों और मशीनों, प्रणालियों, कच्चे माल की किस्म सुधारने, बिक्री व्यवस्था करने, ऋण प्राप्त करने आदि के विषय में राय देने का कार्य भी इन शालाओं के द्वारा किया जाय।

छोटे कारखानों की वर्तमान आर्थिक कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए दल ने ये सिफारिशें कीं—

(१) व्यापारी तथा सहकारी बैंकों और राज्य वित्त कार्पोरेशनों को लघु-उद्योगों के लिए ऋण देने चाहिए।

(२) जायदाद रेहन रखकर ऋण देने की प्रणाली चलाई जाय।

(३) खतरेवाली पूँजी के लिए सरकार पर्याप्त धन अलग निर्धारित कर दे।

(४) आधुनिक मशीनों और उपकरणों को खरीदने के लिए किश्तों द्वारा अदा होने वाले ऋण की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(५) लघु उद्योगों के ऋण सम्बन्धी आवेदन पत्रों पर कार्यवाही करने के लिए एक उपयुक्त संगठन तत्काल स्थापित किया जाय।

दल ने यह भी कहा कि सरकार को चाहिए कि वह कारीगरों को सहकारिता के आधार पर संगठन करने के लिए प्रोत्साहित करे। इसके अतिरिक्त उत्पादनों की अच्छी बिक्री होनी परमावश्यक है। सरकार को एक ऐसा संगठन स्थापित करना चाहिए जो सर्वेक्षण द्वारा उपभोक्ताओं की माँग का पता लगावे और लघु औद्योगिकों को इस माँग के अनुसार माल तैयार करने को प्रोत्साहन दे तथा थोक और खुदरा विक्रेताओं से माल के आर्डर प्राप्त कराके उनके अनुसार माल तैयार करावे। बिक्री व्यवस्था कार्पोरेशन बनाया जाय और उसमें बाज़ार सम्बन्धी समाचार प्रदान करने की भी व्यवस्था हो जो देशी तथा विदेशी बाज़ारों के समाचार छोटे उद्योगों को प्रदान किया करे। इसके अतिरिक्त एक लघु उद्योग कार्पोरेशन स्थापित करने की सलाह दी गई जिसकी प्रादेशिक और राज्य में शाखाएँ हों। यह कार्पोरेशन सरकारी आवश्यकता के अनुरूप माल तैयार करने के लिए लघु उद्योगों को प्रोत्साहित करे। दल ने कारीगरों को शिक्षा देने और शक्ति का प्रबन्ध करने की भी सिफारिश की।

इस दल की सिफारिशों पर सरकार ने विचार किया और ■ जून १९५४ को नीचे लिखी सिफारिशें स्वीकार कर लीं—

(१) लघु उद्योगों के लिए चार शिल्पशालाएँ स्थापित की जायें जो लघु उद्योगों का उत्पादन तथा व्यवस्था प्रणाली सुधारने, ऋण तथा वित्त प्राप्त करने, उपयुक्त कच्चा माल प्राप्त करने, अच्छे से अच्छे दाम पर उनके बने माल को बेचने, उनके उत्पादन कार्य का एकीकरण करने आदि में सहायता दें।

(२) एक बिक्री व्यवस्था कार्पोरेशन स्थापित किया जाय जो बाद में शालाओं के साथ अपने कार्य को सम्बद्ध कर दे।

(३) सरकारी आर्डर पूरे करने के लिए उत्पादन का प्रबन्ध करने वाला एक लघु-उद्योग कार्पोरेशन स्थापित किया जाय।

सरकार ने लघु-उद्योगों के लिए एक विकास कमिश्नर नियुक्त करने और एक लघु-उद्योग बोर्ड बनाने का भी निश्चय किया। विकास कमिश्नर और इस बोर्ड को ही उपर्युक्त सङ्गठनों के कार्यों का एकीकरण करने का भार सौंप दिया गया। इसके अतिरिक्त देश में लघु-उद्योगों के विकास का सामान्य कार्यक्रम तैयार करने और अमल में लाने का भार इन्हें सौंपा गया। २ नवम्बर १९५४ को विकास कमिश्नर की अध्यक्षता में लघु उद्योग बोर्ड की स्थापना हुई।

(८) लघु उद्योग बोर्ड के कार्य—लघु-उद्योग बोर्ड की सिफारिश पर प्रादेशिक शालाओं का नाम लघु-उद्योग सेवा शालाएँ रखा गया है। बम्बई, कलकत्ता, मदुरा और फरीदाबाद में ये शालाएँ स्थापित करने का प्रबन्ध किया जा रहा है। अभी इनकी स्थायी इमारतें नहीं तैयार हुई हैं। इसलिए बम्बई, कलकत्ता, मद्रास और नयी दिल्ली में किराये पर स्थान लेकर इन शालाओं के डाइरेक्टरों और अन्य अफसरों ने अपना काम शुरू कर दिया है। शालाओं के विभिन्न कार्यों के लिए कर्मचारियों और कारीगरों की भर्ती हो रही है। मदुरा और फरीदाबाद की शालाओं के लिए भूमि प्राप्त कर ली गई है और अन्य दो शालाओं के लिए इसकी बातचीत चल रही है। लघु औद्योगिकों को लाभ पहुँचाने के लिए इन शालाओं में बढ़ईगिरी और लोहारी के आदर्श कारखाने और चलती फिरती प्रदर्शन गाड़ियाँ रखने का कार्य आरम्भ कर दिया है। बहुत से छोटे छोटे औद्योगिकों ने प्रादेशिक शालाओं के डायरेक्टर से सहायता के लिए बातचीत आरम्भ कर दी है। डाइरेक्टर और उनके सहायक अफसर इन्हें पत्र द्वारा, मिलकर अथवा स्वयं कारखानों में जाकर यथासम्भव सहायता दे रहे हैं।

औद्योगिक संस्थान

छोटे कारखाने अब तक बड़ी कठिनाइयों में रहकर अपना काम चलाते रहे हैं। उनके पहली कठिनाई तो कारखाने के लिए काफी जगह प्राप्त करने की होती है। उनके पास प्रायः कारखाना बनाने के लिए काफी धन भी नहीं होता। यदि धन भी हो गया तो कच्चे माल, मशीनों, बिजली, टेलीफोन इत्यादि का प्रबन्ध करने में उन्हें प्रायः दो वर्ष लग जाते हैं। इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए लघु-उद्योग बोर्ड ने औद्योगिक बस्तियों की योजना बनाई है जिनकी मालिक सरकार

अथवा निजी कम्पनियाँ होंगी। इन बस्तियों में कारखाने की इमारतें बनाकर उनमें बिजली, पानी, गैस, भाप, रेलवे साइडिङ्ग आदि का प्रबन्ध रहेगा। ये इमारतें छोटे कारखानों को किराये पर मिल सकेंगी और इस प्रकार उनकी सभी कठिनाइयाँ एक बार में ही हल हो जाया करेंगी। आशा है कि अगले छः महीनों में महत्वपूर्ण केन्द्रों में प्रायः अट्ठावन औद्योगिक बस्तियाँ बन जायँगी। ये बस्तियाँ उन्हीं स्थानों पर बनाई जा सकती हैं जहाँ कुछ कारखाने इनमें आने को प्रस्तुत हों और जो थोक बाजारों के निकट हों। अन्य केन्द्रों में कारखानों की इमारतें बना कर लघु औद्योगिकों को किराये पर दे देने का प्रस्ताव है। आमतौर पर औद्योगिक संस्थानों की स्थापना का जिम्मेदारी राज्य सरकारों की है लेकिन जल्दी के कारण ओखला तथा नेनी संस्थानों की स्थापना का कार्य लघु उद्योग निगम को ही निम्न सौंप दिया गया था। इन दोनों संस्थानों की स्थापना का पहला चरण पूरा हो चुका है। इनमें क्रमशः ३५ और १४ कारखाने होंगे। ओखला संस्थान का उद्घाटन १२ अप्रैल, १९५८ को प्रधान मन्त्री ने किया था। इलाहाबाद के नेनी संस्थान में २५ कारखाने उद्योगपतियों को दे दिये गये हैं। इन दोनों संस्थानों के विस्तार का कार्य चालू है। इन संस्थानों के अतिरिक्त कई राज्य सरकारों ने भी औद्योगिक बस्तियों की व्यवस्था की है। इस प्रकार अभी तक ११ औद्योगिक बस्तियाँ तैयार हो चुकी हैं और ३२ बस्तियाँ और बनाई जा रही हैं। इस प्रकार अभी तक ४५ कारखाने गिंडी (मद्रास) में, ३५ ओखला (दिल्ली) में, ३५ कटक (उड़ीसा) में, ३४ राजकोट (बम्बई) में, २४ पाल घाट तथा क्विलान (केरल) में और १५ नैनी (उत्तर प्रदेश) में हैं। केन्द्रीय सरकार ने विभिन्न राज्यों में ७१ औद्योगिक बस्तियों के लिए धन देना मंजूर किया है। इसके लिए पिछले ३ वर्षों में राज्य सरकारों को ३ करोड़ २६ लाख रुपया स्वीकार किया गया जिसमें १९५७-५८ तक १ करोड़ रुपया खर्च हो चुका है। अनुमान है कि चालू वर्ष में राज्यों को ७२ लाख रुपये के ऋण मंजूर किये जायेंगे।

लघु उद्योगों के क्षेत्र में भावी उन्नति सस्ती और काफी बिजली उपलब्ध होने पर निर्भर है। योजना कमीशन बिजली की स्थिति पर विचार कर रहा है। कहीं कहीं बिजली की दरें ऐसी हैं कि छोटे औद्योगिकों को बड़ों की अपेक्षा दूनी दर पर बिजली लेनी पड़ती है। लघु-उद्योग बोर्ड ने उपयुक्त अधिकारियों का इधर ध्यान दिलाया है और दरों में आवश्यक परिवर्तन करने को कहा है।

लघु उद्योग बोर्ड ने छोटे उद्योगों को मशीनें आदि किराया खरीद प्रणाली के अनुसार देने के लिए कहा है और इसमें यदि रुपया मारे जाने का कोई खतरा आवे तो सरकार उसे सहन करे। छोटे उद्योग पुराने ढंग की मशीनों के साथ साथ

निर्माण की प्रणालियाँ भी पुराने ढङ्ग को अपनाये हुए हैं। ये ऐसे विशेषज्ञ नहीं रख सकते जो उन्हें उन्नत प्रणालियों के विषय में परामर्श दें। लघु उद्योग सेवा बोर्ड इन्हें इस प्रकार की जानकारी प्रदान करेगा और इनके विषय में हिन्दी तथा अन्य स्थानीय भाषाओं में आवश्यक साहित्य प्रदान करेगा।

राज्य सरकार केन्द्रीय सरकार की सहायता से छोटे उद्योगों को दीर्घकालीन ऋण देने की शर्तें प्रदान कर रही है। साधारण बैंकों से भी इन्हें ऋण दिलवाने के उपाय किये जा रहे हैं।

पचवर्षीय योजनाओं में कुटीर उद्योग

प्रथम पचवर्षीय योजना में केन्द्रीय सरकार ने ग्राम और छोटे उद्योगों को बढ़ाने के लिए निश्चित कार्यक्रम कार्यान्वित करने के निमित्त संगठनों का एक जाल सा बिछा दिया है। ये संगठन ये हैं—(i) अखिल भारतीय खादी और ग्रामोद्योग बोर्ड, (ii) अखिल भारतीय दस्तकारी बोर्ड, (iii) अखिल भारतीय हाथ करघा बोर्ड, (iv) छोटे उद्योग बोर्ड, (v) नारियल जटा बोर्ड और (vi) रेशम बोर्ड। इनके कार्य ये हैं— ग्रामों में उत्पादन तथा विकास योजना बनाना, कार्यकर्त्ताओं को शिक्षा देना, कच्चे माल की केन्द्रीय पूर्ति बनाये रखना, उनके विक्रय तथा अन्वेषण का प्रबन्ध करना तथा इस उद्योग के विविध अंगों का अध्ययन करना, योजनाओं की परीक्षा करना तथा सरकारी सहायता के लिए उनके नाम प्रस्तावित करना भी इन कार्यों में सम्मिलित किया जा सकता है। ये भारत में विक्रय की ओर ध्यान देते हैं और आन्तरिक व्यवसाय व व्यापार को प्रोत्साहित करते हैं।

सन् १९५३ में अन्तर्राष्ट्रीय योजना समिति की स्थापना की गई। उसके परामर्श से लघु उद्योग के विकास में कुछ पद और बढ़ाये गये। डिज़ाइनों के राष्ट्रीय स्कूल की स्थापना की गई, जिसका काम नये नमूनों को बनाना तथा अन्वेषण के कार्य करना है। इसके द्वारा अधिक शिक्षा के प्रबन्ध की सम्भावना हो रही है। प्रदर्शनियों का आयोजन तथा विविध विज्ञापन और प्रसार में इसका हाथ रहा है। उपभोक्ताओं की सहयोग समितियों ने कुछ ऐसे पग उठाये हैं जिन्हें देखने से आशा और अधिक बलवती हो जाती है। देश-विदेश से नमूना और डिज़ाइनों को लाना या मँगाना तथा उत्पादकों और उपभोक्ताओं के पास तक पहुँचाना ही क्या साधारण कार्य है? भारतीय गृह उद्योग के उत्पादन के लिए विदेशों में बाजार की खोज करना तथा निर्यात का प्रबन्ध करना भी इसका कार्य हो गया है। केन्द्रीय सरकार द्वारा ग्रामोद्योग की शिक्षा के लिए शिक्षा की निःशुल्क व्यवस्था बम्बई, फरीदाबाद, कलकत्ता और मद्रास में की गई है। इसकी शाखाएँ बिहार,

उत्तर प्रदेश, त्रावनकोर कोचीन आदि में है। नासिक में इसी कार्य के लिए केन्द्रीय प्रशिक्षण केन्द्र की स्थापना की गई है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में गृह-उद्योग के लिए ११.४८ करोड़ रुपया का प्रबन्ध किया गया था, जो पीछे बढ़ा कर २२.२४ करोड़ रुपया तक कर दिया गया। विभिन्न प्रदेश की सरकारों ने १५ करोड़ रुपया का प्रबन्ध किया, तथा सामुदायिक योजना के अन्तर्गत करीब ८ करोड़ रुपये खर्च किये गये। प्रत्येक मद पर सरकार ने सन् १९५१ से १९५६ तक निम्न सहायता दी है—

हाथ निर्मित कपड़ों पर	११.१ करोड़ रुपये
खादी पर	८.४ करोड़ रुपये
ग्राम्य-उद्योगों पर	४.१ करोड़ रुपये
छोटे परिमाण के उद्योगों पर	५.२ करोड़ रुपये
दस्तकारियों पर	१ करोड़ रुपये
सिल्क तथा ऊन पर	१.३ करोड़ रुपये
कनायर पर	.१ करोड़ रुपये
कुल	३१.२ करोड़ रुपये

हाथ करघा बोर्ड के अनुसार कपड़ा का उत्पादन १९५१ से १९५४-५५ में ७,४२० लाख गज से १२,१४० लाख गज बढ़ा है और १९५५-५६ में यह उत्पादन १४,५०० लाख गज हो गया। अखिल भारतीय हाथ कर्घा तथा खादी समिति के अनुसार हाथ निर्मित खादी का उत्पादन जो १९५१ में १.३ करोड़ रुपयों का था, १९५५-५६ में ५ करोड़ रुपया से भी अधिक पहुँच चुका है। खादी का उत्पादन ३४० लाख गज तक पहुँच गया है। १९५२ में सरकार ने गृह उद्योग की वस्तुओं को खरीदने में ६६ लाख रुपया तक का खर्च किया, जो १९५४-५५ में १०५ लाख तक पहुँच चुका है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत गृह उद्योग पर अधिक खर्च करने का विचार किया गया है जो इस तालिका से स्पष्ट हो जायगा—

	करोड़ रुपयों में	
	केन्द्र से	प्रदेशों में
हाथ करघों से बने कपड़ा पर	१ ५	५६ ०
खादी पर	४ ०	५६ ०
दस्तकारी पर	३ ०	६'०
छोटे परिमाण के उद्योगों पर	१० ०	४५ ०
सिल्क और अरण्डी पर	० ३	४ ८
क्वायर पर	० २	१ ७
विविध	६ ०	६ ५
	२५ ० +	१७५ ०
कुल	२०० करोड़ रुपये	

इस योजना के अन्तर्गत १४५ लाख करघों को उत्पादन में और लाया जायगा। १७,००० लाख गज और कपड़े तैयार किये जायेंगे। सूती खादी का उत्पादन ६०० लाख गज तक बढ़ाया जा सकेगा तथा ऊनी खादी का उत्पादन जो १९५६ में २,५०,००० गज था, १९६० ६१ में १० लाख गज तक बढ़ाया जा सकेगा जिस पर पूरा खर्च २१ करोड़ रुपयों का होगा।

द्वितीय पचवर्षीय योजना की अवधि के लिए ग्राम और छोटे उद्योग समिति जिसके सभापति श्री कार्वे थे और जिनके नाम पर इसे कार्वे कमेटी कहा जाता है, का कहना है कि कुटीर उद्योगों के विकास के फलस्वरूप ४५ लाख लोगों को अतिरिक्त काम मिल सकेगा। लघु उद्योग के विकास के लिए योजना कमीशन के समक्ष कार्य क्रम का जो मसौदा उपस्थित है, उसमें ५०,००० कारखानों को किराया खरीद प्रणाली पर मशीनें देना, ३० लघु उद्योग सेवाशालाएं खोलना, २०० यान्त्रिक सेवा दल बनाना, ५०० सामान्य सुविधा केन्द्र स्थापित करना, ३० औद्योगिक बस्तियाँ बनाना, ७५,००० कारखानों को ऋण देना, २०० विक्रय भंडार खोलना, २,००० चलती फिरती प्रदर्शन गाड़ियां चलाना, बिजली दरों में कमी करना, वर्तमान प्रदर्शन दलों का विस्तार, उत्पादन सहशिक्षण केन्द्र खोलना, आदर्श कारखाने बनाना आदि के प्रस्ताव शामिल हैं।

उपसंहार

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारत सरकार और भारतीय जनता कुटीर उद्योग के महत्व एवं विकास के प्रति भली-भांति जागरूक है और निस्सन्देह भारतीय

उद्योग धन्धा का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है। कुटीर उद्योग धन्धों को पुनर्जीवित करने मे सरकार द्वारा किये गये प्रयत्न भी अत्यन्त सराहनीय हैं और यह ठीक ही है क्योकि रोजगार सम्बन्धी सुविधाओं का अधिक विस्तार द्वितीय पंचवर्षीय योजना के आधारभूत उद्देश्यों म से एक है और यह कुटीर उद्योगों के विकास द्वारा ही सम्भव हो सकता है। राष्ट्र के कर्णधार महात्मा गाँधी तो चरखे को राष्ट्ररूपी शरीर का एक फेफडा कहा करते थे। प्रत्येक गाँव में कुटीर उद्योगों की झकार के साथ ही साथ, राष्ट्रीय जीवन भी नवीन चेतना एव जागृति से झकार उठेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है।



तृतीय खण्ड

"भारतीय-श्रम-समस्याएँ"

(१) सामाजिक सुरक्षा
(२) श्रम कल्याण
(३) श्रम-सम्बन्धी अधिनियम
(४) श्रम संघ
(५) औद्योगिक संघर्ष
(६) श्रम की कार्यक्षमता

१५

सामाजिक सुरक्षा

(Social Security)

'न्याय की व्यवस्था, शान्ति की स्थापिका है'[1] इस सामाजिक सिद्धान्त के जन्म के साथ ही सामाजिक सुरक्षा का जन्म हुआ। प्रथम महायुद्ध (१६१८) के उपरान्त ससार मे सामान्यतः यह बात स्पष्ट हो गई कि विश्व के किसी भी कोने मे यदि किसी प्रकार का असतोष है तो इससे अन्य स्थानों मे शान्ति भग हो सकती है। यह भी अनुभव किया गया कि विपत्ति के समय मे समाज का कर्तव्य है कि वह दूसरे दलित एव दरिद्रवर्ग की सहायता करे। मनुष्य के जीवन मे दो अवस्थाएँ ऐसी हैं जिनमें वह दूसरा पर निर्भर रहता है—शैशवावस्था एव वृद्धावस्था। कभी कभी युवावस्था मे भी मनुष्य बीमारी, चोट एव बेकारी के कारण धनोपार्जन के अयोग्य हो जाता है और दूसरो पर निर्भर हो जाता है। ऐसी अवस्था मे असहाय व्यक्तियो की सहायता करना सामाजिक सुरक्षा का मुख्य लक्ष्य है। सामाजिक सुरक्षा वास्तव मे मनुष्य को आकस्मिक घटनाओं से सुरक्षा प्रदान करने की योजना है। बीमारी, बेकारी, वृद्धावस्था, विधवापन, परिवार के उपार्जक सदस्य की मृत्यु इत्यादि ऐसी घटनाएँ हैं जब मनुष्य की आय तो लगभग बन्द ही हो जाती है, परन्तु व्यय लगभग समान रहते हैं या बढ़ जाते हैं। ऐसी दयनीय स्थिति मे ही मनुष्य की रक्षा करना सामाजिक सुरक्षा का मूलमन्त्र है। इस प्रकार सामाजिक सुरक्षा की परिभाषा निम्न शब्दों में दी जा सकती है—

"यह सुरक्षा वह उचित सगठन है जिससे समाज अपने सदस्यों को कुछ निश्चित सकटों से सुरक्षित रखता है।"

सक्षेप में यह सुरक्षा उस जनवर्ग के लिए है जो कि अकेले, योग्यता एव दूरदर्शिता से अपने को पूर्णतया भावी सकटा से सुरक्षित नहीं कर सकता है। मि० क्राउथर के शब्दों मे—

---

[1] "Husband Justice & ye Shall garner Peace"—I L O.

"जनतन्त्र राज्य के नागरिक को अधिकृत रूप से पर्याप्त भोजन मिलना चाहिये ताकि वह स्वस्थ रह सके। उसके लिए उचित श्रेणी का आश्रय, वस्त्र एवं ईंधन की व्यवस्था होनी चाहिये। उसे शिक्षा के पूर्ण एव समान अवसर प्रदान किये जाने चाहिये ......उसे बेकारी, अस्वस्थता एव वृद्धावस्था के सकटों से सुरक्षित किया जाना चाहिये। विशेष कर सन्तान का जन्म माता-पिता के लिए विपत्ति का सदेश नहीं होना चाहिये।"

सामाजिक सुरक्षा के अन्तर्गत दो योजनाएँ आती हैं—

(१) सामाजिक सहायता।

(२) सामाजिक बीमा

सामाजिक सहायता वह है जिसमें लाभ पाने वाले व्यक्तियों को कुछ चन्दा नहीं देना पड़ता और सारा खर्च सरकार स्वय अपने पास से करती है।

सामाजिक बीमा वह है जिसमें लाभ पाने वाले व्यक्तियों को भी कुछ न कुछ चन्दे के रूप में देना पड़ता है। सामाजिक बीमा कर्मचारी, सरकार और मालिक तीनों का सामूहिक प्रयत्न होता है।

सामाजिक बीमा (Social Insurance)

सामाजिक बीमा वह सगठन है जो कि अपने सदस्यों को बेकारी, बीमारी और अन्य आकस्मिक सकटों में एक निश्चित आधार पर पर्याप्त लाभ प्रदान करता है। यह लाभ उस कोष से पहुँचाया जाता है जो कि मजदूरों, मालिकों और राज्य के अशदान से एकत्रित होता है। चूँकि मजदूर इस कोष में अशदाता के रूप में होते हैं इसलिए उनको यह लाभ अधिकार के रूप में मिलता है। अपने सदस्यों की आय के रुक जाने पर उनके लिए एक उचित रहन-सहन का स्तर प्रदान करना सामाजिक बीमा योजना का मुख्य कार्य है।

सामाजिक बीमा के अन्तर्गत निम्न योजनाएँ आती हैं—

(१) स्वास्थ्य बीमा, (२) औद्योगिक अयोग्यता बीमा, (३) बेकारी बीमा, (४) मातृत्व हित लाभ, (५) वृद्धावस्था में पेन्शन, और (६) विधवाओं एव अनाथों के लिये पेन्शन।

भारत में आवश्यकता एवं महत्व

भारत अपनी निर्धनता के लिये सर्वविदित है। भारतीय श्रमिक इतने निर्धन हैं कि सकट काल के लिये कुछ धन राशि बचा कर रखना उनकी सामर्थ्य के बाहर

है। उनकी दरिद्रता ही इस बात की साक्षी है कि सामाजिक बीमा का महत्व हमारे देश में क्या हो सकता है। श्री अदारकर के शब्दों में—

"You do not have to go out of your way to make out a case for social security The agonising Indian scene cries out clamorously for it."

भारतीय श्रमिकों को अन्धकारमय भविष्य की कल्पना से मुक्त करके उन्हें चिन्ताओं से छुटकारा दिलाया जा सकता है। इससे उनके अन्दर नवीन चेतना एवं स्फूर्ति का जन्म होगा और उनकी कार्यक्षमता में अपार वृद्धि होगी। आज राजनैतिक स्वतन्त्रता के उपरान्त भारत आर्थिक मोक्ष का पथ खोज रहा है। श्रमिकों की कार्य-क्षमता बढ़ने पर देश में उत्पादन की वृद्धि होना स्वाभाविक ही है। इसके अतिरिक्त भारत में मलेरिया, चेचक आदि बीमारियों के आधिक्य के कारण भी श्रमिकों की आर्थिक दशा शोचनीय रहती है। गरीबी के कारण वे चिकित्सा का भी उचित प्रबंध नहीं कर पाते। लाखों व्यक्ति इन बीमारियों के शिकार हो जाते हैं जिसका दुष्परिणाम उनके कुटुम्बियों को भुगतना पड़ता है। जो बीमारी से बच जाते हैं, वे कमजोर और अकुशल हो जाते हैं। देश की आर्थिक सम्पन्नता कुशल एवं हृष्टपुष्ट श्रमिकों पर ही निर्भर है। Royal Commission on Labour के शब्दों में—

"Even a small step in the prevention of these ills would have an appreciable effect in increasing the wealth of India; a courageous attack on them might produce a revolution in the standard of life and poverty."

सामाजिक सुरक्षा का एक उद्देश्य बेकारी के समय में सदस्यों की रक्षा करना भी है। भारत में बेरोजगारी एवं बेकारी की समस्या आज की सब से जटिल समस्या है। आमदनी के रुक जाने पर पूरे परिवार पर विपत्तियों का बादल मँडराने लगता है। बेकारी असतोष की जननी है। सामाजिक बीमा इस विपत्ति को काफी सीमा तक दूर रख सकता है। श्री खाडूभाई देसाई के शब्दों में—

"सामाजिक सुरक्षा का पथ लम्बा एवं कठिन अवश्य है, परन्तु यह एक ऐसी रचना है जिसके द्वारा सामाजिक एवं आर्थिक उपद्रवों को शान्त किया जा सकता है और राज्य में सतोष की भावना फैलाई जा सकती है।"[1]

---

1 "The road to social security may be long and tough, but that is the only way of avoiding violating economic and social upheavals and of building up a prosperous and contented State"—Shri Khandubhai Desai

भारत समाजवादी ढंग का समाज निर्माण करने का प्रयत्न कर रहा है। लोक हितकारी राज्य की स्थापना तभी समव हो सकती है जब समाज के प्रत्येक व्यक्ति को समान अधिकार प्राप्त हों और प्रत्येक व्यक्ति सम्पन्न एवं सुखी हो। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, इसलिये समाज का कर्तव्य है कि आवश्यकता एवं संकट काल में वह अपने सदस्यों की सहायता करे। भारत पूर्णरूप से लोक हितकारी राज्य उसी दिन होगा जब वह देश से निर्धनता, रोग, गन्दगी, निरक्षरता एवं बेकारी का अन्त कर देगा। सामाजिक सुरक्षा इस दिशा में प्रथम महत्वपूर्ण कदम सिद्ध होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है। धन का असमान वितरण समाजवादी अर्थ-व्यवस्था कायम करने में मुख्य बाधा है तथा पूँजीवाद का पोषक है। सामाजिक सुरक्षा योजनाओं द्वारा भारत धन के वितरण की विषमता भी दूर करने में सफल हो सकता है। श्री जे० डब्लू० केन्ट (Shri J W Kent) के शब्दों में—

"Helth Insurance is in itself a shift of purchasing power from the healthy to the sick"

आज भारत की प्रमुख समस्या 'अधिक उत्पादन' की समस्या है जिसके बिना राष्ट्र के निर्माण का स्वप्न साकार नहीं हो सकता। सामाजिक सुरक्षा इस दिशा में भी महत्वपूर्ण कार्य कर सकती है। श्रमिकों को भावी चिन्ताओं से मुक्त दिलाकर, उनके स्वास्थ्य को ठीक रखने में सहायता प्रदान करके, एवं उनके हृदय में यह विश्वास उत्पन्न करके कि सारा समाज उनके साथ सहानुभूति रखता है, सामाजिक सुरक्षा उनके जीवन में नवीन चेतना एवं उत्साह का प्रादुर्भाव अवश्य करेगी और वे यह समझने के लिये विवश हो जायेंगे कि समस्त समाज उनका है और वे समस्त समाज के हैं और समाज के हित में उनका हित निहित है। ऐसी परिस्थितियों में उनका राष्ट्र के उत्पादन में तन, मन, धन से सहयोग प्रदान करना स्वाभाविक ही हो जाता है। श्री बीवरेज (Shri Beveridge) के शब्दों में—

"In a sense the poorer you are, the more you need social security—by maintaining your health it will help you to increase productivity."

भारत में सामाजिक सुरक्षा की प्रगति

राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पहले, सामाजिक सुरक्षा के नाम पर, केवल श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम (Workmen's Compensation Act) और मातृत्व हित लाभ अधिनियम (Maternity Benefit Act) थे। सन् १९२३ में श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम (Workmen's Compensation Act) पास

किया गया जिसके अन्तर्गत बड़े बड़े मिलों में काम करने वाले मजदूरों की यदि काम करते समय मृत्यु हो जाती थी या चोट लग जाती थी जिससे कि वे थोड़े समय के लिये अथवा जीवन भर के लिये असमर्थ हो जाते थे तब उनको मालिकों की ओर से नकद क्षतिपूर्ति (हर्जाना) मिलती थी। यह अधिनियम आज जम्मू एवं काश्मीर को छोड़कर सारे भारत में लागू होता है। परन्तु जहाँ कर्मचारी राज्य बीमा योजना आरम्भ हो गई है वहाँ यह अधिनियम नहीं लागू होता है।

मातृत्व हित लाभ सम्बन्धी अधिनियम विभिन्न प्रान्तों द्वारा पास किया जाता है। बम्बई ने १६२६ में, मध्यप्रदेश ने १६३० में, मद्रास ने १६३४ में, उत्तर प्रदेश ने १६३८ में, बंगाल ने १६३६ में, पंजाब ने १६४३ में, आसाम ने १६४४ में और बिहार ने १६४५ में मातृत्व हित लाभ अधिनियम पास किया। इसके अन्तर्गत मिलों में काम करने वाली स्त्रियों को उनके शिशु जन्म के कुछ सप्ताह पूर्व और कुछ सप्ताह पश्चात् तक छुट्टी मिल जाती है और इस छुट्टी के समय उनको लगभग आधा वेतन भी मिलता है। साथ ही साथ चिकित्सा सम्बन्धी सुविधा भी उनको प्रदान की जाती है। भारत सरकार ने १६४१ में खानों में काम करने वाली मजदूर स्त्रियों के लिये भी इस प्रकार का नियम बना दिया है।

उपर्युक्त दोनों अधिनियमों में क्षतिपूर्ति का दायित्व केवल मालिकों पर ही था। इसमें केवल सामाजिक बीमा के अन्तर्गत आने वाले कुछ भावी संकटों से रक्षा प्रदान करने का ही आयोजन था। अतः इनको सामाजिक बीमा योजना का अङ्ग नहीं कहा जा सकता क्योंकि क्षतिपूर्ति का उत्तरदायित्व मालिकों पर ही रखा गया है और ये नियम केवल मिल या फैक्टरी के अन्दर होने वाली दुर्घटनाओं से रक्षा प्रदान करते हैं। इसके अतिरिक्त ये अधिनियम केवल बड़ी बड़ी फैक्टरियों में ही लागू होने के कारण कुछ थोड़े से श्रमिकों को ही रक्षा प्रदान कर सकते हैं।

कर्मचारी राज्य बीमा योजना

(Employee's State Insurance Scheme)

वास्तव में स्वाधीन भारत में ही सामाजिक सुरक्षा का प्रश्न कुछ सीमा तक हल हो सका है। २ अप्रैल १६४८ के पावन दिवस पर भारतीय लोक सभा ने कर्मचारी राज्य बीमा योजना अधिनियम पास किया। परन्तु इसका कार्य अनेक कठिनाइयों के कारण शीघ्र आरम्भ न हो सका। ६ अक्तूबर १६५१ को इस अधिनियम का संशोधन फिर हुआ, और इसका शुभारम्भ २४ फरवरी १६५२ को ही भारत की कोटि-कोटि जनता के हृदय सम्राट प० जवाहरलाल नेहरू के कर कमलों द्वारा सम्भव हुआ। यह अधिनियम जम्मू एवं काश्मीर को छोड़कर भारत के सभी राज्यों में लागू

होता है। यह सरकारी एवं व्यक्तिगत दोनों ही प्रकार के कारखानों एवं प्रत्येक मजदूर जो ४०० रु० तक प्रति मास पाते हैं, पर लागू होता है।

प्रबन्ध (Administration)

इस योजना का प्रबन्ध कर्मचारी राज्य बीमा प्रमण्डल द्वारा किया जाता है। इस प्रमण्डल में शासकीय प्रमण्डल के ३८ सदस्य हैं, जिसमें केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारों, नियोक्ताओं एवं मजदूरों के प्रतिनिधि हैं। इसी प्रकार इसमें केन्द्रीय संसद तथा डाक्टरी पेशे के प्रतिनिधि भी हैं। कार्पोरेशन का शासन प्रबन्ध एक स्थायी समिति करती है जिसमें १३ सदस्य होते हैं, जो इन्हीं ३८ सदस्यों में से चुने जाते हैं। इस स्थायी समिति पर मजदूर एवं नियोक्ताओं का समान प्रतिनिधित्व होता है। इसी प्रकार इस अधिनियम के अन्तर्गत औषधोपचार एवं चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाओं का आयोजन करने तथा सलाह देने के लिये डाक्टरों की भी एक परिषद् बनाई गई है। इस औषधोपचार लाभ सभा (Medical Benefits Council) के २८ सदस्य हैं।

आर्थिक व्यवस्था (Finance)

इस कार्य-क्रम का आर्थिक प्रबन्ध कर्मचारी बीमा राज्य कोष (Employee's State Insurance Fund) से होता है। इस कोष में मालिकों एवं मजदूरों का चन्दा, केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारों के द्वारा दिया गया धन, और स्थानीय सरकारों के अनुदान एवं व्यक्तिगत सहायता शामिल है। प्रथम पाँच वर्षों तक प्रमण्डल के शासन सम्बन्धी खर्चे का ⅔ भाग सरकार स्वयं देगी।

मालिकों एवं मजदूरों के अंशदान के दर निम्नलिखित हैं—

भृत्ति समूह		मजदूरों का चन्दा	मालिकों का चन्दा	योग
		रु. आ पा.	रु आ पा	रु. आ. पा.
(१) दैनिक वेतन	१) से कम	—	०– ७–०	०– ७–०
(२) ”	१) से १॥) तक	०– २–०	०– ७–०	०– ६–०
(३) ”	१॥) से २) तक	०– ४–०	०– ८–०	०–१२–०
(४) ”	२) से ३) तक	०– ६–०	०–१२–०	१– २–०
(५) ”	३) से ४) तक	०– ८–०	१– ०–०	१– ८–०
(६) ”	४) से ६) तक	०–११–०	१– ६–०	– १–०
(७) ”	६) से ८) तक	०–१५–०	१–१४–०	२–१३–०
(८) ”	८) से अधिक	१– ४–०	२– ८–०	३–१२–०

श्रमिकों को लाभ (Benefits)

इस अधिनियम के अन्तर्गत श्रमिकों को निम्न लाभ प्राप्त होते हैं—

(१) बीमारी हित लाभ—बीमारी के समय श्रमिकों को उनके दैनिक वेतन का ½ नक्द दिया जाता है। ऐसी सहायता एक वर्ष में अधिक से अधिक ५६ दिन के लिए ही मिल सकती है। श्रमिकों को अधिनियम में बताये गये चिकित्सक के द्वारा इलाज कराने पर एवं प्रमाण पत्र के आधार पर यह लाभ दिया जाता है।

(२) मातृत्व हित लाभ (Maternity Benefit)—इसमें बीमायुक्त स्त्री श्रमिकों को शिशु जन्म के ६ सप्ताह पहले एवं ६ सप्ताह बाद तक छुट्टी मिलती है और लाभ की दर बीमारी लाभ की दर के समान ही है। परन्तु यह सहायता प्रतिदिन १२ आने से कम नहीं हो सकती।

(३) असमर्थता हित लाभ (Disablement Benefit)—बीमायुक्त श्रमिकों के अयोग्य हो जाने पर निम्न रूप में आर्थिक सहायता मिलती है—

(अ) अस्थायी (temporary) अयोग्यता में लाभ की धनराशि 'पूर्ण दर' (Full rate) होती है।

(ब) स्थायी आंशिक अयोग्यता (Permanent Partial disablement) में पूर्ण दर (Full rate) कुछ प्रतिशत के हिसाब से जीवन भर के लिए लाभ प्राप्त है जैसा कि श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम (Workmen's Compensation Act) में दिया हुआ है।

(स) स्थायीपूर्ण अयोग्यता (Permanent disablement) में पूर्ण दर (Full rate) पर जीवन भर के लिए नक्द आर्थिक सहायता मिलती है।

नोट—पूर्ण दर (Full rate) से तात्पर्य बीमा किये हुये मजदूर की औसत दैनिक मजदूरी का आधा भाग है।

(४) आश्रितों को लाभ (Dependant's Benefit)—जब बीमायुक्त श्रमिक कार्य करते समय मर जाता है तो उसके आश्रित निम्न रूप में नक्द आर्थिक सहायता पाने के अधिकारी हैं—

(अ) विधवा को जीवन भर के लिए या जब तक कि वह दूसरी शादी नहीं कर लेती है पूर्ण दर का ३/५ भाग मिलता रहेगा। यदि विधवाएँ दो हैं तो यह लाभ दोनों में बँट जायगा।

(ब) गोद लिए हुए या निज के लड़के या लड़कों को पूर्ण दर का २/५ भाग जब तक वह १५ वर्ष का नहीं हो जाता, मिलता रहेगा।

(ब) प्रत्येक अविवाहित लड़की को पूर्ण दर का २/५ भाग तब तक कि वह १५ वर्ष की नहीं हो जाती या विवाह नहीं कर लेती है, मिलता रहेगा।

उपर्युक्त दोनों दशाओं में यह सहायता १८ वर्ष तक जारी रहेगी, यदि वह लड़का या लड़की प्रमण्डल के सन्तोष के अनुसार शिक्षा प्राप्त करते रहते हैं।

(द) विधवा या बच्चों के न होने पर यह लाभ श्रमिक के माता पिता या किसी अन्य आश्रित व्यक्ति को कुछ निश्चित समय के लिए दिया जाता है जिसकी दर क्षतिपूर्ति अधिनियम (Workmen's Compensation Act) के अध्यक्ष द्वारा निर्धारित की जाती है। लेकिन यह सहायता किसी भी हालत में पूर्ण दर के आधे से अधिक नहीं हो सकता।

(५) चिकित्सा सम्बन्धी लाभ (Medical Benefit)—यह लाभ नकद नहीं प्राप्त होता है। इसमें बीमारी, चोट के कारण अयोग्यता या पुत्र जन्म के समय निःशुल्क चिकित्सा होती है। बीमायुक्त मजदूर जब भी बीमारी या पुत्र जन्म के सम्बन्ध में प्रार्थना पत्र दें वे इस प्रकार की सहायता के अधिकारी हैं। यह चिकित्सा प्रमण्डल द्वारा संचालित किसी चिकित्सालय में होता है। अब यह लाभ बीमायुक्त मजदूर के परिवार के अन्य सदस्यों को भी प्रदान किया जाता है।

योजना की प्रगति

अब यह योजना निम्नलिखित औद्योगिक क्षेत्रों में लागू कर दी गई है—

क्षेत्र		लाभ प्राप्त करने वाले श्रमिकों की संख्या
(१) उत्तर प्रदेश—	कानपुर	६६,०००
१ जनवरी, १९५६	लखनऊ, आगरा, सहारनपुर	२०,०००
१ अप्रैल, १९५७	बनारस, इलाहाबाद, रामपुर, कल्यानपुर (कानपुर)	१४,०००

क्षेत्र		लाभ प्राप्त करने वाले श्रमिकों की संख्या
(२) दिल्ली		५५,०००
१ अप्रैल, १९५८	हाथरस, अलीगढ़, शिकोहाबाद, बरेली	१२,०००
२८ मार्च, १९५९	मोदीनगर, सहजनवाँ, गाजियाबाद, मिर्जापुर	१०,०००
(३) पंजाब— मई, १९५३	अमृतसर, लुधियाना, अम्बाला, जालन्धर, अब्दुल्लापुर, जगाधरी, बटाला	३५,०००
(४) मध्य प्रदेश— जनवरी, १९५५	इन्दौर, ग्वालियर, उज्जैन, रतलाम	५२,०००
	बरहानपुर	३,०००
(५) बम्बई— जुलाई, १९५४	नागपुर	२२,०००
	बम्बई एवं अहमदाबाद	४,२५,०००
	अकोला, हिंगनघाट	१०,०००

क्षेत्र		लाभ प्राप्त करने वाले श्रमिकों की संख्या
(६) मद्रास— जनवरी १९५५	मद्रास	५२,०००
	कोयम्बटूर	३६,०००
	३ अन्य औद्योगिक केन्द्र	३७,०००
(७) आन्ध्र— सन् १९५५	हैदराबाद	
	सिकन्दराबाद	१८,०००
	७ अन्य औद्योगिक केन्द्र	१७,०००
(८) बंगाल—	कलकत्ता एवं हावड़ा जिला	२,३६,०००
(९) केरल—७	औद्योगिक केन्द्र	१७,०००
(१०) राजस्थान—६ औद्योगिक केन्द्र		
१ दिसम्बर १९५६	जैपुर जोधपुर बीकानेर लखेरी पल्ली बलवाड़ा	१६,०००
(११) मैसूर— २६ जुलाई १९५८	बंगलौर	५०,०००
२८ मार्च १९५९	गंगानगर धौलपुर	२०००
		कुल श्रमिक १२,५१,०००

कर्मचारी प्रावीडेंट फंड योजना

(Employees' Provident Fund Scheme)

कर्मचारी प्रावीडेन्ट फण्ड योजना स्वतन्त्र भारत में सामाजिक सुरक्षा की ओर दूसरा महत्वपूर्ण कदम है। इसके लिये विधेयक सन् १९४८ में लोकसभा में पेश किया गया था, लेकिन वह पास नहीं हो सका। १५ नवम्बर १९५१ को राष्ट्रपति ने एक अध्यादेश (आर्डिनेन्स) द्वारा इसे लागू किया और मार्च १९५२ में इसका कानून भी पास हो गया। प्रारम्भ में यह योजना केवल ६ उद्योगों में लागू की गई जो इस प्रकार हैं—(१) सीमेंट (२) सिगरेट (३) इन्जीनियरिंग (४) लोहा एवं स्पात (५) कागज (६) सूती, रेशमी ऊनी, एवं जूट के मिलों में। कुल मिला कर १९५६ मिलों के लगभग १५,००,००० मजदूरों को इससे लाभ प्राप्त हुआ। इन उद्योगों के प्रत्येक श्रमिक को जिसने एक साल की लगातार नौकरी की है कोष का सदस्य होने का अधिकार है। मजदूरों एवं मालिकों के इस अंशदान की दर मजदूरी, मँहगाई और अन्य सहायता को लेकर रुपये में एक आना है। कोष के शासन सम्बन्धी व्यय का ३ प्रतिशत मालिकों को देना पड़ता है। Coal-mines Provident Fund की तरह इसमें भी सरकार के प्रतिनिधि और मजदूरों एवं मालिकों के प्रतिनिधि कोष के शासन के सम्बन्ध में रहते हैं। सितम्बर १९५६ तक इस कोष की कुल एकत्रित धन-राशि ५५ करोड़ रुपये थी। धन जमा करने का कार्य केन्द्रीय सरकार के नाम होता है और सदस्यों को ३ प्रतिशत ब्याज भी दिया जाता है।

१ अगस्त १९५६ से यह योजना १४०० कारखानों के करीब ४,००,००० मजदूरों पर और लागू कर दी गई। इसमें चाय के बागीचों के श्रमिक, खान में काम करने वाले, शक्कर, दियासलाई और शीशे के कारखानों में काम करने वाले श्रमिक शामिल हैं।

८ दिसम्बर १९५६ को इस अधिनियम में संशोधन किया गया जिसके अनुसार यह योजना उन श्रमिकों पर भी लागू की जा सकती है जो कारखानों में काम नहीं करते हैं।

३१ दिसम्बर १९५६ से यह योजना समाचार पत्रों के श्रमिकों पर भी लागू कर दी गई है। ३० जून १९५७ तक यह योजना ३० नये उद्योगों में लागू की गई जिनमें मुख्य नील, लाख, भारी रसायन, रबड़, विद्युत, काफी, लौंग इलायची आदि हैं। लोकसभा में अभी हाल ही में कर्मचारी प्राविडेन्ट फंड (संशोधन) विधेयक, १९५८ स्वीकार किया गया है। इसका उद्देश्य मूल अधिनियम को उन संस्थानों पर लागू करना है जो सरकार या स्थानीय अधिकारियों के स्वामित्व के अन्तर्गत संचालित

हैं। ३० अप्रैल १९५८ तक इस अधिनियम के अन्तर्गत २६,७२,००० मजदूरों वाले ६५५८ कारखाने शामिल हैं। इस प्रगति को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि वह समय दूर नहीं जब यह योजना भारत के प्रत्येक उद्योग में लागू हो जायगी, विशेष रूप से जब कि भारत सरकार का रुझान इस ओर है।

छटनी का भत्ता (Retrenchment Compensation Scheme)

सामाजिक सुरक्षा के अन्तर्गत यह तृतीय योजना है। यह योजना उन सभी कारखानों में लागू होगी जो औद्योगिक संघर्ष अधिनियम १९४७ (Industrial Disputes Act, 1947) के अन्तर्गत आते हैं। इसके अन्तर्गत केवल उन्हीं श्रमिकों को लाभ प्राप्त हो सकेगा जिन्होंने लगातार कम से कम एक वर्ष नौकरी कर ली है। किसी भी श्रमिक की छटनी हो जाने पर उसको प्रत्येक वर्ष के लिए—जितने वर्ष उसने नौकरी की हो—१५ दिन के पारिश्रमिक के बराबर रुपया प्राप्त हो सकेगा। यदि कोई श्रमिक स्वयं ही नौकरी छोड़ देता है तब उसको कुछ भी लाभ न प्राप्त होगा।

वृद्धावस्था पेंशन योजना (Old Age Pensions Scheme)

वृद्धावस्था पेंशन योजना वास्तव में सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में सरकार द्वारा एक अन्य महत्वपूर्ण कदम है। यद्यपि यह योजना उत्तर प्रदेश को छोड़कर अभी विस्तृत रूप से सम्पूर्ण भारत में नहीं अपनाई गई, तो भी उत्तर प्रदेश का यह कदम अन्य राज्यों के लिए अग्रदूत सिद्ध होगा, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

इस योजना को सर्वप्रथम उत्तर प्रदेशीय सरकार ने अपने राज्य में सन् १९५७ से लागू किया है। इस योजना के सचालन के लिए सरकार द्वारा २५ लाख रुपये की धनराशि अलग रक्खी गई है जिसके अन्तर्गत उन सभी व्यक्तियों को, जिनकी आयु ७० वर्ष या अधिक है और जिनको सहारा देने वाला कोई कुटुम्ब का व्यक्ति नहीं है, सहायता प्रदान की जायगी। भीख माँगने वाले या जिनको सेवा आश्रमों द्वारा सहायता मिलती है इस योजना से लाभ नहीं उठा सकते। सहायता श्रम कमिश्नर द्वारा मन्जूर की जायगी। ऐसे व्यक्ति जो इस सहायता का सदुपयोग न करेंगे अथवा जिनका चाल चलन ठीक न होगा उनको जाँच करने के उपरान्त सहायता न दी जायगी। सहायता के रूप में क्या धनराशि दी जायगी, यह इस प्रकार सहायता प्राप्त करने वालों की संख्या पर निर्भर होगा। ऐसी सम्भावना है कि प्रत्येक व्यक्ति को कम से कम १५ रुपया माहवार अवश्य मिल सकेगा। केवल वही व्यक्ति जो उत्तर प्रदेश में कम से कम एक वर्ष से रह रहे हैं इस सहायता के भागी हो सकते हैं।

आलोचनात्मक विश्लेषण

उपर्युक्त योजनाओं पर एक विहगम दृष्टि डालने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत का सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में यह एक छोटा सा प्रारम्भ है। अन्य देशों की अपेक्षा यहाँ पर अभी तक केवल थोड़े से संकटों से सुरक्षित रखने का प्रबन्ध हो सका है। केवल वे मजदूर ही जो ४०० रुपया मासिक से कम वेतन पाते हैं और कारखानों में काम करते हैं, सामाजिक बीमा योजना से लाभ उठा पाते हैं। बाकी सभी श्रमिक इसके अन्तर्गत नहीं आते। यह संख्या जो लाभ प्राप्त कर सकती है, पूर्ण भारत की जनसंख्या का एक बहुत थोड़ा भाग है। कृषि श्रमिक तो अभी तक इस योजना के क्षेत्र के बाहर ही हैं। इसके अतिरिक्त आज भी बेकारी हित लाभ, वृद्धावस्था हित लाभ, नि शुल्क शिक्षा इत्यादि भारत के लिए स्वप्न हैं। अस्पतालों की अब भी कमी है और चिकित्सा का प्रबन्ध सन्तोषजनक नहीं है। अच्छी दवाओं का अभाव है।

उपसंहार

यह सत्य है कि कर्मचारी राज्य बीमा योजना में कई दोष हैं। इसमें भी सन्देह नहीं है कि भारत सरकार अभी तक सभी भावी संकटों से श्रमिकों को सुरक्षित नहीं कर सकी है। यह भी ठीक ही है कि अभी भारत की जनसंख्या का केवल थोड़ा भाग ही इस योजना से लाभ उठा सकता है और कृषि श्रमिक अब भी इसके क्षेत्र के बाहर हैं। परन्तु यह सब होते हुये भी इसमें सन्देह नहीं है कि भारत का सामाजिक सुरक्षा की ओर यह कदम सराहनीय है क्योंकि एशिया में भारत पहला देश है जिसने इतने बड़े पैमाने पर इस ओर कार्य किया है। भारत पाश्चमी देशों से भले ही पीछे हो परन्तु वे देश जो दासता की शृङ्खलाओं से अभी मुक्त हुए हैं उनमें भारत अग्रगण्य है। आज भारत को आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए कोषों की आवश्यकता है और यही कारण था कि पूर्णरूपेण सुरक्षा की योजना कार्य रूप में नहीं परिणित की जा सकी। वास्तव में कर्मचारी बीमा एवं फंड, छटनी के भत्ते एवं वृद्धावस्था पेंशन योजनाएँ सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में एक छोटा सा प्रारम्भ है जिन्होंने प्रारम्भ में सहस्रों श्रमिकों के अधकारमय भविष्य में प्रकाश की किरण उत्पन्न कर दिया है। सत्य तो यह है कि ये योजनाएँ आज भारत में एक छोटे-से अंकुर के समान है जो एक बहुत बड़े वृक्ष के रूप में उग आने की शक्ति रखती हैं और अपनी पूर्णता में आने पर ये उन तमाम व्यक्तियों को आश्रय एवं छाया प्रदान कर सकेंगी जो इसे चाहते हैं।

श्री जगजीवनराम के शब्दों में

"यद्यपि हमारा यह प्रयास बहुत ही लघु सा प्रारम्भ है, परन्तु इस रूप में हम उस नींव की स्थापना कर रहे हैं जिसके ऊपर स्वतन्त्र भारत के आर्थिक विकास का भव्य भवन निर्मित होगा।"[१]



[१] "Although we are making a small beginning, it is the corner stone of a great edifice which a free country seeking its Economic salvation must build." —Jagjiwan Ram.

१६

श्रम-कल्याण

(Labour Welfare)

श्रम कल्याण एक ऐसा शब्द है जो विविध आशयों की ओर इंगित करता है और इसी कारण से विभिन्न देशों ने इसका आशय भिन्न भिन्न रूप में प्रयुक्त किया है। विभिन्न आशयों के प्रयुक्त होने से विभिन्न देशों में इसका समान महत्व नहीं रह सका। राजकीय आयोग (Royal Commission) के शब्दों में—

"It is a term which must necessarily be elastic, bearing a somewhat different interpretation in one country from another, according to the different social customs, the degree of industrialisation and the educational development of the workers"

संयुक्त राज्य के श्रम सांख्यिक ब्यूरो के अनुसार—

"Anything for the comfort and improvement, intellectual and social, of the employees, over and above wages paid, which is not a necessity of the industry nor required"

श्रम कल्याण की परिधि में पूँजीपतियों द्वारा सम्पन्न ऐच्छिक कार्यों का समावेश होता है जिसमें कार्य करने की उत्तम दशाएँ, फैक्टरी में रोजगार प्रदान करना, श्रमिकों के स्वास्थ्य में सुधार एवं शक्ति में वृद्धि, सुरक्षा, मानसिक एवं चारित्रिक प्रगति, सामान्य कल्याण वृद्धि तथा औद्योगिक कुशलता में वृद्धि आदि सम्मिलित हैं। इसका सञ्चालन एवं संगठन श्रमिक, पूँजीपतियों अथवा अन्य सामाजिक संस्थाओं द्वारा होता है। यह कार्य अशिक्षित एवं अनभिज्ञ श्रमिकों के प्रति कर्तव्य की भावना का अभ्युदय करते हैं।

श्रमहितकारी कार्यों में श्रमिकों के लिए गृह, औषधि, शिक्षा, खेलकूद, मनोरञ्जन के साधन, सहकारी समितियाँ, जलपानगृह, शिशुगृह, स्नानगृह, स्वास्थ्य-वर्द्धक खाद्य पदार्थ, यातायात, प्रावीडेण्ड फण्ड तथा जीवन बीमा इत्यादि की व्यवस्था सम्मिलित की जाती है। संक्षेप में श्रमिक वर्ग को गरीबी, अज्ञान, सामाजिक

असमानता, दकियानूसी दृष्टिकोण, बीमारी एवं मलिन जीवन के बन्धनों से मुक्त कराने वाले संघर्ष के सभी पहलू उसमें निहित हैं।

श्रम कल्याण कार्य के उद्देश्य—

श्रमहितकारी कार्य औद्योगिक जनतन्त्र की आधार शिला है जिसके अभाव में सुव्यवस्थित सामाजिक संगठन असम्भव है। श्रम कल्याण के दो प्रमुख उद्देश्य हैं—(१) मानवीय कल्याण (२) आर्थिक उत्थान। नियोक्ता इसको आर्थिक बचत के उद्देश्य से देखता है। परन्तु श्रमिकों के मध्य निर्धनता तथा असन्तोष क्रांति के रूप में परिणित होकर न केवल उद्योगों को ही नष्ट कर सकते हैं वरन् समस्त समाज का सम्पूर्ण आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन भी छिन्न भिन्न कर सकते हैं। औद्योगिक कलहों की एक मात्र जड़ श्रमिकों में असन्तोष रहा है जिसके परिणाम-स्वरूप सामाजिक संघर्षों की उत्पत्ति हुई। औद्योगिक शांति को चिरस्थायी बनाने के हेतु श्रम कल्याण अत्यन्त अनिवार्य है। रामराज्य की साकार कल्पना, जिसमें एक सुव्यवस्थित सामाजिक न्याय की स्थापना हो, बिना औद्योगिक शांति के असम्भव ही प्रतीत होती है।

आज भारतीय श्रमिक निर्धनता, अनभिज्ञता एवं आलस्य के अन्धकार में अपने जीवन को व्यतीत कर रहा है। यदि उनके जीवन को सुखमय तथा औद्योगिक प्रगति में चार चाँद लगाने हों तो इन श्रम कल्याण कार्यों द्वारा ही हम इस लक्ष्य की प्राप्ति कर सकते हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य, रहन सहन आदि की समस्याएँ श्रमिकों के समक्ष हैं। श्रमिकों के अध्ययन के लिए वाचनालय एवं पुस्तकालयों का प्रबन्ध आवश्यक है। उनके बच्चों के पढ़ने के लिए नवीन स्कूलों एवं खेलकूद का भी प्रायोजन होना चाहिए। यदि इन समस्त बातों को ध्यान में रखते हुए श्रम कल्याण की योजना आरम्भ कर दी जाय तो निःसन्देह वह समय दूर नहीं जब कि भारत औद्योगिक प्रगति के पथ पर चलता हुआ अपनी आर्थिक मोक्ष की मंज़िल तक सुविधापूर्वक पहुँच सकेगा।

भारत में श्रम कल्याण का महत्व

श्रम कल्याण श्रमिकों के जीवन को सुखमय बनाने का एकमात्र प्रयत्न है क्योंकि इससे प्राप्त सुविधाओं के कारण श्रमिकों का आकर्षण कारखानों की ओर बढ़ेगा तथा जीवन की नीरसता कम होगी। इसके साथ ही साथ उनका नैतिक स्तर भी उच्च होगा एवं नागरिक उत्तरदायित्व की भावना का भी उदय होगा। श्रमिक वर्ग हमारे सामाजिक जीवन की गाड़ी का धुरा है, राष्ट्र की सम्पत्ति का उत्पादक एवं राष्ट्रीय जीवन की प्रगति का पोषक है।

श्रम कल्याण औद्योगिक यन्त्र का चलनशक्ति स्रोत है

औद्योगिक यन्त्र के दो प्रमुख तत्व हैं—प्रथम, पूँजीपतियों द्वारा विनियोजित धनराशि और द्वितीय मानवीय श्रमशक्ति जो कि निश्चेष्ट धनराशि में सक्रियता एवं कार्यशीलता का बीजारोपण करती है। अतएव उद्योग के हित में मानवीय तत्व को विस्मृत नहीं किया जा सकता है। श्रम तथा पूँजी औद्योगिक यन्त्र के दो विशाल पहिये हैं जिनके साथ-साथ चलने पर ही किसी उद्योग की प्रगति निर्भर है। इसलिये इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्रम कल्याण के कार्यों के कार्यान्वित होने से श्रमिक सन्तुष्ट रहेंगे और औद्योगिक यन्त्र भी अपनी तीव्र गति से प्रगति की ओर बढ़ता रहेगा।

वर्तमान समय में हमारे राष्ट्र में श्रमिक तथा पूँजीपतियों में परस्पर द्वन्द्व चल रहा है जिसका प्रमुख कारण श्रमिक की निराशा, निर्धनता, एवं विद्वेष की भावना है। अतः औद्योगिक जगत् में शांति की स्थापना के हेतु सहकारिता, सद्भावना तथा श्रम कल्याण की अत्यन्त आवश्यकता है। श्रम कल्याण के कार्य ही श्रमिकों में सद्भावना एवं नवीन स्फूर्ति उत्पन्न कर सकते हैं। आज यह स्पष्ट रूप से विदित हो चुका है कि समस्त उत्पादन की मुख्य आधारशिला श्रमिक ही हैं। इनके जीवन के साथ खिलवाड़ करना राष्ट्रीय उत्पादन एवं विकास के साथ खिलवाड़ करना होगा। वास्तव में श्रमिक ही देश के औद्योगिक ढाँचे के निर्माणकर्त्ता हैं। श्री जे० स्मिथ (J. Smith) के शब्दों को इस स्थान पर उद्धृत करना अतिशयोक्ति न होगी—

"Machinery is not more important than human life, profits are not more sacred than the baby in the workman's family, dividends have no priority over the security of the emloyee in his job, economic control of a plant does not give the right to exclude the working partner in the enterprise from a rightful voice in relations that vitally affect his just return of the things produced."

न्यायसंगत सामाजिक व्यवस्था की स्थापना

आज भारत एक कल्याणकारी राज्य की स्थापना समाजवादी ढंग पर करने का प्रयत्न करके महात्मा गाँधी के रामराज्य की कल्पना को साकार करना चाहता है। धन के समान वितरण के अभाव में इस उद्देश्य की पूर्ति कठिन प्रतीत होती है। अत: समाज में समान धन का वितरण होना अनिवार्य है। आधुनिक युग में कोई भी समाज बिना सेवा भाव के स्थिर नहीं रह सकता। अतएव श्रम-कल्याण के कार्य एक ऐसे सुन्दर सामाजिक न्यायसंगत व्यवस्था की स्थापना कर सकने में सफल होंगे जो

कि राष्ट्र का पूर्णरूपेण आर्थिक विकास कर सकने में काफी सहायक सिद्ध होंगे। श्रम कल्याण पर किया गया व्यय निश्चय ही धन के समान वितरण में सहायक सिद्ध होगा।

सन्तुष्ट, स्थायी तथा कुशल श्रमशक्ति

भारतीय औद्योगिक श्रमिकों के अकुशल होने का एकमात्र कारण निर्धनता एव उनका अशिक्षित होना है। सरकार एव नियोक्ताओं द्वारा अभी तक इनकी शिक्षा की ओर बिलकुल ध्यान नहीं दिया गया यद्यपि टाटा न श्रामकों के बच्चों के लिये पाठशालाओं का आयोजन किया है, कुछ सामाजिक सस्थाओं ने भी इस ओर सराहनीय कार्य किये हैं, परन्तु राज्य को भी प्राथमिक नि शुल्क अनिवार्य शिक्षा प्रदान करनी चाहिये जिससे कि श्रमिकों की अशिक्षितता एव अज्ञानता को खत्म किया जा सके। भारतीय श्रमिक असहनीय एव कष्टदायक वातावरण में कार्य करने के पश्चात् जब कारखाने से निकलता है तो उसे मनोरजन के साधनों की आवश्यकता होती है जिसके अभाव के कारण वह शराबी, जुआरी, वेश्यागामी हो जाता है। श्रम कल्याण कार्यों क सम्पन्न होने से न केवल उसके जीवन तथा कार्य में ही सुधार होगा, वरन् उत्पादन की वृद्धि होगी जिसमे ही राष्ट्र का उत्थान एव विकास निहित है।

उत्पादन शक्ति में वृद्धि

उत्पादन, अधिक उत्पादन तथा अत्यधिक उत्पादन ही आज भारत का नारा है तथा इस पर ही देश की सम्पन्नता आश्रित है। जब श्रमिक यह अनुभव करेंगे कि उद्योगपति तथा सरकार उनके प्रतिदिन के जीवन को भली भाति सुखी, सम्पन्न एव उन्नत करने का प्रयत्न कर रहे हैं तो उसकी मानसिक भ्राति सन्तुष्टता में परिणित हो जायगी। वह उद्योग में अधिक उत्सुकता, लगन तथा परिश्रम से कार्य करेगा एव अपना तन, मन, धन लगाकर उसको उन्नतिशील बनाने का प्रयत्न करेगा। सन्तुष्टता ही स्वेच्छा पूर्वक कार्य के कुशल सम्पादन की प्रेरणा है। श्रम कल्याण एक विनियोग है जिससे उद्योगपतियों तथा देश दोनों को ही लाभ होगा।

श्रम कल्याण मानवता की पुकार है

श्रमिक मानव है और उसके साथ पशु के समान व्यवहार कहाँ तक न्याय सगत कहा जा सकता है। श्रमिक के पारिश्रमिक का निर्धारण निर्जीव एव चेतनाहीन वस्तुओं के मूल्य के समान कदापि नहीं किया जा सकता। मानव के नाते उसको वे सभी जीवन की सुविधाएँ प्राप्त करने का जन्म सिद्ध अधिकार है जो मानव को पशुओं से भिन्नता प्रदान करती हैं। आज समय की पुकार के साथ-साथ उनको मानव होने

के नाते समाज में उचित स्थान देना ही होगा, यह अनिवार्य है जिसे कोई भी टाल नहीं सकता। श्रम कल्याण कार्य इस दिशा में उचित कदम होगा, इसमें सन्देह नहीं। श्री जे० स्मिथ ने ठीक ही लिखा है—

"It is the birth right of those surcharged with passion and emotion, rebellious against hardships and injustices, desirous of life, and the attainment of those elemental rights and privileges which even the dullest of human beings sub consciously yearns for."

आज भारत अपने आर्थिक मोक्ष के द्वार पर खड़ा है और अत्यधिक उत्पादन, समाजवादी समाज की रचना तथा सुदृढ़ जनतन्त्रवाद की स्थापना उसका उद्देश्य है। श्रम कल्याण ही भारत को उसके लक्ष्य प्राप्ति में योग प्रदान कर सकता है।

भारत में वर्तमान अवस्था

सरकार द्वारा श्रम कल्याण कार्य

प्रथम विश्व युद्ध (१९१४ १८) तक श्रमिकों की दशा अत्यन्त शोचनीय रही परन्तु युद्धोपरान्त सरकार ने श्रमिकों की ओर ध्यान दिया तथा द्वितीय महायुद्ध ने इस आंदोलन को सहयोग प्रदान किया। इस समय श्रमिकों का जीवन-स्तर बहुत गिर गया था। उसके समक्ष मकानों की समस्या थी, वस्तुओं के भाव भी बढ़ गये थे। इन विषम परिस्थितियों का प्रभाव श्रमिकों की कार्यकुशलता पर बुरा पड़ा। अत. सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित होना अनिवार्य था, क्योंकि राष्ट्र की उन्नति बिना अधिक एवं कुशल उत्पादन के सम्भव नहीं थी।

द्वितीय युद्धकाल के समय में अस्त्र शस्त्र के कारखानों में श्रमकल्याण की योजनाओं का कार्यान्वित करना स्वाभाविक था क्योंकि इससे श्रमिकों के चरित्र की रक्षा तथा अत्यधिक उत्पादन की सम्भावना थी। धीरे धीरे ये श्रम कल्याण के कार्य व्यक्तिगत व्यवसायों में भी कार्यान्वित किये गये।

कोयले की खानों में काम करने वाले श्रमिकों के लिए एक श्रम हितकारी कोष खोल दिया गया। सामाजिक बीमा, औद्योगिक आवास योजनाएँ तथा श्रमिकों के कार्य करने की दशाओं के विषय में सरकार ने कदम उठाये। फैक्टरी कानून १९४८, खान अधिनियम १९५२ तथा उद्यान अधिनियम १९५१ के अन्तर्गत जलपानगृह, विश्रामगृह, चिकित्सा सहायता एवं श्रमिक अफसरों की नियुक्ति हुई। "अभ्रक खान श्रमिक हितकारी कोष" अधिनियम १९४७ ने अभ्रक खानों के श्रमिकों के लिए चिकित्सा, शिक्षा एवं आवास की सुविधाएँ प्रदान कीं।

कारखाना अधिनियम के अन्तर्गत कल्याणकारी कार्य

इस अधिनियम के अनुसार श्रमिकों के हेतु मकानों की व्यवस्था, काम के घंटे, रोशनदान, मशीनों को ढक कर रखना, चिकित्सा, और शिशु गृहों का आयोजन किया गया। ५०० या इससे अधिक श्रमिक वाले कारखानों में श्रम कल्याण अधिकारी की नियुक्ति अनिवार्य कर दी गई।

श्रम हितकारी कोष

१९४६ में श्रम कल्याण कोष की स्थापना के लिए एक योजना बनाई गई। इस कोष की आय को उन समस्त श्रम कल्याण कार्यों पर व्यय किया जायगा जिनके लिए भारत के किसी भी कानून में अभी तक व्यवस्था नहीं की जा सकी है। १९४७-४८ में यह कोष केवल १२,००० श्रमिकों के लिए ही था। इस कोष से श्रमिकों के बाहरी तथा भीतरी खेल कूद, वाचनालय एवं पुस्तकालय, रेडियो, शिक्षा तथा मनोरंजन की सुविधाएँ प्रदान की जायेंगे। व्यक्तिगत व्यवसायों में श्रम हितकारी ट्रस्ट कोष की सिफारिश भी सरकार ने की है।

रेलवे तथा बन्दरगाहों में श्रम हितकारी कार्य

श्रमिकों के बच्चों की शिक्षा, चिकित्सा तथा खेल कूद की व्यवस्था रेलवे करती है। सस्ते गल्ले की दुकानें भी रेलवे कर्मचारियों के लिए चलाई गई हैं। बन्दरगाहों में भी चिकित्सालय तथा सुयोग्य डाक्टर हैं। बम्बई, कलकत्ता तथा विशाखापट्टम आदि बन्दरगाहों में सहकारी समितियाँ भी पाई जाती हैं।

राज्य सरकारों द्वारा श्रम हितकारी कार्य

बम्बई

१९३९ से बम्बई में श्रमिकों के हेतु हितकारी कार्य प्रारम्भ हुए। सन् १९३९ में इस कार्य के लिए १२,००० रु० स्वीकृत हुए जो कि धीरे धीरे बढ़ते गये। १९५३ में सरकार ने यह कार्य श्रम हितकारी बोर्ड के सुपुर्द कर दिया जिसमें कि १४ सदस्यों का आयोजन है। आजकल यह बोर्ड ५४ श्रमहितकारी केन्द्रों को सहायता प्रदान करता है। इन केन्द्रों में नर्सरी स्कूल, स्त्री शिक्षा विभाग, पुरुषों के लिए मैदानी तथा भीतरी खेल-कूदा की व्यवस्था, स्नानागार, चल तथा अचल पुस्तकालयों की व्यवस्था है। रेडियो तथा वाद्य यंत्र भी यहाँ रखे जाते हैं। औषधालय भी केन्द्रों में रहता है। सरकार ने अब श्रम कल्याण कार्यकर्ताओं के लिए एक प्रशिक्षण विद्यालय तथा चार औद्योगिक प्रशिक्षण वर्कशाप की व्यवस्था भी की है। यह विद्यालय बम्बई, अहमदाबाद तथा शोलापुर में खोल भी दिये गये हैं।

उत्तर प्रदेश

सन् १९३७ के पश्चात् ही उत्तर प्रदेश में श्रमिकों के हितकारी कार्यों की ओर सरकार का ध्यान आकृष्ट हुआ तथा औद्योगिक श्रमिकों के लिए कानपुर में श्रम हितकारी केन्द्र खोले गये। आजकल ४२ श्रमहितकारी केन्द्र राज्य के प्रमुख औद्योगिक शहरों में है। यह शहर कानपुर, लखनऊ, बरेली, मुरादाबाद, सहारनपुर, गाजियाबाद, बनारस, मिर्जापुर, आगरा, फिरोजाबाद, अलीगढ़, हाथरस, इलाहाबाद, रुड़की, रामपुर तथा झाँसी हैं। ये समस्त केन्द्र तीन भागों में विभक्त कर दिये गये हैं—'क' 'ख' तथा 'ग'। 'क' श्रेणी के केन्द्रों में एलोपैथिक का चिकित्सालय, पुस्तकालय व वाचनालय, स्त्रियों के लिए कढ़ाई तथा सिलाई की कक्षायें, बाहरी तथा भीतरी खेल, सङ्गीत, रेडियो, वाद्य सङ्गीत तथा प्रसूत गृहों की व्यवस्था होती है। 'ख' श्रेणी के केन्द्रों में भी करीब करीब यही सुविधाएँ हैं परन्तु यहाँ होम्योपैथी का चिकित्सालय होता है। 'ग' श्रेणी के केन्द्रों में पुस्तकालय तथा वाचनालय, खेल-कूद, तथा रेडियो होते हैं।

१९३७ में १०,००० रुपया, १९४६ में २५ लाख रुपया तथा आजकल ८ लाख रुपया वार्षिक श्रम हितकारी कार्य में व्यय होता है। १९५४-५५ के बजट में श्रम कल्याण के हेतु ८,१८,६०० रुपया निर्धारित किया गया था।

इन समस्त श्रम कल्याण केन्द्रों के अलावा कानपुर में श्रमिकों के लिए सरकारी श्रम कल्याण टी० बी० क्लीनिक भी हैं। १०० रु० प्रतिमास तक पाने वाले श्रमिकों को यह चिकित्सा सहायता प्रदान करती है।

अन्य राज्य

अन्य राज्य सरकारें भी अनेक श्रम हितकारी केन्द्रों का सचालन कर रही हैं। विभिन्न राज्यों में केन्द्रों की संख्या निम्न प्रकार है—

पश्चिमी बंगाल	—	२५
सौराष्ट्र	—	२०
बिहार, हैदराबाद तथा ट्रावनकोर कोचीन		३ (प्रत्येक राज्य में)
मैसूर	—	२
मद्रास	—	३
मध्यप्रदेश	—	४

उद्योगपतियो द्वारा श्रमहितकारी कार्य

भारत में उद्योगपति श्रम कल्याण कार्य के प्रति सदैव से उदासीन रहे हैं परन्तु आजकल उद्योगपतियों ने इस ओर कुछ विशेष जागरूकता दिखलाई है। उनके यह

श्रमहितकारी कार्य अधिकांश में श्रमिकों के प्रति दयाभावना तथा सरकारी बंधनों पर आधारित हैं। वे ऐसे कार्य को अपना व्यावसायिक कर्तव्य समझ कर सम्पन्न नहीं करते। भारतीय जूट मिल संघ, भारतीय चाय संघ, टाटा तथा सिंहानियाँ आदि प्रमुख हैं जिन्होंने श्रम कल्याण के हेतु कुछ कार्य किये हैं।

सूती मिल

नागपुर के एम्प्रेस मिल्स, दिल्ली क्लाथ जनरल मिल्स, जिवाजीराव काटन मिल्स, बकिंघम एण्ड कर्नाटिक मिल्स, मदुरा के काटन और सिल्क मिलों में तथा मदुरा मिल्स कम्पनी ने श्रमकल्याण के हेतु अत्यन्त ही सराहनीय कार्य किये हैं। प्रसूतगृह, जलपानगृह, भीतरी तथा बाहरी खेल कूद, सहकारी समितियाँ, विद्यालय, प्राविडेण्ट फण्ड योजना तथा सस्ते मकान आदि की सुविधाएँ इनमें प्रदान की जाती हैं। समस्त मिलों ने चिकित्सालय तथा योग्य डाक्टरों का प्रबन्ध किया है।

जूट उद्योग

जूट उद्योग में श्रम हितकारी कार्यों को करने वाली एकमात्र संस्था जूट मिल संघ है, जिसने हजारी बाग, कनकी नारा, सीरामपुर, टीटागढ़ और भद्रेश्वर में श्रमहितकारी केन्द्रों की स्थापना की है। इन केन्द्रों में मैदानी एवं भीतरी खेल कूद की व्यवस्था की जाती है। महिला कल्याणकारी समिति तथा महिला क्लब आदि को भी संगठित करने का प्रयत्न किया गया है। समस्त जूट मिलों में एक एक चिकित्सालय है। प्रसूतगृहों के लिए क्लीनिक, शिशुगृह तथा जलपान गृह आदि का भी प्रबन्ध है।

इञ्जीनियरिंग उद्योग

इंजीनियरिंग उद्योग में १,००० या इससे अधिक श्रमिक वाले समस्त कारखानों में चिकित्सालय हैं। स्त्री श्रमिक के लिए शिशुगृहों का भी निर्माण किया गया है। जलपानगृह तो प्रायः समस्त कारखानों में उपलब्ध हो चुके हैं। श्रमिकों के बच्चों की शिक्षा के लिए पाठशालाओं का भी आयोजन है। १०० से अधिक श्रमिक जहाँ काम करते हैं उन कारखानों में प्राविडेन्ट फण्ड योजना लागू होती है। टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी जमशेदपुर विशेष उल्लेखनीय है। इसमें ४०० पलंग वाला अस्पताल, ५१ डाक्टर, ८ हाई स्कूल, ११ मिडिल स्कूल और १६ प्राइमरी स्कूल खोले गये हैं। विशाल क्रीड़ास्थल तथा जलपानगृह आदि भी हैं।

शक्कर उद्योग

कुछ शक्कर के कारखानों को छोड़कर समस्त में चिकित्सालयों की व्यवस्था है तथा वे श्रमिकों के बच्चों की शिक्षा का भी प्रबन्ध करते हैं। बहुत से कारखानों में

श्रमिकों के लिए क्लबों, मनोरंजन के साधनों तथा खेलकूद का भी आयोजन किया गया है। परन्तु कुछ हो कारखानों में जलपानगृह तथा सहकारी समितियाँ प्राप्त होती हैं। श्रमिकों के लिए मकानों का भी प्रबन्ध किया गया है।

उद्यान

आसाम तथा पश्चिमी बंगाल के अधिकांश बड़े-बड़े चाय उद्यानों में अस्पताल बने हैं। श्रमिकों के बच्चों की प्राइमरी शिक्षा के लिए स्कूल हैं। चिकित्सा सहायता के लिए एक कमेटी की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया गया है। सन् १९५१-५२ में केन्द्रीय चाय बोर्ड द्वारा चार लाख रुपये उद्यान श्रमिकों की हितकारिता के लिए सुरक्षित किये गये जोकि उनकी मनोरंजन की सुविधाओं तथा दस्तकारी की शिक्षा में व्यय किये जायेंगे।

श्रमिक संघों द्वारा हितकारिता-कार्य

सच तो यह है कि भारत में श्रमिक संघ अभी तक अपनी शैशव अवस्था में हैं तथा सुयोग्य सदस्यों के अभाव में श्रमिक संघ हितकारिता कार्य को सुचारु रूप से कार्यान्वित नहीं कर सके हैं। तथापि कुछ संघों ने सराहनीय-कार्य अवश्य किया है, जिनमें अहमदाबाद टैक्सटाइल श्रमिक संघ, मजदूर सभा कानपुर एवं मिल मजदूर संघ इन्दौर प्रमुख हैं। इन्होंने पुस्तकालयों, शिक्षालयों तथा क्लबों की व्यवस्था की है। कानपुर मजदूर सभा ने चिकित्सालय तथा वाचनालय का भी प्रबन्ध किया है। रेलवे संघ ने कोष, बीमे, बीमारी इत्यादि के लिए भी व्यवस्था की है। सहकारी समितियाँ भी बहुत से स्थानों में उपलब्ध हैं।

उपर्युक्त सभी कार्य बहुत सीमित क्षेत्र में ही किये गये हैं। आमतौर पर अब तक मजदूर संघों के मंच केवल आर्थिक शोषण की प्रवृत्ति और उस जैसी अनेक कार्यवाहियों पर प्रहार करने के मंच रहे हैं और एक बड़ा कार्यक्षेत्र श्रमकल्याण के रूप में अभी अछूता पड़ा है जिसके द्वारा मजदूरों को आज की अपेक्षा अधिक खुशहाल, उसके वातावरण को अधिक आकर्षक, उसके सामुदायिक जीवन को अधिक सम्पन्न एवं उसके सामाजिक ज्ञान को अधिक जागरूक बनाया जा सकता है। कुछ बड़े श्रम संघ अवश्य इस दिशा में कार्य कर रहे हैं लेकिन वे अपवाद मात्र हैं। यदि श्रम-संघ इन कामों को अपने हाथ में ले लें तो वे सहज ही में मजदूर वर्ग के लिए धरती पर स्वर्ग की रचना कर सकते हैं। श्रम-संघों को यह स्वीकार कर लेना चाहिये कि जब तक वे एक खुशहाल भविष्य के निर्माण की जिम्मेदारी अपने ऊपर नहीं लेंगे तब तक उनका कोई भी प्रयत्न श्रमिक वर्ग के लिए धरती पर स्वर्ग की रचना नहीं

कर सकेगा। श्रम संघों के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि वे इस मामले में जागरूक हों और स्थिति को परखें क्योंकि "समय और तूफान किसी की प्रतीक्षा नहीं करता।"

आलोचनात्मक अध्ययन एवं उपसंहार

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्टतया विदित होता है कि भारतीय श्रमिकों की कार्यक्षमता वृद्धि तथा कल्याण के हेतु अब तक जितने प्रयत्न हुये हैं, अत्यन्त अल्प हैं। यद्यपि हमारी सरकार ने विभिन्न श्रम केन्द्रों में अनेक सुविधाओं को प्रदान करने का प्रयत्न किया है परन्तु श्रमिकों की अशिक्षितता, श्रमिक संघों में धन का अभाव आदि को देखते हुए यह सुविधाएँ तुच्छ हैं। पूँजीपति श्रम कल्याण के प्रति उदासीन हैं अतः हमारी सरकार का यह प्रमुख कार्य होना चाहिए कि वह उद्योगपतियों पर ऐसे बन्धन लगाये जिससे वे श्रमकल्याण काम में सहयोग प्रदान करने के लिए बाध्य हो जायें। श्रम कल्याण केन्द्रों को बढ़ाना चाहिये। इन सब के अतिरिक्त उद्योगपतियों को भी इसका महत्व समझना चाहिये। क्योंकि उद्योग के कुशल सचालन के लिए श्रमिकों का सतुष्ट एव स्वस्थ होना आवश्यक है।

श्रम अनुसधान कमेटी के अनुसार उद्योगपति श्रमकल्याण के प्रति अत्यन्त उदासीन हैं। परन्तु युग परिवर्तन के साथ-साथ उन्हें भी चलना होगा। अब श्रमिक शोषण को नहीं सह सकता और अब इसके साथ न्याय एव समानता को प्रदान करने की तीव्र आवश्यकता है। अतः श्रमिकों की समस्या को सुलझाने में एक मानवीय दृष्टिकोण उत्पन्न किया जाय, तभी भारतीय श्रमिक विश्व के अन्य राष्ट्रों के श्रमिकों की भाति शक्तिशाली होकर देश का नवनिर्माण कर सकेगा। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सरकार तथा उद्योगपतियों को समझना चाहिये कि श्रम कल्याण पर किया गया व्यय एक प्रकार से उनकी पूँजी है जो श्रमिकों की कार्यक्षमता में वृद्धि के कारण अधिक उत्पादन के रूप में पुनः प्राप्त हो जायगी। श्रम कल्याण की समस्या को सुलझाने के लिए मानवीय दृष्टिकोण अपनाना होगा तभी निरीह एव जर्जरित भारतीय श्रमिक अन्य राष्ट्रों के श्रमिकों के समक्ष कार्यकुशल होकर देश के आर्थिक विकास की नींव दृढ़ कर सकेगा। वास्तव में श्रम कल्याण मानवता के नाते श्रमिकों का जन्म सिद्ध अधिकार है जिससे उनको वंचित रखना सामाजिक अन्याय है। विलियम जे० स्मिथ ने ठीक ही लिखा है—

"When the industrial and economic system of a country had been conducted over a series of years, on the policy and practice of rugged individualism, which treated labour

as a commodity, brooked no opposition of any kind and defied the Government and even God Himself to say No! to its operations, the ground work for a first class industrial conflict had been layed."

अतः देश में औद्योगिक शान्ति, समाजवादी अर्थ-व्यवस्था एवं आर्थिक विकास की आधारशिला श्रम कल्याण पर ही निर्मित की जा सकती है। श्रम कल्याण पर ही भारत का उज्ज्वल भविष्य अवलम्बित है।



श्रम-सम्बन्धी अधिनियम

(Labour Legislation)

पिछली शताब्दी के अन्त तक राज्य का उद्योगों पर कोई भी हस्तक्षेप न था और न श्रमिकों से ही कोई विशेष सम्बन्ध था। फैक्टरी कानून के न होने के कारण उद्योगपति श्रमिकों का मुख्यतया स्त्री एवं बच्चों का शोषण करने के लिए स्वतन्त्र थे। काम करने के घण्टे लम्बे, कम मजदूरी एवं फैक्टरी में काम करने की शर्तें अमानुषिक थीं। उस समय काम करने वाले बच्चों की आयु, सप्ताह में छुट्टियाँ एवं मशीनों से चोट खाये हुये श्रमिकों के लिए कोई सुविधा न थी। यद्यपि भारत में औद्योगिक विकास का प्रारम्भ देर से हुआ किन्तु यहाँ के उद्योगपति पाश्चात्य अनुभवों से लाभ न उठा सके। अहातों की बस्तियों एवं अधिक आबादी ने श्रमिकों के स्वास्थ्य एवं उनकी कार्य क्षमता पर बुरा प्रभाव डाला और इसके साथ ही साथ राष्ट्र का उत्पादन भी अपेक्षाकृत कम रहने लगा।

श्रमिक अधिनियम की आवश्यकता

समय के परिवर्तन के साथ साथ शताब्दियों से शोषित एवं पीड़ित श्रमिकों के जीवन में नई चेतना एवं स्फूर्ति का प्रादुर्भाव हुआ। श्रमिकों की दयनीय स्थिति ने भारतीय सार्वजनिक कार्यकर्ताओं तथा समाज सुधारकों के हृदय को पिघला दिया। परिणामस्वरूप श्रमिकों ने अपनी दयनीय दशा से छुटकारा पाने के लिए संघर्ष प्रारम्भ कर दिया और उनको अन्य देश सेवकों की सहानुभूति भी प्राप्त होने लगी। इसके बाद सूती कपड़े की मिलों के विकास पर लंकाशायर के उद्योगपतियों में ईर्ष्या उत्पन्न हुई। उनका विचार था कि फैक्टरी विधान के अभाव में भारतीय बाजार में भारतीय उद्योगपति उनके साथ प्रतिस्पर्धा के लाभ में था। अतः उन्होंने भारतीय सूती मिलों पर फैक्टरी कानून लागू करने के लिए सरकार पर दबाव डाला अस्तु १८७५ में बम्बई सरकार ने एक फैक्टरी आयोग की नियुक्ति की जिसकी सिफारिशों के फलस्वरूप १८८१ में पहला फैक्टरी एक्ट बना, तो भी प्रथम महायुद्ध तक श्रमिक अधिनियम का कोई महत्त्वपूर्ण स्थान न था। उसके बाद देश के बढ़ते हुए औद्योगीकरण, श्रमिक

वर्गों में वर्गीय जागृति की वृद्धि तथा उनको अपने शक्ति तथा महत्व का ज्ञान, भारत सरकार का अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ तथा उसके प्रस्ताव के प्रति उत्तरदायित्व की स्वीकृति तथा कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों के आगमन के कारण अभी हाल में एक बड़ी संख्या में श्रम सन्नियम बनाये गये हैं।

कारखाने के नियम (Factory Acts)

Factory Act of 1881

यह प्रथम अधिनियम १०० से अधिक श्रमिकों एवं शक्ति के उपयोग होने वाली फैक्टरी में लागू होता था। इसके अनुसार ७ वर्ष से कम बच्चों का कार्य निषेध और ७ से १२ वर्ष तक के लिए १ घण्टे विश्राम एवं ६ घण्टे कार्य करना निर्धारित किया गया। साथ ही मास में ४ दिन छुट्टी की भी व्यवस्था थी। स्त्री एवं पुरुषों के लिए कोई अन्य सुरक्षा नहीं प्रदान की गई।

Factory Act of 1891

प्रथम नियम के अपर्याप्त होने के कारण सन् १८६० के बम्बई फैक्टरी कमीशन और १८६० के फैक्टरी श्रमिक कमीशन ने नये कानून को पास करने के लिए बाध्य किया। यह ५० श्रमिकों वाले कारखानों पर लागू होता था और इसमें सप्ताह में एक दिन छुट्टी, १२ बजे मध्याह्न से २ बजे तक विश्राम एवं न्यूनतम आयु ६ वर्ष रखी गई। ६ वर्ष से १४ वर्ष तक वालों के लिए ७ घण्टे कार्य, ११ घंटे स्त्रियों के लिए एवं १½ घण्टा विश्राम करने की व्यवस्थाएँ की गईं। स्त्रियों को ८ बजे रात्रि से प्रात॰ ७ बजे तक कार्य करना वर्जित कर दिया गया। कारखाने के अन्दर कार्य की दशाओं में सुधार, सफाई व रोशनी की भी व्यवस्था निर्धारित कर दी गई।

Factory Act of 1911

सन् १६०५ में बम्बई में विद्युत शक्ति की व्यवस्था होने के कारण कार्य करने के घण्टों में वृद्धि, लङ्काशायर उद्योगपतियों के शोर और फ्रीरर स्मिथ कमेटी १६०६ की एवं कारखाना श्रम आयोग की रिपोर्ट ने इस अधिनियम को लागू करने को बाध्य कर दिया। इसमें पुरुषों के लिए १२ घण्टे (आधा घण्टा विश्राम सहित), बच्चों के लिए ६ घण्टे एवं रात्रि में स्त्रियों को कार्य करने के लिए वर्जित कर दिया।

Factory Act of 1922

सन् १६११ के अधिनियम के पश्चात् एक नया संशोधित अधिनियम बनाया गया जिसमें न्यूनतम आयु १२ वर्ष हुई और १२ वर्ष से १५ वर्ष तक के लड़कों के

लिए ६ घटे साथ में आधा घटा विश्राम प्रत्येक ४ घटे के पश्चात् नियत किया गया। पुरुषों को १२ घटे प्रतिदिन या ६० घटे सप्ताह मे एव स्त्रियों के लिए साय ७ बजे से ५॥ बजे प्रात तक कार्य न करने की व्यवस्था की गई।

Factory Act of 1934

श्रमिक कार्यकर्ता, समाज सुधारकों के आन्दोलन तथा सन् १९३१ के रायल श्रम आयोग के महत्वपूर्ण सुझावों के आधार पर यह नियम पास किया गया। इसम १५ से १७ साल वालों का किशोर वर्ग बनाया गया और इसमें डाक्टरी प्रमाण पत्र देना पड़ता था। कार्य क ५ घटे और एक दिवस की सप्ताह म छुट्टी की व्यवस्था की गई। स्त्रियों के कार्य के लिए १० घटे एव रात्रि में स्त्रियों तथा बच्चों को कार्य करने से वर्जित कर दिया गया। अतिरिक्त कार्य के अतिरिक्त वतन की भी व्यवस्था की गई। श्रमिकों के स्वास्थ्य एव सुरक्षा क लिए व्यवस्था की गई।

Factory Act of 1948

सन् १९३४ के नियमों के दोषों को दूर करने के लिए सन् १९४८ में नया अधिनियम बनाया गया जो १ अप्रैल १९४९ में लागू कर दिया गया।

इस कानून के अनुसार राज्य सरकार को पूर्ण अधिकार दे दिये गये थे। यह सभी कारखानों पर लागू होता है। सामयिक तथा निरतर श्रमिकों का भेद समाप्त कर दिया गया। राज्य सरकार को उद्योगों के पजीकरण एव लाइसे■ देने के लिए नियम बनाने क अधिकार प्रदान किये गये। कारखानों के मालिकों को सरकार को १५ दिन के अ दर पूर्ण विवरण देना अनिवार्य कर दिया गया। श्रमिकों के स्वास्थ्य के लिए, शीतल जल, स्वच्छता, थूकदान एव स्नानागार की व्यवस्था की गई। ३५० क्यूबिक फीट जगह प्रत्येक श्रमिक के मध्य होना चाहिये। साथ ही उपहार गृहों, विश्रामालयों, शिशुगृह आदि की भी व्यवस्था की गई। ५०० से अधिक श्रमिकों वाल कारखानों में श्रमहितकारी आफिसर की नियुक्ति अनिवार्य कर दी गई। प्रतिदिन काम क घण्टे ९, सप्ताह म ४८ घण्टे तथा एक दिन की छुट्टी एव प्रत्येक ५ घण्टों के पश्चात् ½ घण्टा विश्राम की तथा कैन्टीन स्थापना की भी व्यवस्था की गई। अतिरिक्त काम के लिए दुगना वतन, न्यूनतम आयु १४ साल व लड़कों के लिए ४½ घण्टे काम के रखे गये। स्त्रियों व बच्चों के लिए रात्रि ७ से प्रात ६ बजे तक काम करने को निषेध कर दिया गया। एक साल समाप्ति पर दूसरे साल में दस दिन का अवकाश वतन सहित दिया जायगा और बच्चों को १४ दिन का अवकाश मिलेगा। इसके अतिरिक्त प्रौढ़ श्रमिकों को निरन्तर काम करने के बाद २० दिन में एक दिन और बच्चों के लिए प्रत्येक १५ दिन उपरात एक दिन अवकाश का रखा गया।

दूकानों एवं व्यावसायिक केन्द्रों के लिए कानून (Legislation for Shops and Commercial Establishments)

रेस्ट्राँ, थियेटर, व्यापारिक गद्दी, मनोरंजन केन्द्रों में काम करने के घण्टों को नियत करने के लिए बम्बई में सन् १६३६ में दूकानों तथा व्यापारिक संस्था अधिनियम पास किया गया। अधिकतम काम के घण्टे ६॥; ५ घण्टों पर ½ घण्टे विश्राम व एक दिन सप्ताह में नियत छुट्टी की व्यवस्था की गई। रेस्ट्राँ के लिए दस घण्टे काम के रखे गये। १६४२ में सरकार ने छुट्टी अधिनियम पास किया जिसमें खुलने एवं बन्द होने के घण्टे, अतिरिक्त काम का पारितोषिक, सवेतनिक छुट्टी आदि की व्यवस्था लागू की गई। यह नियम बङ्गाल, सिन्ध तथा पञ्जाब में १६४०, मध्यप्रदेश तथा बरार, उत्तर प्रदेश तथा मद्रास में १६४७ और आसाम में १६४८ में इसी प्रकार के नियम बनाये गये।

पारिश्रमिक का भुगतान नियम १६३६

(Payment of Wages Act 1936)

कारखानों के कर्मचारियों को उचित समय पर वेतन न मिल सकने के कारण भारत सरकार ने १६३६ में यह अधिनियम पास किया जो २८ मार्च १६३७ को लागू हुआ। यह फैक्टरी, रेलवे और यदि प्रान्तीय सरकार चाहे तो इसे मोटर, खान, ट्राम्बे, और तेल के क्षेत्रों आदि में लागू कर सकती है। यह अधिनियम उन सभी पर, जो २०० रुपये प्रति मास की मजदूरी के अन्तर्गत आते हैं, लागू होता है। पारिश्रमिक भुगतान की अधिकतम अवधि एक मास है। भुगतान नकद रुपयों में होने चाहिये। निकाले हुए श्रमिकों का भुगतान दो दिन के अन्दर हो जाना चाहिये।

न्यूनतम मजदूरी नियम (Minimum Wages Act of 1948)

भारत सरकार ने १६४८ में न्यूनतम मजदूरी अधिनियम न्यूनतम मजदूरी को नियत करने के लिए पास किया जिसमें प्रान्तीय सरकार को यह अधिकार दिया गया कि वह न्यूनतम मजदूरी विभिन्न प्रकार के पेशों, व्यवसायों एवं कारखानों में नियत करे। यह न्यूनतम मजदूरी औद्योगिक नीति को दृष्टि में रखते हुए केन्द्रीय सलाहकार परिषद् एवं प्रान्तीय बोर्ड द्वारा की जायगी। इन समितियों में अधिकारी वर्ग, कर्मचारी एवं स्वतन्त्र सब ⅓ या तिहाई संख्या से अधिक नहीं होंगे। साप्ताहिक छुट्टी, कार्य करने के घण्टे भी प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सरकार द्वारा उन स्थानों पर जहाँ पर यह अधिनियम लागू होता है नियत किये जायेंगे। कुछ अपवादों के अतिरिक्त मजदूरी नकद में नियत होगी। यह मजदूरी निम्न प्रकार से किन्हीं एक के आधार पर नियत हो सकेगी—

(१) Basic rates;

(२) Cost of living,

(३) Cash value of Concessions.

खानों एवं उद्यानों में काम करने वालों की मजदूरी नियत करने के लिए सन् १९५० में उचित रुचि विधेयक प्रस्तुत किया गया किन्तु अभी तक पास नहीं किया गया है।

औद्योगिक सांख्यिकी नियम
(Industrial Statistics Act)

यह नियम उपस्थित, गृह, पानी, स्वच्छता, किराया, मजदूरी, कार्य के घण्टे, श्रमिकों को दिये जाने वाले फण्ड आदि के आँकड़ों को एकत्र करने के लिए पास किया गया है। यह कार्य औद्योगिक सांख्यिकी सचालक (Director of Industrial Statistics) प्रान्तीय सरकार के द्वारा किया जाता है जो कि निरन्तर गजटों में व श्रम व्यूरो द्वारा प्रकाशित होते हैं।

खानों का नियम (Mining Legislation)

सरकार का प्रथम प्रयत्न जो कि कोयले की खानों के कर्मचारियों के लिए किया गया वह था सन् १९०१ में सरकार द्वारा एक अधिनियम पास किया गया जो कि सन् १९२३ में भारतीय खान अधिनियम (Indian Mines Act) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस नियम में अनेकों बार सशोधन किये गये। अन्त में १९५२ में यह भारतीय खान अधिनियम पास किया गया।

Indian Mines Act of 1952

यह अधिनियम जम्मू एवं काश्मीर को छोड़ कर सम्पूर्ण भारत पर लागू होता है।

इस अधिनियम के अनुसार अधिकतम कार्य करने के ९ घण्टे नियत किये गये जो जमीन के ऊपर कार्य करने वाले कर्मचारियों के लिये था और जमीन के अन्दर कार्य करने वालों के लिये ८ घण्टे तथा प्रौढ़ कर्मचारी के लिये ४८ घण्टे सप्ताह में नियत किया।

सतह पर काम करने वाले कर्मचारी को डेढ़ गुनी और सतह के नीचे कार्य करने वाले कर्मचारी को दूनी मजदूरी अतिरिक्त कार्य करने के एवज में निर्धारित की गई।

न्यूनतम आयु सतह के नीचे वाले कर्मचारियों के लिए १७ से १८ वर्ष, तक रक्खी गई। कार्य करने के लिए प्रतिदिन १५ से १८ वर्ष वाले कर्मचारियों के लिए

४½ घण्टे नियत किये गये तथा स्त्रियों को सतह के नीचे कार्य करने के लिये वर्जित कर दिया गया।

स्वास्थ्य, सुरक्षा एवं कल्याण के लिये फैक्टरी कानून १९४८ के अनुसार इसमें व्यवस्था की गई।

उद्यान श्रम अधिनियम

(Plantation Labour Legislation)

उद्यानों में कार्य करने वाले कर्मचारियों के लिए १८६३ से लेकर १९०१ तक अनेक नियम पास किये गये किन्तु रायल आयोग के सुझावों पर टी डिस्ट्रिक्ट्स इमीग्रेंट श्रम अधिनियम (Tea Districts Emigrant Labour Act) सन् १९३२ में पास हुआ और १९३३ में लागू किया गया और तभी से यह अधिनियम लागू है।

उद्यान श्रम नियम १९५१

श्रम जाँच कमेटी ने सन् १९४६ में कार्य करने की शर्तों एवं अनुपस्थिति के लिये पूर्ण रूप से कटु आलोचना की, क्योंकि बगीचों के कर्मचारियों के लिए कोई उचित व्यवस्था नहीं थी। इसी कारण से भारत सरकार ने सन् १९५१ में यह अधिनियम बनाया जो सन् १९५४ से लागू किया गया।

इसमें निम्नलिखित मुख्य व्यवस्थाएँ थीं—

(i) यह अधिनियम भारत में जम्मू एवं काश्मीर को छोड़ कर उन सभी उद्यानों पर लागू होता है, जिनका क्षेत्र २५ एकड़ अथवा जिनमें ३० से अधिक व्यक्ति कार्य करते हों।

(ii) यह अधिनियम डाक्टरी सुविधाएँ, पेशाब गृह, पीने का शीतल जल आदि की उचित रूप में उद्यानपतियों द्वारा दिये जाने की भी व्यवस्था करता है।

(iii) यह अधिनियम कार्य करने के घण्टे, अनिवार्य विश्राम और छुट्टियों को भी नियत करता है।

(v) यह अधिनियम भी सन् १९४८ के फैक्टरी अधिनियम के अनुसार श्रम कल्याण की सुविधाएँ प्रदान करता है। इस अधिनियम की धाराओं को उल्लंघन करने पर दण्ड की व्यवस्था है।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन तथा भारतीय श्रम-अधिनियम

२८ जून, सन् १९१९ ई० में स्थापित हुए अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (I L O) का भारत एक प्रमुख सदस्य रहा है। यह संस्था अब संयुक्त राष्ट्र

संगठन (U N O) के अन्तर्गत कार्य कर रही है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन सामयिक बैठकें करती रहती हैं और इसमें सभी सभ्य देश के प्रतिनिधि सम्मिलित होते हैं। इसका मुख्य उद्देश्य श्रमिकों की शोषण से रक्षा तथा उनकी दशा में सुधार करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह संगठन कुछ कन्वेंशन्स बनाकर बहुमत से पास करता है तथा कुछ श्रम-हितकारी सिफारिशें सदस्य राष्ट्रों से करता है। सदस्य राष्ट्रों का यह पवित्र कर्तव्य होता है कि अपने-अपने देश में उन कन्वेंशनों तथा सिफारिशों का समावेश करते हुए श्रम अधिनियम बनायें तथा उन्हें कार्यान्वित करें। अब तक इस संगठन ने लगभग १०० से ऊपर कन्वेंशन पास किए हैं तथा लगभग इतनी ही सिफारिशें भी की हैं। भारतीय सरकार ने इनमें से बहुत से कन्वेंशन्स स्वीकार कर लिए हैं तथा उन्हीं के आधार पर श्रम अधिनियम बनाए हैं और राज्य सरकारों ने केन्द्रीय सरकार का ही अनुकरण किया है। हमारे देश के द्वारा स्वीकृत कुछ मुख्य कन्वेंशन्स निम्नलिखित हैं—

(१)	कार्य के घंटे	(उद्योग)	कन्वेंशन	१९१९
(२)	रात्रि-कार्य	(स्त्रियाँ)	,,	,,
(३)	,,	(बालकों)	,,	,,
(४)	संघ निर्माण करने का अधिकार	(कृषि)	,,	१९२१
(५)	न्यूनतम आयु	(उद्योग)	,,	,,
(६)	साप्ताहिक विश्राम	(,,)	,,	,,
(७)	बच्चों की डाक्टरी जाँच	(समुद्र)	,,	,,
(८)	श्रमिक प्रतिफल	(व्यवसायिक रोग)	,,	१९२५
(९)	नाविकों के इकरार के नियम		,,	१९२६
(१०)	भाँटों का विपणन		,,	१९२९
(११)	रात्रि कार्य	(स्त्रियाँ) संशोधित	,,	१९३४
(१२)	धरातल के नीचे कार्य	(स्त्रियाँ)	,,	१९३५
(१३)	श्रम निरीक्षण		,,	१९४७
(१४)	रात्रि - कार्य	(स्त्रियाँ) संशोधित	,,	१९४८
(१५)	बच्चों का रात्रि कार्य	(उद्योग) संशोधित	,,	१९४८

हमारे देश के सम्पूर्ण श्रम-अधिनियमों पर अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन द्वारा बनाये हुए कन्वेन्शन्स की स्पष्ट छाप पड़ी है। हमारे देश के श्रमिकों का अन्तर्राष्ट्रीय महत्व हो गया है और इस प्रकार हमारे देश के श्रमिकों की दशा निरन्तर उत्तम बनती जा रही है तथा शोषण से उनकी रक्षा हो रही है।

ऊपर बतलाए हुए नियमों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के अनेक हितकारी अधिनियम भी केन्द्र तथा राज्यों में बने हैं। निजी व्यापारियों और दूकानदारों के आधीन कार्य करने वाले कर्मचारियों की दशा में सुधार करने एवं उनके लिए छुट्टी इत्यादि की व्यवस्था करने वाले अधिनियम बम्बई में सन् १९३९ में, पंजाब और बंगाल में १९४० में और मध्यप्रदेश, मद्रास तथा उत्तर प्रदेश में सन् १९४७ में बनाये गये। सन् १९४२ में केन्द्रीय सरकार ने साप्ताहिक अवकाश अधिनियम बनाया।

श्रमिकों के लिए आवास की व्यवस्था करने वाले अधिनियमों में से बाम्बे हाउसिंग बोर्ड ऐक्ट १९४८; मैसूर लेबर हाउसिंग ऐक्ट १९४९ और मध्यप्रदेश हाउसिंग बोर्ड ऐक्ट १९५० के नाम मुख्यतः उल्लेखनीय हैं। सन् १९५४ में इन्डस्ट्रियल डिस्प्यूट्स (बैंकिंग कम्पनीज) ऐक्ट पास किया गया। औद्योगिक संघर्ष शान्त करने के उद्देश्य से विभिन्न राज्यों में भी बहुत से उपयोगी अधिनियम बनाये जा चुके हैं।

उपसंहार

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे देश की वर्तमान सरकार की पूर्ण सहानुभूति श्रमिकों के साथ है। अन्य औद्योगिक देशों के समान ही हमारी सरकार ने श्रमिकों को न्यायपूर्ण एवं सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार प्रदान करने तथा श्रमिकों की शोषण से रक्षा करने एवम् उनकी दशा को सुधारने के उद्देश्य से बहुत से अधिक अधिनियम बनाए हैं। श्रम अधिनियम के इतिहास से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस दिशा में हमारे देश ने दृढ़ता से कदम बढ़ाया है और बहुत तेजी से प्रगति कर रहा है।

१८

श्रम-संघ
(Trade Unions)

विशालकाय उद्योगों के जन्म के साथ ही साथ पूँजी की विशाल शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। पूँजीवाद के अंकुर के पनपने के कारण श्रमिक को अपने को पूर्ण-रूप से पूँजीपतियों के आश्रय में समर्पण करना पड़ा। पूँजीपतियों ने श्रमिकों के आश्रित होने के कारण उनका शोषण प्रारम्भ कर दिया। श्रमिकों की स्थिति दयनीय हो उठी। निर्धन एवं शक्तिहीन श्रमिक को शक्तिशाली पूँजीपति प्रतिद्वन्द्वी के शोषण से रक्षा करने एवं अपनी दयनीय स्थिति में सुधार करने के लिए व्यक्तिगत प्रयास द्वारा सफलता प्राप्त करना असम्भव था। 'एकता में बल है' सिद्धान्त के अनुसार श्रमिकों को शोषण से रक्षा करने एवं अपनी दयनीय स्थिति में सुधार करने के लिए सामूहिक रूप से प्रयत्न करना अनिवार्य हो गया। फलस्वरूप पूँजीवाद शोषण के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में 'श्रम-संघ आन्दोलन' का उद्भव हुआ, जिसका मूलाधार 'संगठन' है। संगठन में ही शक्ति है। वास्तव में श्रम-संघ शोषित, निर्धन एवं जर्जरित श्रमिकों की ओर से पूँजीवादी शक्ति का प्रत्युत्तर था, अतः इस आन्दोलन को आधुनिक विशालकाय उद्योगों का शिशु कहने में अतिशयोक्ति न होगी।

परिभाषा

संकुचित विचारधारा के अनुसार श्रमिकों का वह संगठन जो श्रमिकों की कार्य करने की दशाओं तथा पूँजीपतियों के शोषण से संरक्षण के उद्देश्य से निर्माण किया जाता है, 'श्रम संघ' कहलाता है। इस संगठन का कार्य मूल रूप से रोजगार की दशाओं को नियन्त्रित करके श्रमिकों को औद्योगिक प्रतियोगिता के दूषित वातावरण से मोक्ष प्रदान करना है। इस विचारधारा का समर्थन सिडनी एवं वेब ने भी किया है जैसा कि उनके निम्न शब्दों से स्पष्ट है—

"श्रम संघ श्रमिकों का एक स्थायी संगठन है जो उनके कार्य जीवन की दशाओं के संरक्षण एवं संवर्द्धन के उद्देश्य से निर्माण किया जाता है।"[1]

[1] A continuous association of wage earners for the purpose of maintaining or improving the conditions of their working —Sidney & Webb

विस्तृत अर्थों में श्रम संघ से तात्पर्य केवल श्रमिकों के संगठन से ही नहीं होता, वरन् इसका अर्थ किसी उद्योग के मालिक, कर्मचारी एवं स्वतन्त्र कार्यकर्त्ताओं के एक ऐसे संगठन से होता है जो अपने सदस्यों के एवं उस व्यापार के हितों की रक्षा के मुख्य उद्देश्य से, जिसका वे प्रतिनिधित्व करते हैं, निर्मित किया जाता है। व्यावहारिक दृष्टि से श्रम संघ की परिभाषा संकुचित दृष्टिकोण से ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है क्योंकि निर्धन श्रमिकों को ही वास्तव में शोषण से रक्षा करने के लिए संगठन की आवश्यकता है।

उद्देश्य (Aims and objects)

श्रम संघ का मूल उद्देश्य श्रमिकों को पूँजीपतियों के शोषण से सुरक्षा प्रदान करना है। व्यक्तिगत रूप से पूँजीवादी शक्ति पर विजय प्राप्त करना श्रमिकों की शक्ति के बाहर था। अतः सामूहिक रूप से ही वे अपने को शोषण से बचा सकते थे। पूँजीपतियों पर पूर्ण रूप से आश्रित होने के कारण कदाचित् व्यक्तिगत प्रयास द्वारा श्रमिक कभी भी अपने पारिश्रमिक में वृद्धि न करा सकता। श्री हैमिल्टन (Mr. Hamilton) ने ठीक ही लिखा है—

"An employer can do without any one of them; he cannot do without all of them. Unity gives strength"

उपर्युक्त उद्देश्य के अतिरिक्त श्रम संघ के अन्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

श्रमिकों की कार्य करने एवं रहने की दशा में सुधार

सामूहिक रूप से समझौते द्वारा श्रम संघ श्रमिकों के कार्य करने के घंटों में कमी, फैक्ट्री के अन्दर प्रकाश एवं स्वच्छ वायु की व्यवस्था, मशीनों द्वारा होने वाली दुर्घटनाओं से सुरक्षा, सवेतन छुट्टियों की व्यवस्था आदि को, कार्यान्वित कराने का भी प्रयत्न केवल राष्ट्रीय स्तर पर ही नहीं, वरन् अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर करते हैं। इसके अतिरिक्त सामाजिक सुरक्षा एवं श्रम कल्याण कार्यों द्वारा ये श्रम संघ श्रमिकों के जीवन स्तर में सुधार करने का स्वयं प्रयास करने के अतिरिक्त सरकार तथा उद्योगपतियों को भी इस क्षेत्र में सक्रिय भाग लेने के लिए प्रेरित करते रहते हैं। *आधुनिक श्रम संघ का तो श्रम कल्याण कार्य एक अभिन्न अंग बन गया है।*

समानता एवं औद्योगिक शान्ति स्थापित करना

सामूहिक शक्ति के कारण श्रम-संघ पूँजीवादी शक्ति के समान हो जाते हैं और दीन-हीन श्रमिक अपने को उतना ही शक्तिशाली पाता है जितना उसका प्रतिद्वन्दी। इस प्रकार समानता लाने का ही श्रम-संघ का मुख्य उद्देश्य होता है क्योंकि बिना इसके श्रम-संघ अपने अन्य उद्देश्यों की प्राप्ति नहीं कर सकता। इसी समानता के कारण ही

श्रमिकों में उचित भाव ताव करने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है। यही कारण था कि कार्लमार्क्स (Karl Marx) ने कहा था—

"Workers of the world unite, you have nothing to lose but your chains."

समानता के कारण ही श्रम सघ इस स्थिति मे होता है कि उद्योगपति इसकी अवहेलना न कर सकें। पूँजीपति अपनी मनमानी नहीं कर सकता और उसको समझौते द्वारा कार्य करने के लिए विवश होना पड़ता है। इस प्रकार श्रमिकों एव पूँजीपतियों में समानता लाकर औद्योगिक शान्ति की सुरक्षा करना भी श्रम सघ का एक आवश्यक उद्देश्य होता है।

राजनैतिक क्षेत्र में प्रभुत्व

समय की गति के साथ ही साथ श्रम सघ के उद्देश्यों में भी निरन्तर वृद्धि होती चली गई और आज हम देखते हैं कि राजनैतिक क्षेत्र मे अपने प्रभुत्व स्थापित करना भी श्रम-सघ का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य बन गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि आधुनिक प्रजातत्र मे सरकार द्वारा श्रमिकों की दशा मे सुधार करवाने के लिए श्रम सघ का राजनैतिक क्षेत्र मे पदार्पण करना आवश्यक हो गया। कार्ल-मार्क्स (Karl Marx) के शब्दों में—

"The political movement of the working class naturally has as its final aim the conquest of political power for it"

लाभ (Advantages)

मि० चर्चिल (Mr Churchill) के शब्दों में—

"Trade Unions are those institutions which lie so near the core of our social life and progress, and have proved that stability and progress can be combined."

वास्तव में श्रम-सघ श्रमिकों, उद्योगपतियों एव सामान्य जनता सभी के लिए लाभकारी हैं जैसा कि निम्नलिखित विवेचन से स्पष्ट हो जाता है —

श्रमिको को लाभ

जहाँ तक श्रमिकों का सम्बन्ध है उनके लिए तो श्रम सघ वरदान स्वरूप हैं। श्रम सघ द्वारा ही वे अपनी शोषण से रक्षा करने, अपनी कार्य करने एव रहने की दशाओं में सुधार करने, एव राजनैतिक क्षेत्र में अपना प्रभुत्व स्थापित करने की क्षमता एव सामर्थ्य प्राप्त करते हैं। वास्तव में श्रम सघ श्रमिकों के जीवन में

नवीन आशा का सञ्चार करने एवं नवीन चेतना तथा स्फूर्ति प्रदान करने का एक मात्र साधन हैं। प्रो० एन० जी० रंगा (Prof. N. G Ranga) ने ठीक ही लिखा है—

"It is only one of the great social and economic weapons, that industrial labour has, to emancipate itself from its present dependence upon capitalism and to win for it, in co operation with the other sections of toilers, complete political and economic power in modern society"

यह श्रम-संघों की ही देन है कि आज श्रमिक को न केवल एक राष्ट्र विशेष में वरन् विश्व में सम्मानित स्थान प्राप्त हो सका है।

उद्योगपतियों को लाभ

उद्योगपतियों एवं श्रमिकों के बीच आपसी समझौते श्रम संघ के कारण ही सम्भव हो पाते हैं। उद्योगपति प्रत्येक श्रमिक से व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करने में सर्वथा असफल रहता। पारस्परिक समझौतों के कारण औद्योगिक शान्ति की व्यवस्था अत्यन्त सरल हो जाती है। औद्योगिक शान्ति की स्थापना उद्योगपतियों के लिए अत्यन्त लाभप्रद है, इसमें सन्देह नहीं। औद्योगिक शान्ति पर ही उद्योगपतियों का उत्पादन एवं लाभ निर्भर है।

सामान्य जनता को लाभ

औद्योगिक प्रगति पर ही किसी भी राष्ट्र के देशवासियों का सुख एवं समृद्धि निर्भर है। श्रमिकों की ही सम्पन्नता पर राष्ट्र का उत्पादन निर्भर है। इस प्रकार श्रम संघ श्रमिकों के जीवन को सुखी बना कर सम्पूर्ण राष्ट्र की सम्पन्नता में वृद्धि करने में सहायक होते हैं। इसके अतिरिक्त श्रमिकों की आय में वृद्धि करके श्रम संघ समाज में धन की विषम वितरण की समस्या का समाधान भी करते हैं। 'समानता' ही इन श्रम-संघों का मूल उद्देश्य है और 'समानता' ही समाजवादी अर्थ-व्यवस्था का मूलाधार है। यदि इन श्रम संघों को समाजवादी अर्थ व्यवस्था का प्रथम व्यावहारिक शिक्षालय कहा जाय तो कदाचित् अतिशयोक्ति न होगी। अरनेस्ट बेविन (Ernest Bevin) का मत है—

"The Central idea of Trade unions is the liberty of the ordinary man and the right relationship between fellowmen Is not this also the central idea of democracy?"

ऐतिहासिक सिंहावलोकन

भारत में विदेशी सत्ता के कारण औद्योगिक विकास की गति अति मन्द रही। वास्तव में जब पाश्चात्य जगत म औद्योगिक विकास अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच रहा था भारत म औद्योगिक विकास की नींव डाली जा रही थी। औद्योगिक विकास न होने के कारण भारत में श्रम सघों की आवश्यकता का अनुभव न किया जाना स्वाभाविक ही था। परिणामस्वरूप श्रम सघ आन्दोलन की गति मन्द रहना अनिवार्य था। राजनैतिक दासता के कारण देशवासियों म विकास की भावना भी मर चुकी थी और विदेशी सत्ता का यहाँ के देशवासियों के विकास से सम्बन्ध ही क्या था। अस्तु सरकार भी इस दिशा में बिल्कुल उदासीन रही।

सर्व प्रथम सन् १८७५ में श्रमिकों की—विशेषतया स्त्रियों तथा बच्चों की—दयनीय स्थिति की ओर सरकार का ध्यान आकृष्ट हुआ और साथ ही साथ सुरक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से कुछ उत्साही युवकों ने श्री सोराब जी शापुर जी बगाली के नेतृत्व में एक आन्दोलन प्रारम्भ किया, परन्तु यह सफल न हो सका। इस आन्दोलन को वास्तविक अर्थों में श्रम सघ आन्दोलन भी नहीं कहा जा सकता था।

भारत म सर्व प्रथम श्रम सघ स्थापित करने का श्रेय श्री लोखण्डे को है जिन्होंने सन् १८६० में "बम्बई मिल श्रमिक सभा" (Bombay-Mill Hand's Association) स्थापित करके श्रम सघ आन्दोलन का श्रीगणेश किया। परन्तु श्री लोखण्डे की मृत्यु के कारण आन्दोलन की प्रगति अवरुद्ध हो गई। सन् १८६७ में "रेलवे कर्मचारी राष्ट्रीय सघ" (National Union of Railwaymen) का जन्म हुआ। सन् १६०५ तथा १६०७ म क्रमश "कलकत्ता प्रेस कर्मचारी सघ" एव "बम्बई बन्दरगाह कर्मचारी सघ" का प्रादुर्भाव हुआ। सन् १६१० में बम्बई के समाज सेवियों द्वारा "कामगर हितवर्धक सभा" की स्थापना की गई। परन्तु इन सभी को सगठित आधार पर निर्मित न होने क कारण श्रम सघ की सज्ञा नहीं प्रदान की जा सकती। वास्तव में ये समाज कल्याण सस्था के रूप में थे जिनका उद्देश्य सदस्यों के हित म कल्याणकारी कार्य करना था।

प्रथम महायुद्ध एव उसके उपरात १६२६ तक

वास्तव में आधुनिक अर्थों म श्रम सघ आन्दोलन का सूत्रपात प्रथम महायुद्ध क उपरान्त ही सम्भव हो सका। इसके कारण निम्नलिखित थे—

(१) औद्योगिक विकास का शिलान्यास प्रथम महायुद्ध काल म ही हुआ। परिस्थितियों के अनुकूल होने के कारण विभिन्न प्रकार के उद्योगों का जन्म हुआ। अत श्रम सघ आन्दोलन का युद्धोपरान्त गतिशील होना स्वाभाविक ही था।

(२) युद्धकाल में वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाने के कारण उद्योगपतियों ने तो खूब

लाभ उठाया परन्तु श्रमिकों की मजदूरी में कोई विशेष परिवर्तन न हुआ जिसके कारण श्रमिकों में असंतोष की भावना व्याप्त हो गई।

(३) युद्ध के समाप्त हो जाने पर मन्दी के युग में श्रमिकों की छटनी प्रारम्भ हो गई तथा उनकी मजदूरी भी कम कर दी गई जिसके कारण उनमें और भी अधिक असंतोष बढ़ा।

(४) महात्मा गांधी द्वारा संचालित स्वराज्य आन्दोलन ने श्रमिकों में ही नहीं वरन् समस्त देशवासियों में नवीन चेतना एवं जागृति का प्रादुर्भाव किया। परिणाम स्वरूप श्रमिक अपने भविष्य के प्रति पूर्णरूप से जागरूक हो उठा।

(५) सन् १९१७ में रूस की क्रान्ति की सफलता ने तो सारे विश्व के श्रमिकों में उत्साह की एक नई लहर उत्पन्न कर दी।

(६) सन् १९२० में भारत अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ का सदस्य बन गया था जिसके कारण श्रमिक वर्ग को अन्तर्राष्ट्रीय श्रम दशाओं से पूर्ण परिचय प्राप्त हो सका। परिणामस्वरूप हमारे देश के श्रम संघ आन्दोलन को नवीन शक्ति प्राप्त हो गई।

उपर्युक्त सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों के कारण श्रमिकों में जागृति हुई और वे अपनी दयनीय अवस्था को सुधारने के लिए प्रयत्नशील होने लगे। यही कारण था कि १९१९ से १९२१ तक हड़तालों की बाढ़ सी आ गई और प्रत्येक हड़ताल ने एक अस्थाई श्रम संघ को जन्म दिया। श्री० आर के० दास के शब्दों में—

"युद्धोत्साह, राजनैतिक आन्दोलन एवं क्रान्तिकारी आदर्शों के प्रभाव से श्रमिक वर्ग आर्थिक शिथिलताओं एवं सामाजिक अन्यायों के प्रति धैर्यवान और सहनशील न रह सका।"

सर्व प्रथम सुसंगठित श्रम संघ बनाने का श्रेय श्री बी० पी० वाडिया को है जिन्होंने सन् १९१८ में "मद्रास श्रम संघ" की मद्रास में स्थापना की। एक वर्ष में ही इस संघ की सदस्य संख्या २०,००० हो गई। श्री लोकनाथन (Shri Loknathan) के शब्दों में—

Not one textile worker in the city of Madras remained out of the union and the union became more and more powerful in a short period"

सन् १९१९ में १० श्रम संघ—५ बम्बई, २ मद्रास और एक-एक बङ्गाल, उत्तर प्रदेश तथा पञ्जाब—में स्थापित किये गये। इनमें से मुख्य थे "The Employees' Association Calcutta", 'The Seamen's Union Bombay" एवं 'M S M Railway Union Madras"

सन् १६२० में और भी बहुत से श्रम सङ्घों की स्थापना हुई। इसी वर्ष "अखिल भारतीय श्रम संघ कांग्रेस" (The All India Trade Union Congress) का जन्म हुआ जिसमें अन्य ६४ श्रम सङ्घ विलीन हो गये और इसकी सदस्य संख्या १, ४०, ८५४ हो गई। "अहमदाबाद टेक्सटाइल श्रम सङ्घ" जिसकी स्थापना १६१८ में की गई थी, की सदस्य संख्या १६२० में १६,४५० थी। सन् १६२० में १२५ श्रम सङ्घों की सदस्य संख्या कुल मिलाकर २,५०,००० थी। इन सभी श्रम-सङ्घों को सुसंगठित एवं सुनियोजित रूप से कार्य करने के लिए अखिल भारतीय आधार पर स्थापित करने की आवश्यकता हुई। इसके अतिरिक्त इसी वर्ष जिनेवा में होने वाले अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सम्मेलन (International labour Conference) के लिए भारतीय प्रतिनिधियों के चुनाव का प्रश्न भी उपस्थित हुआ। इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए 'अखिल भारतीय श्रम-सङ्घ कांग्रेस' की स्थापना की गई। यह श्रम सङ्घ भारतीय कांग्रेस के तत्वाधान में सर्व प्रथम अखिल भारतीय श्रम सङ्घ था। सन् १६२२ में 'अखिल भारतीय रेलवे कर्मचारी फेडरेशन' की स्थापना हुई और प्रायः सभी रेलवे कर्मचारी सङ्घ इसमें विलीन हो गये। यह सङ्घ आज भी सबसे शक्तिशाली श्रम सगठन है।

इस काल में श्रम सङ्घों का पर्याप्त विकास हुआ, परन्तु उनका सचालन सुदृढ एवं सुव्यवस्थित आधार पर न हो सका। इसका मूल कारण कानूनी संरक्षण का अभाव था। सन् १६२१ में श्री वाडिया द्वारा स्थापित किए गये सङ्घ को मद्रास के उच्चतम न्यायालय द्वारा अवैध घोषित कर दिया गया। अतः अब यह अनुभव किया जाने लगा कि श्रम सङ्घ के सगठित एव व्यवस्थित विकास के लिए वैधानिक सुरक्षा अत्यन्त आवश्यक है। अतः सन् १६२१ में श्री एन० एम० जोशी ने एक 'श्रम सङ्घ बिल' (Trade Union Bill) ससद के समक्ष प्रस्तुत किया, परन्तु वह पास न हो सका। इसके उपरान्त निरन्तर सघर्ष करने के पश्चात् सन् १६२६ में **'भारतीय श्रम सङ्घ कानून'** पास हो सका।

सन् १६२६ से द्वितीय महायुद्ध तक

सन् १६२६ मे भारतीय श्रम-सङ्घ कानून पास हो जाने के उपरान्त भारतीय श्रम सङ्घ आन्दोलन के इतिहास में एक नवीन अध्याय का प्रारम्भ हुआ। इस कानून के अन्तर्गत रजिस्ट्री शुदा श्रम सङ्घों को कानूनी सरक्षण प्रदान किया गया। अब सङ्घ के पदाधिकारियों पर सघ सदस्यों के हित में की गई हड़तालों या अन्य कार्यों के कारण दीवानी या फौजदारी अदालतों में मुकदमा नहीं चलाया जा सकता था। इस कानून में सन् १६४७ में सशोधन हुआ जिसके अनुसार श्रम अदालत (labour

Court) के आदेश पर उद्योगपति को अनिवार्य रूप से श्रम सङ्घ को मान्यता देनी होगी। यदि मालिक श्रम सङ्घों के सगठन में बाधा डालें अथवा श्रम सङ्घ के कार्यों में भाग लेने के आधार पर किसी सदस्य या पदाधिकारी को नौकरी से अलग कर देते हैं या भेद भाव का व्यवहार करते हैं तो वे १००० रुपये तक अर्थ दण्ड के भागी होंगे। मान्यता प्राप्त श्रम सङ्घों की कार्यकारिणी सभाओं को मालिकों के साथ रोजगार सम्बन्धी बातचीत करने का अधिकार भी प्रदान किया गया।

श्रम सङ्घ कानून बन जाने के कारण इस आन्दोलन की प्रगति की गति को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला और यह आन्दोलन निरन्तर विकास की ओर बढ़ता गया। परन्तु सन् १९२९ के उपरान्त मन्दी के युग के पदार्पण होने पर उद्योगपतियों के लाभ कम होने लगे जिसके कारण उन्होंने छटनी, तालाबन्दी इत्यादि का सहारा लेना प्रारम्भ कर दिया। श्रमिकों में भी असतोष का बढ़ना स्वाभाविक ही था। परिणामस्वरूप इस काल में हड़तालें भी अधिक होने लगीं। श्रमिकों की स्थिति सुधार के लिए श्रम सङ्घों में दो विचारधाराओं का प्रादुर्भाव हुआ—एक तो वे लोग थे जो अहिंसात्मक ढङ्ग से समस्याओं के सुलझाने के पक्ष म थे और दूसरी ओर वे लोग जो हिंसात्मक तरीकों के अपनाने के पक्ष मे थे। कम्युनिस्ट भी इस क्षेत्र म पदार्पण कर चुके थे। इन सब का परिणाम यह हुआ कि सन् १९२९ के उपरान्त श्रम आदोलन का नेतृत्व एक प्रकार से साम्यवादियों और वाम पक्षियों के हाथ म आ गया। श्रम सङ्घ की ओर इन लोगों ने राजनीतिक विचारों के अनुसार उग्र कार्य करने आरम्भ कर दिये। वास्तव में अब श्रम सघ राजनीतिक क्रियाओं के रङ्गमच बन गये। इस प्रकार श्रम सङ्घ आदोलन के सम्मुख जो निरतर उन्नति की ओर अग्रसर हो रहा था, एक भीषण सकट उपस्थित हो गया। साम्यवादी तत्वों के समावेश होने के कारण "गिरनी कामगर सङ्घ" को जिसका निर्माण १९२६ में हुआ था हिंसा तथा अशाति के लिए कानूनन उत्तरदायी ठहराया गया। इसके कारण श्रम सङ्घ बदनाम हो गये। दो विचारधाराओं के प्रादुर्भाव के कारण आपसी मतभेद हुआ और "अखिल भारतीय श्रम सङ्घ कांग्रेस" (A. I T. U C) दो दलों म विभक्त हो गया। उदार दल ने श्री एन० एम० जोशी एव श्री शिवाराव के नेतृत्व में राष्ट्रीय श्रम सङ्घ फेडरेशन (National Trade Union Federation) के नाम से एक नया सगठन स्थापित किया। यह फूट का अकुर निरन्तर विस्तार करता गया जिसके कारण सन् १९३३ में चार अखिल भारतीय श्रम सघ बन गये—

(१) भारतीय राष्ट्र श्रम सङ्घ कांग्रेस (INTUC),

(२) अखिल भारतीय रेलवे कर्मचारी फेडरेशन (All India Railwaymen's Federation),

(३) श्रम सङ्घों का भारतीय फेडरेशन (Indian Federation of Trade Unions),

(४) भारतीय राष्ट्र लाल श्रम सङ्घ कांग्रेस (All India Red Trade Union Congress)।

श्रम सङ्घ आंदोलन में पुनः स्फूर्ति देने के प्रयत्नों के कारण कुछ समय उपरांत भारतीय राष्ट्र श्रम सङ्घ कांग्रेस एवं भारतीय राष्ट्र लाल श्रम संघ कांग्रेस दोनों ही 'अखिल भारतीय श्रम सङ्घ कांग्रेस' (A I T U C) के नाम से एक ही संगठन में संयुक्त हो गई। "श्रम सङ्घों का भारतीय फेडरेशन" एवं "अखिल भारतीय रेलवे कर्मचारी फेडरेशन" दोनों मिल कर 'राष्ट्रीय श्रम सङ्घ फेडरेशन' (National Trade Union Federation) के अन्तर्गत संगठित हो गई। यह सहयोग सन् १९४० तक निरंतर चलता रहा।

द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने पर श्रम सङ्घ कांग्रेस ने युद्ध में तटस्थ रहने का निश्चय किया परन्तु एम० एन० राय के समर्थक पूर्ण सहयोग के पक्ष में थे। परिणाम स्वरूप श्री राय ने "श्रमिकों का भारतीय फेडरेशन" (Indian Federation of Labour) नामक श्रम सङ्घ की स्थापना की जिसको सरकारी सहायता भी प्राप्त होने लगी, किन्तु इस संघ को जन सहयोग न प्राप्त हो सका। इसके अतिरिक्त कांग्रेस के प्रमुख नेताओं के गिरफ्तार हो जाने के कारण "अखिल भारतीय श्रम संघ कांग्रेस" (A I T U C) पुनः साम्यवादियों के हाथ में आ गई।

द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त वर्तमान समय तक प्रगति

सन् १९४७ में भारत स्वतंत्र हुआ और शासन की बागडोर कांग्रेस ने सम्भाली। कांग्रेस के प्रभाव के फलस्वरूप "भारतीय राष्ट्र श्रम संघ कांग्रेस" (I N T U C) सुदृढ़ आधार पर संगठित हुई। इसी वर्ष समाजवादियों ने "हिन्द मजदूर सभा" का निर्माण किया। सन् १९४९ में प्रो० के० टी० शाह ने "संयुक्त श्रम सङ्घ कांग्रेस" (United Trade Union Congress) की स्थापना की। इस प्रकार स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत श्रम सङ्घ आंदोलन को पुनः जीवन मिला और श्रमिक सङ्घों में पर्याप्त विकास समय हुआ जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट होता है—

वर्ष	मान्यता प्राप्त श्रम सङ्घों की संख्या	सदस्य संख्या (हजारों में)
१९४६-४७	१७२५	१३३२
१९४९-५०	३३६५	१८२१
१९५३-५४	४६२७	२१२५

वर्तमान समय में प्रमुख रूप से चार अखिल भारतीय श्रम संगठन हैं—

(१) भारतीय राष्ट्रीय श्रम संघ कांग्रेस (I. N. T. U. C.) कांग्रेस के प्रभाव में है।

(२) अखिल भारतीय श्रम संघ कांग्रेस (A. I. T. U. C.) साम्यवादियों के प्रभुत्व में है।

(३) हिन्द मजदूर सभा (H. M. S.) समाजवादियों के नेतृत्व में है।

(४) संयुक्त श्रम संघ कांग्रेस (U. T. U. C.) वामपक्षीय प्रभाव में है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता के उपरान्त श्रम संघ आन्दोलन ने आशाजनक प्रगति की है, परन्तु राजनैतिक प्रभावों के अन्तर्गत कार्य करने के कारण इनका आधार दृढ़ नहीं कहा जा सकता। बहुत से श्रम संघ तो भारत में केवल नाम के लिए हैं। बहुत से श्रम संघों की संख्या हड़ताल इत्यादि के समय तो बढ़ जाती है परन्तु बाद में बहुत कम हो जाती है। राजनीतिक कार्यों में अधिक रुझान होने के कारण, श्रमिकों की इन संघों पर आस्था का भी अभाव है। यही कारण है कि श्री वी० वी० गिरि का मत है—

"The Trade Union Movement in India is still in an infant stage."

आपसी राजनीतिक मतभेद होने के कारण विभिन्न श्रम संघों में निरन्तर फूट बनी रही और 'एकता' का, जो इस आन्दोलन का मूलाधार है, सर्वथा अभाव रहा। परिणामस्वरूप आज भी सुसंगठित एवं सुव्यवस्थित आधार पर निर्मित श्रम संघों का भारत में पूर्णतया अभाव है। सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार श्रमिक वर्ग की सम्पूर्ण संगठन योग्य शक्ति (पूरे देश के स्तर पर) का केवल २९ प्रतिशत मजदूर संघों में संगठित है। यही नहीं हमारे देश की सम्पूर्ण श्रमिक शक्ति का एक बड़ा भाग खेतिहर मजदूरों का है और उनका संगठन अभी बाकी है। श्री गिरि (Shri V. V. Giri) ने ठीक ही कहा है—

"There is a great need of building up a Trade Union Movement characterised by unity, strength and vitality' so that it would be able to enter into collective bargaining with employers on equal footing."

भारत में श्रम संघ आन्दोलन के धीमी प्रगति के कारण

भारतीय श्रमिकों की निर्धनता

प्रत्येक संस्था के उचित संगठन एवं विकास के लिए पर्याप्त कोष का उपलब्ध होना अत्यन्त आवश्यक है। भारत में श्रमिक निर्धनता के कारण मामूली चन्दा

देने में भी अपने को असमर्थ पाता है। बहुत से श्रमिक तो चन्दा देने मे असमर्थ होने के कारण श्रम सघों का सदस्य होना भी पसन्द नहीं करते। चन्दा न मिलने के कारण श्रम सघों की आर्थिक स्थिति डाँवाडोल रहती है जिसके कारण उनकी विकास की गति अवरुद्ध हो जाती है। मि० राबर्ट्स (Mr Roberts) का तो कथन है—

"In India he found many paper unions without any fund and was surprised to learn that many members were defaulters."

औद्योगिक विकास की गति मन्द होना

श्रम सघ वास्तव में विशालकाय उद्योगों का शिशु है। औद्योगिक विकास की गति भारत म विदेशी सत्ता के कारण अत्यन्त मन्द रही जिसके कारण श्रम समस्याओं का प्रादुर्भाव ही नहीं हुआ और न श्रम सघों की आवश्यकता ही रही। औद्योगिक विकास की गति मन्द होने क कारण, श्रम सघ आन्दोलन की गति मन्द होना स्वाभाविक ही था।

भारतीय श्रमिको की अस्थायी प्रकृति (Migratory Character of Indian Labour)

भारतीय श्रमिक उद्योगों में काम करने के लिए स्थायी रूप से नहीं आता क्योंकि उसका वास्तविक सम्बन्ध तो कृषि से होता है। उसके कुटुम्ब के अन्य सभी सदस्य भी प्राय गाँव में ही रहते हैं। परिणामस्वरूप वह शहरों में अस्थायी रूप से रहने के लिए ही आता है। वास्तव में अस्थायी प्रकृति भारतीय श्रम की मुख्य विशेषता है। स्थायी रूप से शहरों में न रहने एव फैक्टरी में केवल कुछ समय तक ही कार्य करने की अभिलाषा रखने के कारण भारतीय श्रमिक श्रम सघों के कार्यों में कुछ भी रुचि नहीं लेता और न उनक महत्व को ही समझता है। ऐसी दशा में श्रम सघ आन्दोलन का विकास न होना स्वाभाविक हो जाता है।

सामाजिक वातावरण एव एकता का अभाव

'एकता' ही श्रम सघ की प्रगति का मूलाधार है। परन्तु भारत में सामाजिक वातावरण के कारण श्रमिकों में 'एकता' का अभाव रहा। जाति, धर्म, भाषा तथा आचार विचार सम्बन्धी भेद-भाव क कारण विभिन्न श्रमिकों में एकता स्थापित करना एक कठिन समस्या बन गया जिसके कारण शक्तिशाली सगठन स्थापित करना अत्यन्त कठिन हो गया। श्रमिकों म इस कमजोरी का लाभ उठाकर उद्योगपतियों ने "विभाजन करो और शासन करो" (Divide & rule) की नीति अपनाकर सदैव सगठित श्रम सघ स्थापित करने में रोड़ा अटकाया। भारत में जाति भेद की सकुचित

विचारधारा के कारण बहुत से श्रम संघ तो जातीय आधार पर निर्मित कर दिये गये थे जिनको सन् १६४३ में सरकार ने अमान्य घोषित कर दिया।

कुशल कार्यकर्ताओं का अभाव

भारत में श्रम संघों की आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण कुशल कार्यकर्ताओं की सेवाएँ उपलब्ध न हो सकीं जिससे इनकी कार्यक्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ा। किसी भी संस्था की उन्नति उसके कार्यकर्ताओं पर ही निर्भर होती है, परन्तु भारत में श्रम संघों में इनका सर्वथा अभाव रहा। अमरीका में तो "अमरीकन श्रम फैडरेशन" के सेक्रेटरी को लगभग ७५,००० डालर्स तनख्वाह मिलती है जो कदाचित अमरीका के प्रेसीडेन्ट के बाद द्वितीय स्थान पर आती है।

काम करने के घंटे

भारत में काम करने के घंटे अधिक होने के कारण, श्रमिक इतना शिथिल हो जाते हैं कि फैक्टरी में कार्य करने के बाद केवल विश्राम ही चाहते हैं। उनके पास न तो शक्ति ही रह जाती है और न अवकाश ही कि वे श्रम संघ के कार्यों में सक्रिय भाग ले सकें। भारत में बहुत से श्रमिक तो यह भी नहीं जानते कि संघ का कार्यालय कहाँ पर है।

श्रमिकों का अशिक्षित एवं अज्ञानी होना

भारतीय श्रमिक अशिक्षित एवं अज्ञानी होने के कारण श्रम संघों के महत्व एवं उद्देश्य को ही नहीं समझता। अतः ऐसी स्थिति में श्रम संघों के कार्यों में कुछ भी रुचि न रखना स्वाभाविक ही था। परतन्त्रता की शृङ्खलाओं में वर्षों तक जकड़े रहने के कारण उनमें दासता एवं हीनता की भावना पूर्ण रूप से व्याप्त हो गई थी। उन्होंने इस भावना के कारण ही अपने मालिकों के विरुद्ध आवाज उठाने की कभी कल्पना भी नहीं की और शोषण को सदैव अपना भाग्य ही समझा।

श्रम-संघों द्वारा कल्याणकारी कार्यों का अभाव

आर्थिक स्थिति के ठीक न होने के कारण भारतीय श्रम संघ श्रमिकों के लिए कल्याणकारी कार्य करने में सदैव असमर्थ रहे जिसकी वजह से श्रमिक वर्ग ने इन संघों के प्रति कुछ भी उत्साह नहीं दिखलाया। वास्तव में भारत के अधिकांश श्रम संघ केवल हड़ताल समितियाँ हैं और श्रमिक यह समझता है कि इनका उपयोग केवल हड़ताल के समय में ही किया जा सकता है।

उद्योगपतियों का विरोध

भारतीय उद्योगपतियों में इस धारणा ने कि श्रम संघ उनके लिए चुनौती हैं

और इनकी स्थापना का उद्देश्य उनकी शक्ति को कम करना है, उनको श्रम सगठन तोड़ने के लिए अनेक अनुचित उपायों का अपनाने के लिये प्रोत्साहन प्रदान किया। प्रायः उद्योगपति जासूसों एव गुडों द्वारा श्रम सघों के पदाधिकारियों को घूस देकर, मरवा पिटवा कर एव प्रतियोगी श्रम सघ निर्माण करके श्रम सगठन को तोड़ने का प्रयत्न करते रहे हैं। ऐसी दशाओं में भारतीय श्रम सगठन का शिथिल होना स्वाभाविक ही था।

श्रम सघो मे आन्तरिक फूट

भारत में श्रम सघ का सगठन राजनैतिक विचारधाराओं के आधार पर किया गया है। विभिन्न राजनैतिक राजनीतिक सिद्धान्तों में मतभेद होने के कारण विभिन्न श्रम सघों के सदस्यों में भी मतभेद होना स्वाभाविक ही था। यही कारण रहा कि श्रम सघों में आन्तरिक फूट के कारण विभिन्न श्रमिकों की आर्थिक समस्याएँ समान होते हुए भी उनको एक सूत्र में नहीं बाँधा जा सका और सुसगठित श्रम सघों का विकास न हो सका। आज भी विभिन्न श्रम सघ विभिन्न राजनैतिक दलों की छत्र-छाया में उनके राजनैतिक आदर्शों पर चल रहे हैं और उन्हीं आदर्शों के अनुरूप ही उनके अलग अलग समस्याओं के सुलझाने के ढग भी हैं। सभी के रास्ते अलग अलग होने के कारण श्रम सघ व्यवस्थित रूप से एक होकर श्रम समस्याओं के सुलझाने में सदैव असफल रहते रहे। आपसी नोंक-झोंक के कारण सदैव आपसी तनाव बना रहा और श्रम सघ आन्दोलन असगठित बना रहा।

श्रम सगठन मे राजनीति का प्रवेश

विभिन्न राजनैतिक दलों द्वारा स्थापित श्रम-सघ केवल राजनीति के रगमच रह गये और अपना मुख्य उद्देश्य खो बैठे। इन श्रम-सघों के राजनीतिक नेताओं ने श्रम सघ के सगठन का मूल उद्देश्य राजनैतिक क्षेत्र में सत्ता प्राप्त करना रक्खा। इनका उद्देश्य श्रमिकों की दशा मे सुधार करना नहीं था। ऐसी दशा में श्रमिकों का इनके प्रति कुछ भी रुचि न रखना स्वाभाविक ही था। प्रायः श्रमिक यह सोचने लगता है कि श्रम सघ का उसके जीवन से कुछ सम्बन्ध ही नहीं है।

पदलोलुपता

श्रम सघ के सगठन कर्त्ताओं म पदलोलुपता एव नेता बनने की अभिलाषा के कारण स्वय सगठनकर्त्ताओं में ही भेदभाव बना रहता है। परिणामस्वरूप वे सभी मिलकर कार्य नहीं करते जिसके कारण सगठन शिथिल हो जाता है। वे आपस में ही एक-दूसरे को नीचा दिखाने की कोशिश किया करते हैं। ऐसी दशा में उचित सगठन का अभाव रहना स्वाभाविक हो जाता है।

सरकार की उदासीनता

विदेशी सरकार का भारतीय श्रमिकों की दशा में सुधार करने में कुछ भी दिलचस्पी नहीं रही। यहाँ पर प्रारम्भ में अधिकतर उद्योग-धंधे भी विदेशियों द्वारा ही स्थापित किये गए थे और ये विदेशी उद्योगपति सदैव भारतीय श्रमिक के शोषण करने में ही अपना हित समझते थे। विदेशी सरकार का इनके प्रति सहानुभूति रखना स्वाभाविक ही था। परिणामस्वरूप भारत में श्रम संघों को कानूनी सुरक्षा प्रदान करने के लिए श्रम संघ अधिनियम सन् १९२६ तक नहीं बनाया गया। इसके पहले तो श्रम संघों को कानूनन अवैध घोषित किया जा चुका था। ऐसी दशाओं में श्रम संघ आन्दोलन की विकास की गति का मन्द होना स्वाभाविक ही था।

भारत में कुशल श्रमिक नेताओं का अभाव

प्रत्येक संस्था का उत्थान उसके नेताओं पर ही निर्भर होता है। भारतीय श्रमिक के अशिक्षित होने के कारण, हमारे देश में श्रम संघों का नेतृत्व श्रमिक-वर्ग के नेताओं के अधीन न होकर सामान्यतः किसी वकील अथवा राजनीतिज्ञ के हाथों में रहा जो परोपकार या राजनैतिक आत्मोपकार की दृष्टि से श्रमिक नेता बन बैठे। ये श्रमिक नेता श्रमिकों की वास्तविक कठिनाइयों एवं उद्योग विशेष की विशेषताओं से पूर्णतया अनभिज्ञ रहते हैं। अनभिज्ञता के कारण श्रमिकों के हित में कुछ भी कार्य करना इन नेताओं के लिये कठिन हो जाता है। वास्तव में श्रम संघ का नेतृत्व राजनीतिज्ञों के हाथ में होने के कारण ये संघ राजनैतिक प्रचार के रंगमंच का रूप ले लेते हैं क्योंकि इन राजनीतिज्ञों का मूल उद्देश्य संगठन स्थापित करके अपने राजनैतिक दल को सुदृढ़ बनाना एवं राजनैतिक क्षेत्र में अपना प्रभुत्व स्थापित करना होता है। इस प्रकार भारत में कुशल श्रमिक नेताओं की छत्रछाया में श्रम संघों के नेतृत्व का अभाव, इस आन्दोलन की प्रगति के पथ में सदैव एक मुख्य बाधा रहा है।

उपसंहार

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारत में यद्यपि श्रम संघ आन्दोलन का पूर्ण विकास उपर्युक्त कठिनाइयों के कारण सम्भव नहीं हो सका और आज भी यह आन्दोलन अपनी शैशवावस्था में ही है, तो भी इसमें सन्देह नहीं कि इस आन्दोलन का आशाप्रद सूत्रपात हो चुका है। हर्ष का विषय है कि श्रमिकों में जागृति एवं चेतना का प्रादुर्भाव हो रहा है और वे श्रम संघ के महत्व को भली भाँति समझ चुके हैं। श्रमिक वर्ग अपने अधिकारों के प्रति भी पूर्ण रूप से जागरुक हो गया है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि भारतीय श्रम संघों को राजनैतिक दलबन्दी के गन्दे

दलदल से मुक्त किया जाय और इनका नेतृत्व श्रमिक वर्ग के नेताओं की छत्रछाया में ही सम्भव बनाया जाय। इसके लिये श्रमिकों को श्रम संघ के संचालन के विषय में उचित शिक्षा एवं प्रशिक्षण की व्यवस्था की अत्यन्त आवश्यकता है। श्रम संघों को श्रमिकों के लिए वास्तविक कल्याणकारी कार्य करना भी आवश्यक है क्योंकि इसके बिना श्रमिकों को संघों की ओर आकृष्ट करना अत्यन्त कठिन होगा। श्रम संघठन के कार्यों को देखते हुए ऐसा स्पष्ट होता है कि उसका कार्य केवल अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सम्मेलनों में अपने प्रतिनिधि भेजने एवं समय समय पर कुछ प्रस्ताव पास करने तक ही सीमित रह गया है। भारत में श्रम संघों की संख्या भी बहुत अधिक है जिसके कारण सामूहिक प्रयत्न सम्भव नहीं हो पाता और श्रमिकों का पक्ष शिथिल हो जाता है। अतः इस बात की भी आवश्यकता है कि एक क्षेत्र में विभिन्न उद्योगों के प्रतिनिधियों का एक ही संघ हो। उद्योगपतियों को भी समझना चाहिए कि उनका हित श्रम-संघों के विकास में ही निहित है क्योंकि औद्योगिक शान्ति स्थापित करने के लिए श्रम संघ प्रथम आवश्यकता है। इस आन्दोलन की सफलता से न केवल श्रमिकों एवं उद्योगपतियों को ही लाभ होगा वरन् सम्पूर्ण राष्ट्र की प्रगति को भी प्रोत्साहन मिलेगा। भारतीय श्रम आयोग (Royal Commission on Labour) के शब्दों में—

"Nothing but a strong trade union movement will give the Indian workmen adequate protection. Legislation can act as a palliative and prevent the graver abuses, but there are strict limitations to the power of the government to protect workmen who are unable to protect themselves...... Nor is labour the only party that will benefit from a sound development of the trade union movement, employers and the public generally should welcome its growth

वास्तव में भारत सरकार सन् १६४२ का औद्योगिक प्रस्ताव, देश के संविधान में उसी भावना का पुनः प्रकाशन तथा दोनों ही पंचवर्षीय योजनाओं में मजदूरों को दिए गए आश्वासन हमारे विश्वास एवं संकल्पों तथा मेहनतकश समुदाय के उन्नतिशील भाग्य के चमकते हुए प्रकाश स्तम्भ हैं। राष्ट्रीय कांग्रेस भी यह स्वीकार कर चुकी है कि श्रम संघ हमारे जीवन और उद्देश्यों के अनिवार्य अंग हैं। अतः देश में उनके मजबूत एवं प्रभावशाली विकास का मार्ग पूर्ण रूप से प्रशस्त हो चुका है।

१६

औद्योगिक संघर्ष

(Industrial Disputes)

उद्भव एवं महत्व

विशालकाय उद्योगों के जन्म के साथ ही साथ मानव समाज का दो वर्गों—श्रम वर्ग एवं पूँजी वर्ग—में विभाजन हो गया। श्रम वर्ग शोषित एवं अभाव ग्रस्त था एवं पूँजी वर्ग सम्पन्न एवं वैभवशाली। पूँजी वर्ग ने अपनी पूँजी की अपार शक्ति के कारण एवं श्रमिक वर्ग की निर्धनता एवं दयनीय स्थिति का लाभ उठा कर श्रमिकों का शोषण प्रारम्भ कर दिया। श्रमिकों की दशा शोचनीय हो उठी और उनमें असंतोष की भावना व्याप्त हो गई। इसके परिणामस्वरूप ही औद्योगिक संघर्ष का हड़तालों, ताले बन्दियों एवं अन्य औद्योगिक झगड़ों के रूप में प्रादुर्भाव हुआ। असंतोष एवं अशान्ति के मध्य श्रमिकों में शान्ति स्थापित किए रहना अत्यन्त कठिन हो गया और औद्योगिक संघर्ष की समस्या न केवल उद्योगपतियों के लिये वरन् समस्त राष्ट्र के लिये एक गंभीर समस्या बन गई। प्रो० पीगू (Prof. Pigou) ने ठीक ही लिखा है—

"The declaration of class war means loss of wages, hunger and all its attendant miseries and suffering to the worker, financial loss to the employer, reduced sale to the shop keeper, extra worries to those in charge of law and order, excitement and inconvenience to the general public, and huge economic loss to the nation"

श्रम एवं पूँजी किसी भी उद्योग के दो मुख्य आधार स्तम्भ हैं। बिना इन दोनों के सहयोग के किसी भी राष्ट्र का औद्योगिक विकास असम्भव है। औद्योगिक विकास की गति को तीव्र करने के लिए औद्योगिक शान्ति की स्थापना प्रथम आवश्यकता है। पूँजी तो उत्पत्ति का एक निष्क्रिय साधन है। इसमें जीवन एवं चेतना प्रदान करने का श्रेय तो श्रम को ही है, अत उत्पत्ति में श्रम का स्थान सर्वोच्च है। मि० एम० ए० मास्टर (Mr. M A Master) ने ठीक ही लिखा है—

"Without hearty co operation of the workers, the most powerful mechanical contrivances and the most efficient organization are of little avail."

किसी भी राष्ट्र में उत्पादन श्रमिकों पर ही निर्भर होता है। औद्योगिक संघर्ष के कारण राष्ट्र की उत्पादन शक्ति क्षीण हो जाना स्वाभाविक ही है। राष्ट्र के उत्पादन पर ही देशवासियों की सम्पन्नता एवं समृद्धि तथा राष्ट्र का वैभव निर्भर होता है। अतः औद्योगिक संघर्ष की समस्या राष्ट्रीय विकास की समस्या है। वास्तव में औद्योगिक संघर्ष किसी राष्ट्र की आर्थिक प्रगति के पथ की मुख्य बाधा है।

'असंतोष ही क्रान्ति की जननी है'। औद्योगिक संघर्षों में इस क्रान्ति की चिनगारी सुलगा करती है। राष्ट्र में शान्ति स्थापित करने के लिए इस चिनगारी का बुझना नितान्त आवश्यक है। बिना शान्ति के कोई भी राष्ट्र किसी भी क्षेत्र में उन्नति नहीं कर सकता। इस प्रकार औद्योगिक संघर्ष की समस्या शान्ति व्यवस्था की समस्या भी है जिसके समधान के बिना राष्ट्र के आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक ढाँचे का सुदृढ़ आधार पर निर्माण नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि आज समस्त विश्व के राजनीतिज्ञ, समाजशास्त्री, अर्थशास्त्री और समाज सुधारक इस समस्या के सुलझाने में व्यस्त हैं।

आज का युग समाजवादी अर्थ व्यवस्था का युग है। पूँजीवाद अपनी अन्तिम श्वासें गिन रहा है। इस युग में श्रमिक को वे अधिकार प्रदान करना जो प्रत्येक मानव के जन्म सिद्ध अधिकार हैं, आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। आज यह समय की पुकार है जिसकी कोई भी राष्ट्र अवहेलना नहीं कर सकता। औद्योगिक शान्ति स्थापित करके श्रमिकों के जीवन में नवीन चेतना एवं जागृति का प्रादुर्भाव करना वर्तमान युग की प्रथम आवश्यकता है। यहाँ पर सर्व श्री सिडनी एवं वेब (M/s Sidney & Webb) के शब्दों को उद्धृत करना कदाचित अनुचित न होगा—

"We have got to remember that it is human beings like ourselves with whom we are dealing, husbands, fathers and citizens like ourselves We can, if we like, still take advantage of the wage earner's poverty or their ignorance to bully them, to subject them, to caprice or tyranny, or to insult them with foul language, but we do so at our peril"

वास्तव में औद्योगिक शान्ति, सामाजिक समानता एवं न्याय की माँग है जिसको प्रदान करना ही होगा, टाला नहीं जा सकता। शोषण का अन्त करना अनिवार्य है। उद्योगों को जीवन प्रदान करने वाले मानव का ध्यान रखना ही होगा।

औद्योगिक संघर्ष के कारण

औद्योगिक संघर्ष के कारणों को मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) आर्थिक कारण,

(२) अनार्थिक कारण।

आर्थिक कारण

औद्योगिक संघर्ष के मूलभूत कारणों में आर्थिक कारणों का प्रमुख स्थान है। प्रायः प्रत्येक औद्योगिक संघर्ष की पृष्ठभूमि में सदैव कोई न कोई आर्थिक कारण अवश्य रहता है जैसा कि भारतीय श्रम आयोग के शब्दों से स्पष्ट है—

"यद्यपि श्रमिक वर्ग राष्ट्रीय, साम्यवादी अथवा व्यापारिक हितों को सिद्ध करने वाले व्यक्तियों के सम्पर्क से प्रभावित भले हुए हों, फिर भी हमारा पूर्ण विश्वास है कि कोई भी महत्वपूर्ण औद्योगिक विवाद ऐसा नहीं हुआ जिसके पीछे पूर्णतया या अधिकांश रूप से आर्थिक कारण न रहे हों।"[१]

वास्तव में श्रमिकों की निर्धनता एवं दरिद्रता ने ही उनमें असंतोष की भावना को जन्म दिया जिसके कारण औद्योगिक संघर्ष का प्रादुर्भाव हुआ। औद्योगिक संघर्ष के मुख्य मुख्य आर्थिक कारण निम्नलिखित हैं—

(१) मजदूरी, बोनस एवं महगाई के भत्ते की माँग एवं उनमें वृद्धि के लिए संघर्ष।

(२) कार्य करने की दशाओं एवं रोजगार की शर्तों में सुधार करने के लिए संघर्ष।

(३) कार्य करने के घंटों में कमी करने के लिए संघर्ष।

(४) अधिक अवकाश एवं सवेतन अवकाश कालीन छुट्टियों की व्यवस्था के लिए संघर्ष।

(५) मिलों के प्रबंधक या भर्ती करने वालों के दुर्व्यवहार के प्रति संघर्ष।

(६) श्रमिकों की अनुचित बर्खास्तगी के विरोध में एवं उनको पुनः काम देने की माँग करते हुए संघर्ष।

(७) अनुचित रूप से मिल बन्द कर देने के विरोध में संघर्ष

(८) उद्योगों के संचालन में श्रमिकों का स्थान प्राप्त करने के लिए संघर्ष।

---

१ Although workers may have been influenced by persons with nationalist communist or commercial ends to serve we believe that there has been rarely a strike of any importance which has not been due entirely or largely to economic reasons

—*Royal Commission on Labour*

(६) वैज्ञानिक प्रबंध के विरुद्ध, जिससे श्रमिकों के निकाले जाने का भय उपस्थित हो जाता है, संघर्ष।

अनार्थिक कारण

अनार्थिक कारणों के अन्तर्गत राजनैतिक एवं सामाजिक कारण आते हैं। भारत में औद्योगिक संघर्ष के इतिहास में इन कारणों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। बहुत से औद्योगिक संघर्ष यहाँ पर केवल राजनैतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों की देन रहे हैं जैसा कि निम्नलिखित विवेचन से स्पष्ट हो जायगा।

(१) राजनैतिक

विदेशी शासनकाल में भारत के श्रमिकों का राष्ट्रीय आन्दोलन में, जिसका मूल उद्देश्य दासता की श्रृङ्खलाओं से मुक्ति प्राप्त करना था, सक्रिय भाग लेना स्वाभाविक ही था। भारत में इन आन्दोलनों के प्रति आस्था एवं सहानुभूति दिखलाने के लिए श्रमिक वर्ग ने हड़ताल का सहारा लिया। सन् १९०८ में श्री लोकमान्य तिलक की गिरफ्तारी के फलस्वरूप बम्बई में हुई हड़ताल ने वास्तव में राजनैतिक हड़तालों की नींव डाल दी। मुख्य रूप से निम्नलिखित राजनैतिक कारण औद्योगिक संघर्ष के जन्मदाता रहे हैं—

(क) खिलाफत आन्दोलन, असहयोग आन्दोलन, सविनय अवज्ञा-भंग आन्दोलन (Civil disobedience) एवं महात्मा गांधी तथा अन्य कार्यकर्ताओं द्वारा अनशन के कारण प्रमुख नेताओं की गिरफ्तारी एवं उनके प्रति दुर्व्यवहार के विरुद्ध प्रतिक्रिया के कारण हड़तालें।

(ख) मालिकों द्वारा श्रमिकों को राजनैतिक सभाओं अथवा जलूस में भाग लेने के कारण, कांग्रेसी कार्यकर्ताओं से सहानुभूति प्रकट करने पर एवं विदेशी प्रबंधकों की अवज्ञा के कारण बरखास्त कर देने या उनके खिलाफ अनुशासन की कार्यवाही करने के विरोध में प्रदर्शन एवं हड़तालें।

(ग) साम्यवादी विचारधारा वाले श्रम संघों के उकसाने के कारण हड़तालें।

(२) अन्य औद्योगिक संस्थानों के श्रमिकों के प्रति सहानुभूति

कभी कभी एक उद्योग के श्रमिकों के हड़ताल करने पर उनके प्रति सहानुभूति दिखलाने के लिए अन्य उद्योगों के श्रमिकों ने भी हड़ताल का सहारा लिया और औद्योगिक संघर्ष की समस्या उत्पन्न कर दी।

(३) सटोरियों की नीति के कारण

सटोरियों का मुख्य उद्देश्य वस्तुओं के मूल्य परिवर्तन के द्वारा अधिक लाभ कमाना होता है। अतः हड़तालों द्वारा वस्तु के उत्पादन में कमी करके उनके मूल्यों में

वृद्धि प्राप्त करने के उद्देश्य से सटोरिये झूठी अफवाह फैलाकर एवं श्रमिकों को घूस देकर हड़ताल करने के लिए प्रोत्साहन देते हैं।

(४) श्रम संघों का अभाव

वास्तव में श्रम संघ आन्दोलन का अविकसित होना भारत में औद्योगिक संघर्ष का मूल कारण कहा जा सकता है। उद्योगपतियों एवं श्रमिकों के बीच की खाईं को पाटने के लिए एवं उनमें पारस्परिक सद्भावना स्थापित करने के लिये श्रम-संघ महत्वपूर्ण कड़ी का कार्य करते हैं। श्रम संघों के बिना उद्योगपतियों का श्रमिकों से सम्बन्ध रखना कठिन हो जाता है और आपसी समझौते की नौबत ही नहीं आने पाती। वास्तव में बहुत सी समस्याएँ, जिसके कारण औद्योगिक संघर्ष का जन्म होता है, प्रारम्भ में ही आपसी समझौते द्वारा सुलझाई जा सकती हैं जिससे संघर्ष की नौबत ही न आने पाये, परन्तु श्रम संघ के अभाव में ऐसा सम्भव नहीं हो सका। श्रम संघ के अभाव में श्रमिकों को उचित नियन्त्रण और पथ प्रदर्शन न मिलने के कारण मामूली सी बातों पर हड़ताल का सहारा लेना पड़ा, और औद्योगिक संघर्ष की जड़ें और भी मजबूत होती चली गईं।

औद्योगिक संघर्ष के रोकने के उपाय

औद्योगिक संघर्ष रोकने एवं उनसे होने वाली हानि से रक्षा करने के लिए दो प्रकार के उपायों की आवश्यकता है—

(१) *वे उपाय जिनसे औद्योगिक संघर्ष का जन्म ही न होने पाये अर्थात्* प्रतिबन्धक उपाय (Preventive Measures)।

(२) वे उपाय जो यदि संघर्ष उपस्थित हो जाय तो उसका शीघ्र से शीघ्र निबटारा करके शान्ति स्थापित कर सकें अर्थात् रक्षात्मक उपाय (Curative Measures)।

प्रतिबन्धक उपाय

पुरानी कहावत है "इलाज से रोग की रोक-थाम सदैव उत्तम होती है"।[१] अतः औद्योगिक शान्ति के स्थापित करने में इन उपायों का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। ये उपाय निम्नलिखित हो सकते हैं—

सगठित श्रम संघ की स्थापना

औद्योगिक संघर्ष का मुख्य कारण उद्योगपतियों तथा श्रमिकों में पारस्परिक सम्बन्ध एवं सहानुभूति का न होना है। वास्तव में यदि छोटी-छोटी बातें जिनके

---

१ "Prevention is better than cure"

कारण औद्योगिक संघर्ष उग्र रूप धारण कर लेता है प्रारम्भ में ही आपसी समझौते द्वारा सुलझा दी जायें तो औद्योगिक संघर्ष का जन्म ही न हो। उद्योगपति प्रत्येक श्रमिक से अलग अलग सम्बन्ध तो स्थापित नहीं कर सकता, परन्तु श्रम संघों द्वारा यह समस्या आसानी से सुलझ सकती है। आपसी सम्पर्क के कारण दोनों ही एक-दूसरे की समस्याओं को समझ सकेंगे और सहानुभूति दिखला सकेंगे। प्रेम एवं सद्भावना आपसी कटुता एवं अविश्वास का स्थान ले लेंगे। प्रेम एवं सद्भावना के मध्य आपसी संघर्ष का प्रश्न ही नहीं उठता।

संगठित श्रम संगठन के होने पर उद्योगपति भी अपनी शक्ति से अनुचित लाभ उठाने का प्रयत्न करने में संकोच करेंगे और इस प्रकार शोषण का अन्त हो जायगा। यही नहीं श्रमिक भी सामूहिक सौदेबाजी (Collective bargaining) से लाभान्वित हो सकेंगे। ऐसी दशा में औद्योगिक संघर्ष का प्रारम्भ में ही गला घुट जायगा। सर जम्स डोक ने ठीक ही लिखा है—

"सबसे बड़ा उद्देश्य यह होना चाहिये कि स्वाभिमानी, उत्तरदायी और सबल श्रमिक संगठन का निर्माण किया जाये।"

उद्योगपतियों द्वारा श्रम कल्याण कार्यों का आयोजन

शान्ति का मूलाधार प्रेम एवं सद्भावना है। यदि श्रमिकों में इस भावना को उत्पन्न कर दिया जाय कि उद्योगपति उनके हितैषी एवं शुभाकांक्षी हैं तो वे अवश्य ही उनके प्रति सहानुभूति रखने लगेंगे और ऐसी स्थिति में संघर्ष की भावना का नष्ट हो जाना स्वाभाविक ही है। यह तभी सम्भव हो सकता है जब उद्योगपति श्रमिकों के कल्याण के लिये कुछ ठोस कार्य करें और उनके दुख दर्द को समझें। भारत में विदेशी उद्योगपतियों का सम्बन्ध भारतीय श्रमिकों से स्वभावतः भी न था और यही कारण रहा कि श्रमिकों की आस्था उन पर बिल्कुल न रही और आपसी भेद एवं मनमुटाव के कारण सदैव अविश्वास की भावना पनपती रही जो औद्योगिक संघर्ष का मूल कारण रही। आज परिस्थितियां बदल चुकी हैं। उद्योगपति भी भारतीय हैं और श्रमिक भी। आवश्यकता इस बात की है कि उद्योगपति मानवतावादी दृष्टिकोण को समझें और अपनायें। आज समय की गति के साथ साथ उद्योगपतियों को श्रम कल्याण कार्यों का महत्व समझना है और यदि वे ऐसा नहीं करते तो श्रम असन्तोष से उत्पन्न हुई साम्यवाद की उत्ताल तरंगें उन्हें शीघ्र ही विनाश की अतल गहराइयों में डुबा देंगी। औद्योगिक शान्ति का समस्या उनके जीवन-मरण की समस्या है और इसकी स्थापना केवल प्रेम एवं सद्भावना के आधार पर ही की जा सकती है। इस दिशा में श्रम कल्याण का कार्य उचित कदम होगा।

सामाजिक सुरक्षा का आयोजन

सामाजिक सुरक्षा की योजनाओं द्वारा श्रमिकों को भावी चिन्ताओं से मुक्ति दिलाई जा सकती है और उनमें सतोष की भावना व्याप्त की जा सकती है। बेरोजगारी का भय, दरिद्रता के कारण दैवी संकटों से भय एवं वृद्धावस्था में आय बन्द हो जाने का भय श्रमिकों में असंतोष की भावना को और भी प्रज्वलित करते हैं। असंतोष में ही *क्रान्ति की विनाशकारी चिनगारी छिपी रहती है। दरिद्रता ही भारतीय श्रमिक का मुख्य* अभिशाप है और इससे छुटकारा दिलाने में सामाजिक सुरक्षा की योजनाएँ अत्यधिक सफल हो सकती हैं।

श्रमिकों में उत्तरदायित्व की भावना का प्रादुर्भाव

अतीत में उद्योगपतियों के अनुचित व्यवहार के कारण भारतीय श्रमिकों में उनके प्रति अविश्वास की जड़ें मजबूती से जम चुकी हैं। श्रमिकों में इस भावना का मिटाना भी औद्योगिक शान्ति के लिये अत्यन्त आवश्यक है। आज श्रमिक को स्वतन्त्र भारत का नागरिक एवं राष्ट्र का कर्णधार होने के नाते अपने उत्तरदायित्व को समझना चाहिये। अभिनवीकरण, वैज्ञानिक प्रबन्ध एवं अन्य औद्योगिक सुधारों का अविवेकपूर्ण आधार पर विरोध न तो उनके ही हित में और न राष्ट्र के हित में ही होगा। अधिकारों के मांग के साथ-साथ कर्तव्यों का समझना भी आवश्यक है। औद्योगिक संघर्ष राष्ट्र के उत्पादन-वृद्धि में एक अवरोध है और राष्ट्र विरोधी एक तत्व है जिसका विवेकपूर्ण रीति से हटाना अत्यन्त आवश्यक है। यह अवश्य है कि अभाव एवं अज्ञान के गहन अन्धकार में भटकते हुए श्रमिक वर्ग से आज शान्ति एवं संतोष की आशा करना *व्यर्थ ही नहीं, वरन् अन्याय भी होगा।* अत पहले उनके कल्याण के लिये उद्योग पतियों, केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों, श्रम संघों तथा समाज कल्याण संस्थाओं द्वारा ठोस कदम उठाया जाना चाहिये, *तभी श्रमिकों में उत्तरदायित्व की भावना* का प्रादुर्भाव सम्भव हो सकता है।

कार्य समितियों की स्थापना (Establishment of Works Committees)

कार्य समितियों का निर्माण प्रत्येक मिल में अलग-अलग मालिक और मजदूरों के बराबर प्रतिनिधियों द्वारा किया जाता है। ये समितियाँ मिल अथवा निर्माणशाला के अन्दर बैठकर अपनी दैनिक समस्याओं को सुलझाती हैं। मालिकों और श्रमिकों के बीच निकटतम सम्पर्क स्थापित हो जाता है और आपस में सब मसले सुलझ जाने के कारण औद्योगिक संघर्ष की चिनगारी प्रज्वलित होने के पूर्व ही बुझ जाती है। इन समितियों में दोनों ही दल एक दूसरे के मित्र के रूप में मिलते हैं, अतः समस्याओं का सुलझाना सरल होता है। संघर्ष हो जाने के उपरान्त दोनों ही दल एक दूसरे के

प्रतिद्वन्द्वी का रूप ले लेते हैं, अतः समस्या का रूप और भी गम्भीर हो जाता है। इन समितियों द्वारा सभी समस्याएँ प्रारम्भिक अवस्था में ही सुलझ जाती हैं जिससे उनकी भावनाएँ ठीक बनी रहती हैं। यही कारण है कि भारतीय श्रम आयोग ने लिखा है—

"यदि इन्हे उचित प्रोत्साहन दिया जाय और पुराने दोष मिटा दिये जायँ तो ये समितिया भारतीय औद्योगिक प्रणाली मे अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हो सकती हैं।"[1]

भारत में श्रम आयोग के सुझाव पर ऐसी समितियों का कुछ उद्योगों में निर्माण हुआ था, परन्तु अहमदाबाद छोड़कर जहाँ गाँधी जी का व्यक्तिगत प्रयत्न एव प्रभाव था, अन्य स्थानों पर ये समितियाँ असफल सिद्ध हुईं।

स्थायी आदेशों का होना (Standing Orders)

स्थायी आदेश मालिक एव मजदूरों के बीच सम्पन्न हुए, भर्ती, छटनी, छुट्टी, अनुशासन कार्यवाही और रोजगार की शर्तों आदि से सम्बन्धित समझौते होते हैं जिनको कानूनन मान्य ठहराया जाता है। प्रायः औद्योगिक सघर्ष उपर्युक्त बातों के आधार पर हुआ करता है। यदि इन बातों को आपसी समझौते द्वारा पहले ही निर्धारित कर लिया जाय तो अवश्य ही सघर्ष की नौबत न आने पायेगी। ब्रिटेन में ये समझौते अत्यन्त सफल हुए हैं और भारत में भी ये निश्चय ही सफल सिद्ध हो सकते हैं यदि इनके सचालन में कानूनी अनिवार्यता बढ़ती जाय।

लाभ भागीदारी योजना एवं श्रमिकों का उद्योग व्यवस्था में स्थान

लाभ-भागीदारी योजना (Profit Sharing Scheme) कार्यान्वित होने के उपरान्त श्रमिकों का उद्योग विशेष के लाभ में भाग होने के कारण, उत्पादन का अधिक करना आवश्यक है। ऐसी अवस्था मे वे स्वय किसी प्रकार के सघर्ष से बचने का प्रयत्न करेंगे। उद्योगों की व्यवस्था में भाग मिल जाने पर इस आधार पर कि व्यवस्था ठीक नहीं है श्रमिक सघर्ष करने मे अपने को असमर्थ पायेगा। फलस्वरूप औद्योगिक सघर्ष का न होना स्वाभाविक ही है। परन्तु यह तभी सम्भव हो सकता है जब पारस्परिक अविश्वास एव मनोमालिन्य का अन्त हो जाय।

रक्षात्मक उपाय (Curative Measures)

उपर्युक्त प्रतिबधक उपायों के कार्यान्वित होने के बाद भी औद्योगिक सघर्ष की

---

[1] 'We believe that if they are given proper encouragement and past errors are avoided, Works Committees can play a useful part in the Indian Industrial System "—*Royal Commission on Labour*

समस्या उत्पन्न होने की सम्भावना तो बनी ही रहती है। अतः ऐसे उपायों का, जो संघर्ष उपस्थित हो जाने पर उसका शीघ्र से शीघ्र निवारण कर सकें, कम महत्व नहीं है। संघर्ष जितनी जल्दी दूर हो जाय उतना ही अच्छा है। अधिक हानि से बचने के लिए ये उपाय अनिवार्य हैं। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित उपाय आते हैं—

(१) समझौता (Conciliation),
(२) मध्यस्थता (Mediation),
(३) जाँच (Investigation),
(४) पंच निर्णय (Arbitration),
(५) औद्योगिक न्यायालय की स्थापना (Industrial Courts)।

समझौता (Conciliation)

आपसी समझौता एक ऐसी प्रणाली है जिसके अन्तर्गत संघर्ष के उपस्थित हो जाने पर मालिक एवं मजदूरों के प्रतिनिधि एक तीसरे व्यक्ति या समिति के सम्मुख अपने विवाद को रखते हैं जहाँ आपसी बातचीत द्वारा आपसी समझौते का कोई रास्ता निकालने का प्रयत्न किया जाता है। मध्यस्थ दोनों दलों के दृष्टिकोण जानने के उपरान्त आपसी समझौते के द्वारा विवाद को सुलझाने का प्रयत्न करता है।

समझौता दो प्रकार का हो सकता है—(१) स्वेच्छिक (Voluntary), (२) अनिवार्य (Compulsory)। जब मालिकों एवं मजदूरों द्वारा स्वेच्छा से समझौते की व्यवस्था होती है तो उसे स्वेच्छिक समझौता कहते हैं। जब समझौता कानूनन अनिवार्य कर दिया जाता है तो उसे अनिवार्य समझौता कहते हैं। सरकार इस व्यवस्था के लिए समझौता अधिकारी (Conciliation officers) या समझौता बोर्डों (Conciliation Boards) की स्थापना करती है।

मध्यस्थता (Mediation)

संघर्ष की समस्या उत्पन्न होने पर जब कोई प्रभावशाली व्यक्ति, सरकारी या सार्वजनिक अधिकारी अथवा कोई अन्य मध्यस्थ मामले में हस्तक्षेप करता है तो इस प्रणाली को मध्यस्थता कहते हैं। प्रायः ये मध्यस्थ सरकार द्वारा ही नियुक्त किये जाते हैं। इस प्रकार की मध्यस्थता का प्रश्न उस समय उपस्थित होता है जब समझौता समिति (Conciliation Board) की बातचीत असफल होकर टूटती-सी प्रतीत होती है। मध्यस्थ का प्रभावशाली व्यक्ति होना अत्यन्त आवश्यक है। इस उपाय को अधिक उपयुक्त नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह आवश्यक नहीं कि मध्यस्थ की बात मान ही ली जावे।

जाँच (Investigation)

इस प्रणाली के अन्तर्गत औद्योगिक झगड़ों का एक समिति द्वारा निरीक्षण किया जाता है। यह भी स्वेच्छिक अथवा अनिवार्य हो सकता है। जब दोनों पक्षों द्वारा अथवा किसी एक पक्ष द्वारा निवदन करने पर समिति का निर्माण होता है तो इसे स्वेच्छिक जाच कहते हैं। जब सरकार द्वारा बिना किसी पक्ष के निवेदन के ही जाच समिति का निर्माण होता है तो इसे अनिवार्य जाँच कहा जाता है। इन जाँच समितियों (Investigation Committees) का मुख्य कार्य परिस्थितियों का निरीक्षण करने के उपरान्त प्रस्ताव रखना होता है जिनका स्वीकार करना या न करना दोनों ही पक्षों की स्वेच्छा पर निर्भर होता है। इस प्रणाली म समय अधिक लगने के कारण, इसको आदर्श प्रणाली नहीं कहा जा सकता। तथ्यों के प्रकाशित हो जाने पर भी और जाँच समिति क प्रस्ताव रखने पर भी उनका पालन करना केवल स्वेच्छा पर ही निर्भर है।

पच निर्णय (Arbitration)

इस प्रणाली के अन्तर्गत विवाद को किसी व्यक्ति, समिति या न्यायालय के सम्मुख पच की हेसियत स उपस्थित किया जाता है। ये पच दोनों पक्षों क तर्क सुनने के उपरान्त अपना फैसला देते हैं। यह फसला दोनों पक्षों को मानना पड़ता है। पच निर्णय भी स्वेच्छिक या अनिवार्य हो सकता है। स्वेच्छिक पच निर्णय में पच द्वारा दिया गया निर्णय मानना दोनों पक्षों की स्वेच्छापर निर्भर होता हे। अनिवार्य पच निर्णय में दोनों ही पक्षों को पच द्वारा दिया गया फैसला अनिवार्य रूप से मानना पड़ता है।

औद्योगिक न्यायालय की स्थापना

इस प्रणाली के अन्तर्गत सरकार औद्योगिक न्यायालयों की स्थापना करती है। इन न्यायालयों म श्रमिकों एव मालिकों के बीच समझौता न होने पर विवाद को न्यायाधीश क समक्ष प्रस्तुत करने का दोनों ही पक्षों को अधिकार होता हे और इनका फैसला कानूनन मान्य होता है। कभी-कभी ऐसी भी व्यवस्था होती है कि समझौता न होने पर विवाद को न्यायाधीश के समक्ष रखने के लिए दोनों पक्ष बाध्य होते हैं।

सरकार द्वारा प्रयत्न(Measures taken by the Government)

कार्य समितियों की स्थापना (Establishment of Works Committees)

सर्व प्रथम सरकार ने सन् १९२० में सरकारी छापेखानों में सयुक्त समितियाँ (Joint Committees) की स्थापना की थी। इसके उपरान्त मद्रास की कपड़ा

मिलों, रेलवे, जमशेदपुर के लौह इस्पात उद्योग एव कुछ राज्यों के व्यक्तिगत उद्योगों म इन समितियों का निर्माण किया गया, परन्तु इनके द्वारा कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं हो सका। सरकार द्वारा भी इस दिशा में कोई प्रयत्न नहीं हुआ। सर्व प्रथम सरकार द्वारा सन् १९४७ में औद्योगिक सघर्ष कानून के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार ने राज्य सरकारों को विभिन्न उद्योगों म कार्य समितियाँ निर्माण करने की व्यवस्था की। सन् १९४८ म उत्तर प्रदेशीय सरकार ने २०० या इससे अधिक श्रमिकों वाला निर्माण-शालाओं म कार्य समितियों की स्थापना अनिवार्य कर दिया, परन्तु नवम्बर १९५० म इस व्यवस्था का हटा लेना पड़ा। इस ओर बम्बई, बिहार, मद्रास एव पजाब सरकारों ने भी कदम उठाए परन्तु सफल न हो सके। इन कार्य समितियों की असफलता क निम्नलिखित कारण रहे—

(१) श्रम सघ इन समितियों को अपना प्रतियोगी समझते थे।

(२) उद्योगपति इन समितियों को श्रम सघ का दूसरा रूप समझते थे। उद्योगपति इन समितियों म बैठकर श्रमिकों स बातचीत करने म अपनी हीनता समझते थे और उनका मत था कि उद्योग के दैनिक कार्य इन समितियों के कारण सुचारु रूप से नहीं चलाये जा सकते।

स्थायी आदेश (Stand ng Orders)

सर्वप्रथम सन् १९३८ में बम्बई औद्योगिक सघर्ष कानून के अन्तर्गत स्थायी आदेशों क निर्माण को अनिवार्य किया गया। इसके उपरान्त सन् १९४६ म केन्द्रीय सरकार ने औद्योगिक रोजगार स्थायी आदेश (Industrial Employment Standing Orders Act) कानून के अन्तर्गत १०० या इससे अधिक श्रमिकों वाली औद्योगिक सस्थानों में स्थायी आदेशों का निर्माण अनिवार्य कर दिया और इसके पालन न करने पर दड की व्यवस्था की। कानून के अनुसार स्थायी आदेशों का निर्माण श्रमिकों के सहयोग से होगा और इन आदेशों को श्रम कमिश्नर द्वारा प्रमाणित कराना आवश्यक है। परन्तु अनुभव यह बतलाता है कि ये कानून उचित निरीक्षण के अभाव म सफल नहीं हो सके।

औद्योगिक सधि प्रस्ताव १९४७ (Industrial Truce Resolution 1947)

औद्योगिक शान्ति स्थापित करने के उद्देश्य से भारत सरकार ने सन् १९४७ में उद्योगपतियों एव श्रमिकों के बीच एक शान्ति-सधि स्थापित करने की व्यवस्था की। इस सधि की मुख्य शर्तें इस प्रकार थीं—

(१) विवादों को सुलझाने के लिए सभी कानूनों और अन्य उपादानों की प्रत्येक स्थान पर उचित व्यवस्था की जाए।

(२) उचित मजदूरी (Fair wages) एव कार्य करने की दशाओं को निर्धारित करने और श्रम सहयोग प्राप्त करने के लिए उपयुक्त केन्द्रीय, क्षेत्रीय एव उत्पादक इकाई समितियाँ स्थापित की जायँ।

(३) प्रत्येक औद्योगिक सस्थान में कार्य समिति की स्थापना की जाय।

(४) श्रमिकों का जीवन-स्तर सुधारने के लिए उनके आवास की उचित व्यवस्था की जाय।

सन् १९४८ में राज्यों के श्रम मन्त्रियों का सम्मेलन हुआ जिसमें उचित पारिश्रमिक और मालिकों का लाभ निश्चित करने के लिए विशेषज्ञ समितियों की स्थापना की गई। केन्द्रीय सरकार ने १० लाख मकानों के निर्माण के लिए एक गृह निर्माण बोर्ड (Housing Board) की भी स्थापना की। श्रम रोजगार केन्द्रों (Employment Exchanges) एव श्रम प्रशिक्षण केन्द्रों (Labour Training Centres) को भी स्थायी रूप प्रदान किया गया।

औद्योगिक सघर्ष कानून (Industrial Disputes Act)

औद्योगिक शान्ति स्थापित करने के उद्देश्य से भारत में औद्योगिक सघर्ष विधान का इतिहास पुराना नहीं है। सर्वप्रथम इस दिशा में बम्बई राज्य सरकार ने सन् १९२४ में एक औद्योगिक सघर्ष बिल प्रस्तुत किया था परन्तु वास्तविक रूप से सन् १९२८ में जाकर केन्द्रीय सरकार एक प्रभावशाली बिल प्रस्तावित करने में सफल हो सकी जिसके कारण सर्वप्रथम सन् १९२९ में व्यापार सघर्ष कानून (Trade Disputes Act 1929) पास हुआ। वास्तव में यह कानून सरकार द्वारा औद्योगिक शान्ति स्थापित करने के उद्देश्य से प्रथम सराहनीय प्रयास था।

व्यापार सघर्ष कानून १९२९ की मुख्य धाराएँ

(१) स्वतन्त्र अध्यक्ष (Independent Chairman) एव अन्य स्वतन्त्र सदस्यों द्वारा निर्मित जाँच अदालतों (Courts of Enquiry) की केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकार एव रेलवे द्वारा स्थापना की व्यवस्था की गई। जाँच अदालत का कर्त्तव्य झगड़े के मूल कारणों को ज्ञात करना था। जाँच हो जाने पर समझौता बोर्ड का कार्य था कि दोनों पक्षों में समझौता करावे।

(२) समझौता बोर्ड (Conciliation Board) की भी व्यवस्था की गई। इसके लिये भी एक स्वतन्त्र अध्यक्ष तथा दो या चार सदस्य रखे गये जो समान रूप से दोनों पक्षों का प्रतिनिधित्व करते थे। इस बोर्ड का कार्य जाँच होने के उपरान्त दोनों पक्षों में आपसी समझौता कराना था।

(३) इस अधिनियम के अन्तर्गत जनहितकारी उद्योगों में (Public Utility Concerns) में जैसे रेल, तार, डाक, विद्युत, प्रकाश, पानी, सफाई इत्यादि में बिना १४ दिन के नोटिस के हड़ताल अवैध घोषित कर दी गई।

(४) अवैधानिक हड़ताल एवं तालाबन्दी की व्याख्या कर दी गई। इस प्रकार किसी ऐसे उद्देश्य की पूर्ति के लिये, जो संघर्ष वाले उद्योग से सम्बन्धित नहीं हैं, कोई भी हड़ताल अवैध होगी। ऐसी हड़तालें भी जिससे जनता को कोई विशेष असुविधा एवं कष्ट हो, अवैध घोषित की गईं। सहानुभूति में की गई हड़तालें भी अवैध करार दी गईं।

(५) श्रम हित की सुरक्षा के लिये सरकारी श्रम अधिकारियों (Labour Officers) की नियुक्ति की भी व्यवस्था की गई।

उपर्युक्त अधिनियम में कई दोष होने के कारण इसकी कटु आलोचना की गई। सर्वप्रथम इस कानून में संघर्ष रोकने का कोई स्थायी प्रबंध नहीं था। जाँच अदालत एवं समझौता बोर्ड की स्थापना भी संघर्ष के उपरान्त स्थापित करने की व्यवस्था थी, अतः अस्थायी होने के कारण इन संस्थाओं का उद्योग विशेष से सम्पर्क न रहना स्वाभाविक ही था। प्रत्येक हड़ताल से जनता को कुछ न कुछ असुविधा का होना स्वाभाविक ही था, अतः सरकार द्वारा किसी भी हड़ताल को अवैध घोषित किया जा सकता था। इसके कारण श्रमिकों की ओर से भी इस कानून की आलोचना की गई। सहानुभूति हड़तालों के प्रतिबन्ध को भी उचित नहीं समझा गया। इन आलोचनाओं के परिणामस्वरूप सन् १९३२ में संशोधन किया गया और सन् १९३४ में इसको स्थायी रूप दे दिया गया क्योंकि १९२९ में यह अधिनियम प्रथमतः ५ वर्ष के लिये बनाया गया था। भारतीय श्रम आयोग की सिफारिशों के आधार पर इस कानून में पुनः सन् १९३८ में संशोधन हुआ।

सन् १९३८ के संशोधन

(१) औद्योगिक झगड़ों की मध्यस्थता (Mediation) के लिए समझौता अधिकारियों की (Conciliation officers) की नियुक्त की व्यवस्था की।

(२) अवैध हड़ताल सम्बन्धी नियन्त्रणों को भी कुछ शिथिल किया गया।

(३) जन सेवा उद्योग (Public Utility Services) में जल यातायात और ट्रामवे उद्योग भी सम्मिलित किये गये।

उपर्युक्त सभी संशोधनों के बावजूद भी विवादों के निवारण के लिए कोई स्थायी व्यवस्था नहीं थी क्योंकि दोनों ही पक्ष अब भी समझौता-समितियों का निर्णय मानने न मानने को स्वतन्त्र थे।

द्वितीय महायुद्ध

युद्धकालीन परिस्थितियों के अनुकूल सन् १९४१-४२ में संशोधन किया गया। इन संशोधनों के फलस्वरूप श्रमिकों पर बहुत से बन्धन लगा दिये गये जिनके कारण उनका हड़ताल करना कठिन हो गया। उद्योगपतियों को भी बिना नोटिस दिये हुए ही घंटों तथा अवकाश इत्यादि में परिवर्तन करने की स्वतन्त्रता दे दी गई। यह सब युद्ध प्रयत्नों के हित में ही किया गया।

जनवरी १९४२ में हड़तालों के परिणामस्वरूप उत्पादन क्षति रोकने के लिए भारत सरकार ने भारत सुरक्षा कानून की धारा ८१ ए के अन्तर्गत हड़तालों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया तथा संघर्ष उठ खड़े होने की व्यवस्था में समझौते तथा निराकरण के लिए सरकार को सूचना देने के आदेश प्रसारित किये। इसी प्रकार के अधिकार प्रान्तीय सरकार को दे दिये गये। बिना १४ दिन की पूर्व सूचना दिये हुए हड़ताल व तालाबन्दी को अवैधानिक घोषित कर दिया गया।

उपर्युक्त सभी युद्धकालीन प्रयत्न थे जोकि ३० सितम्बर सन् १९४६ को समाप्त कर दिये गये। किन्तु अनुभव से ज्ञात हुआ कि ये स्थायी धाराएँ अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई थीं। इस काल में सरकार को औद्योगिक झगड़ों का पर्याप्त अनुभव हो गया और उनके आधार पर देश में स्थायी रूप से औद्योगिक शान्ति स्थापित करने के लिए उचित विधान निर्माण की योजना बनाई गई। परिणामस्वरूप केन्द्रीय सरकार ने सन् १९४७ में औद्योगिक संघर्ष अधिनियम का निर्माण किया।

औद्योगिक संघर्ष अधिनियम १९४७

यह अधिनियम मार्च १९४७ में सन् १९२९ ई० के अधिनियम को स्थानापन्न करने के लिए पास किया गया। इसकी मुख्य धाराएँ निम्नलिखित थीं—

(१) औद्योगिक झगड़ों के रोकने के लिए दो संस्थाओं को जन्म दिया गया है—श्रम समितियाँ (Works Committees) तथा औद्योगिक न्यायालय (Industrial Tribunals) श्रम समितियों में उद्योगपतियों तथा श्रमिकों के प्रतिनिधि सम्मिलित होंगे जबकि औद्योगिक न्यायालयों में दो एक ऐसे सदस्य भी होंगे जिनकी योग्यता किसी हाईकोर्ट के जज के समान हो।

सम्बन्धित सरकारों को यह अधिकार दे दिया गया है कि वे श्रमिकों व उद्योगपतियों के सम्बन्धों में सुधार करने तथा उनके पारस्परिक झगड़ों को तय करने के लिए उनके प्रतिनिधियों की श्रम समितियाँ (Works Committees) प्रत्येक ऐसे औद्योगिक संस्थान में स्थापित कर दें जहाँ १०० या इससे अधिक श्रमिक काम

करते हों। राज्य सरकारों को अधिकार होगा कि वे किसी भी झगड़े की जाँच कराने के लिए जाँच न्यायालय (Courts of Enquiry) की भी स्थापना कर दें।

हड़ताल करने से पूर्व पहले मामला समझौता अधिकारी के समक्ष जायगा जोकि अपना प्रतिवेदन सरकार के सम्मुख १४ दिन के अन्तर्गत प्रस्तुत करेगा। यदि फैसला हो गया तब तो ठीक है अन्यथा इसके उपरान्त सरकार मामले को समझौते बोर्ड अथवा औद्योगिक न्यायालय के पास भेजती है। बोर्ड अपना प्रयास दो माह तक कर सकता है। असफल होने पर सरकार मामले को पुनः जाँच न्यायालय को सौंपती है जो कि ६ माह तक के अन्तर्गत अपनी पूरी जाँच करके प्रतिवेदन सरकार के समक्ष प्रस्तुत करती है। इसके बाद सरकार मामले को औद्योगिक न्यायालय के पास अपने अन्तिम निर्णय (Award) देने के लिए भेजती है। सरकार को अधिकार है कि वह इस निर्णय को दोनों पक्षों पर अनिवार्यतः लागू कर सके।

(२) पंच फैसले के मध्य में अथवा उसके फैसले के दो माह तक भी हड़ताल या तालाबन्दी अवैधानिक व दण्डनीय है। जो श्रमिक ऐसी हड़तालों में सम्मिलित नहीं होंगे उनको पूर्ण रक्षा की जायगी।

(३) जन हितकारी सेवाओं (Public Utility Services) में हड़ताल करना अवैधानिक कर दिया गया है। इसके लिए ६ सप्ताह की पूर्व सूचना आवश्यक है।

(४) राजनैतिक और सहानुभूति में की गई हड़तालों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

सन् १९४९ के एक कानून द्वारा केन्द्रीय सरकार ने एक विशेष औद्योगिक न्यायालय की स्थापना करके बैंकों और बीमा क्षेत्रों में होने वाले झगड़ों को अपने हाथ में ले लिया है।

इस प्रकार सन् १९४७ का औद्योगिक संघर्ष अधिनियम औद्योगिक शान्ति स्थापित करने की दिशा में अत्यन्त महत्वपूर्ण कदम था। इसके अनुसार समझौता एवं पंच फैसला अनिवार्य कर दिया गया है।

औद्योगिक संघर्ष (अपील न्यायालय) कानून १९५० Industrial Disputes (Appeal Tribunal Act 1950)- सन् १९४७ के कानून के निर्णय के अन्तर्गत केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों को औद्योगिक न्यायालय (Industrial Tribunals) नियुक्त करने का अधिकार था किन्तु इन न्यायालयों की कार्यवाही तथा फैसले में कोई समन्वय नहीं था। विभिन्न औद्योगिक न्यायालयों द्वारा दिये गये निर्णयों में विभिन्नता और असमानता की समस्या सुलझाने के लिए सरकार ने उपर्युक्त कानून के अन्तर्गत एक अपील न्यायालय (Appeal Tribu-

nal) की स्थापना की जो विभिन्न समझौता समितियों, वेतन परिषदों (Wage Boards) एवं न्यायालयों द्वारा दिये गये निर्णय पर अपील किये जाने पर पुनर्विचार करता है। इस न्यायालय में एक चेयरमैन और कुछ सदस्य होंगे जिनकी संख्या समय-समय पर सरकार निश्चित करेगी। सन् १९५५ में अधिनियम में संशोधन करके इस न्यायालय को भंग कर दिया गया है।

श्रम सम्बन्ध बिल १९५०(Labour Relations Bill 1950)

पिछले अनुभव के आधार पर केन्द्रीय सरकार ने पुराने कानूनों में मामूली परिवर्तन करने की आवश्यकता समझी और एक बिल का प्रारूप तैयार किया। बिल १७ फरवरी १९५० को संसद के समक्ष प्रस्तुत किया गया था। इसका उद्देश्य श्रमिकों और उद्योगपतियों के पारस्परिक सम्बन्धों में और भी अधिक सुधार करना तथा विभिन्न राज्यों में पास हुए कानूनों का समन्वय किया गया। परन्तु यह विधेयक बहुत सी ऐसी परिस्थितियाँ लाकर उत्पन्न करता था जिन पर जनता में मतभेद होने के साथ ही साथ स्वयं केन्द्रीय मन्त्रिमंडल में गम्भीर मतभेद था जैसा कि १९५४ में अपने त्याग पत्र में श्री वी० वी० गिरि ने स्पष्ट किया। यही कारण है कि भारत सरकार ने इस विधेयक को एक प्रकार से दफना सा दिया।

औद्योगिक संघर्ष अध्यादेश १९५३ (The Industrial Disputes Ordinance 1953)

२४ अक्तूबर सन् १९५३ को राष्ट्रपति की ओर से एक अन्य अध्यादेश जारी किया गया जिसमें कर्मचारी के पारिश्रमिक और उसकी बर्खास्तगी से सम्बन्धित कुछ धाराएँ हैं। इस अध्यादेश के अनुसार—(१) उस श्रमिक को जिसकी एक वर्ष की सेवाएं हो चुकी हैं, कुछ शर्तों के साथ, बीमारी की अवस्था में, दैनिक वेतन के ५०% के हिसाब से वेतन पाने का अधिकार होगा। तथा (२) बिना एक महीने का नोटिस और बिछली सेवाओं के लिए (१ वर्ष में १५ दिन के बराबर औसत वेतन के आधार पर) अनुदान (Gratuity) दिये हुए, किसी कर्मचारी को जिसकी सेवाएँ १ वर्ष की हो चुकी हैं बरखास्त नहीं किया जा सकता। सन् १९५४ में औद्योगिक संघर्ष विधान में पुनः संशोधन किया गया है। इस संशोधन के अनुसार यह कानून बगीचा उद्योग के कर्मचारियों पर भी १ अप्रैल सन् १९५४ से लागू होता है।

उपसंहार

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सरकार ने औद्योगिक शांति को स्थापित करने की दिशा में सराहनीय प्रयत्न किये हैं। अनिवार्य समझौता एवं पंच निर्णय यद्यपि

उचित नहीं कहे जा सकते परन्तु भारतीय प्रगति के इस संक्रमण काल में अनिवार्यता का होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य था। परन्तु स्थायी शांति की स्थापना के लिए केवल अनुरोध एवं दबाव का ही सर्वदा सहारा नहीं लिया जा सकता।

अनिवार्यता युद्ध काल में आवश्यक भी हो, वर्तमान काल में वह अनावश्यक एवं अन्यायपूर्ण है। स्थायी शांति का निर्माण तो आपसी प्रेम एवं सद्भावना के आधार पर ही सम्भव है। कानून द्वारा सुधारों को मनुष्यों पर लादा नहीं जा सकता। एच० एस० किरकाल्डी (H. S. Kirkaldi) ने ठीक ही लिखा है—

"Laws and Libraries are full of statutes and court cases, and decisions on the conduct of married life, but they have not made a marriage happy and successful. This is true in industrial relations It is just as hard and impractical to prescribe iron-bound rules of behaviour in dealings between Labour and management, as it would be to prescribe them for husbands and wives"

अक्तूबर सन् १९५२ में नैनीताल में हुए एक त्रिदलीय श्रम सम्मेलन (Tripartite Labour Conference) का सामान्य विचार भी यही था कि "अनिवार्य निर्णय (Compulsory Adjudication)" के स्थान पर सामूहिक सौदेबाजी (Collective bargaining) और आपसी समझौते को महत्व दिया जाय। श्री गिरि भी पारस्परिक समझौते (Mutual Conciliation) और स्वेच्छिक पंच निर्णय (Voluntary Arbitration) के पक्ष में थे। वास्तव में औद्योगिक शांति स्थापित करने का मार्ग कानूनी व्यवस्था में ही निहित नहीं है। असंतोष से ओत प्रोत शोषित एवं जर्जरित श्रमिक वर्ग से शांति की कामना करना केवल एक सुखद स्वप्न के समान होगा। स्थायी शांति तो श्रमिकों को आर्थिक शृङ्खलाओं से छुटकारा दिलाकर एवं उनके जीवन में नवीन चेतना तथा जागृति का प्रादुर्भाव करके ही स्थापित की जा सकती है। श्रीमती ए० डी० श्राफ (Mrs. A. D. Shroff) ने ठीक ही लिखा है—

"Let the Government realise that there is no time for mere schemes on paper This is time for action, words do not matter, act up to your tradition, hold high the maxim of justice and equality and give the workers the place which they deserve in the building up of society."

२०

भारतीय श्रम की कार्यक्षमता

(Efficiency of Indian Labour)

राष्ट्र के औद्योगिक विकास के दो मूल एवं महत्वपूर्ण स्तम्भ हैं, श्रम एवं पूँजी। औद्योगिक ढाचे की भित्ति का न्यास इन्हीं दोनों के आधार पर पूर्णतया अवलम्बित है। निश्चेष्ट एवं निष्क्रिय पूँजी में श्रम ही चेतना प्रदान करता है, अतः उद्योग को जीवन एवं गति प्रदान करने वाले स्तम्भ श्रम का स्थान पूँजी की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। यही कारण है कि राष्ट्र की उत्पादन क्षमता एवं औद्योगिक प्रगति वहाँ की श्रमिकों की शक्ति एवं क्षमता पर निर्भर होती है। भारत में राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के उपरान्त राष्ट्र के आर्थिक मोक्ष की समस्या का समाधान नितांत आवश्यक है और तभी हमारी राजनैतिक स्वतन्त्रता सार्थक सिद्ध हो सकती है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए देश का औद्योगीकरण अनिवार्य हो गया है क्योंकि यही निर्धनता, अज्ञानता, रोग तथा आलस्य की समस्याओं का अन्त करके समृद्ध एवं सम्पन्नता का मार्ग है। भारत के पुनर्निर्माण का कार्य यहाँ के असंख्य श्रमिकों के कन्धों पर ही निर्भर है। आज के वैज्ञानिक प्रतिभा के युग में श्रमिकों की संख्या का यथेष्ट होना ही पर्याप्त नहीं, वरन् उनका कार्यकुशल होना भी नितांत आवश्यक है। नित्य प्रति नवीन यन्त्रों तथा उपादानों का आविष्कार हुआ करता है और इन्हीं के कुशल सञ्चालन पर ही श्रमिकों की उत्पादन क्षमता निर्भर होती है। अत: आज राष्ट्र के औद्योगिक विकास, उत्पादन वृद्धि तथा पुनर्निर्माण के लिए श्रम की कार्यक्षमता में वृद्धि देश की प्रथम एवं आधारभूत आवश्यकता है। राष्ट्र के आर्थिक मोक्ष का स्वप्न श्रमिकों की कार्यक्षमता में वृद्धि से ही साकार हो सकता है। श्रमिक ही राष्ट्र के आर्थिक ढाँचे की रीढ़ है।

श्रम की वर्तमान दशा

आज भारतीय श्रमिक उतना कार्यकुशल नहीं है जितना कि उसके पाश्चात्य जगत के साथी हैं। वास्तव में भारतीय श्रम अपनी अकुशलता के लिए सारे विश्व में प्रसिद्ध है। अन्य देशों से तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह स्थिति पूर्णतया स्पष्ट हो

जाती है। अलैक्जेण्डर मैकरानर्ट के अनुसार अँग्रेज श्रमिक भारतीय श्रमिक की अपेक्षा ४ गुना अधिक कार्य कुशल है। क्लेमेंट सिम्पसन का तो मत है कि सूती वस्त्र उद्योग में भारत के औसतन ३ श्रमिक लङ्काशायर के मिलों में एक श्रमिक के बराबर कार्य करते हैं। सूती मिल उद्योग टटकर कमीशन १९२६ २७ के अनुसार जितने समय में जापानी श्रमिक २४० तकुओं पर, अँग्रेज श्रमिक ५०० से ६०० तकुओं पर और अमरीकन श्रमिक लगभग ११२० तकुओं पर काम करता है उतने ही समय में भारतीय श्रमिक केवल १८० तकुओं पर काम कर पाता है। भारतीय बुनकर औसतन २ करघे चलाता है जब कि जापानी बुनकर २½, अँग्रेज बुनकर ४ से ६ तक एवं अमरीकी बुनकर ६ करघों का सञ्चालन कर सकता है। भारतीय उद्योगपतियों का तो कथन है कि वर्तमान मजदूरी (कदाचित् विश्व में जो सबसे कम है) भी श्रमिकों की कार्यक्षमता को देखते हुए मँहगी है। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय श्रमिक की उत्पादन क्षमता अन्य देशों के श्रमिकों की अपेक्षा बहुत कम है। भारतीय श्रमिक का दरिद्रता एवं अज्ञानता के गहन अन्धकार में पालन पोषण होने के कारण उसकी कार्य क्षमता का हीन होना स्वाभाविक ही है।

श्रमिकों की कार्यक्षमता निर्धारित करने वाले मुख्य तत्व निम्नलिखित हैं—

(१) प्राकृतिक कारण— (क) जलवायु
(ख) पैतृक गुण

(२) आर्थिक कारण— (क) काम के घंटे
(ख) उचित मजदूरी
(ग) कारखाने का वातावरण
(घ) छुट्टियाँ एवं अन्य सुविधाएँ
(ङ) आधुनिक यन्त्रों की उपलब्धि
(च) अच्छे किस्म के कच्चे माल की उपलब्धि
(छ) कुशल प्रबन्ध
(ज) स्थायी प्रकृति

(३) राजनैतिक एवं सामाजिक— (क) सरकार की नीति
(ख) श्रम कल्याण कार्य
(ग) शिक्षा एवं आवास की व्यवस्था
(घ) महत्वाकाङ्क्षी भावनाएँ

उपर्युक्त परिस्थितियों का अनुकूल न होना ही भारतीय श्रमिकों की अकुशलता का मुख्य कारण है जैसा कि निम्नलिखित विवेचन से स्पष्ट होता है—

जलवायु

जलवायु का प्रभाव श्रमिकों की कार्यक्षमता पर अत्यधिक पड़ता है। ठंडे प्रदेशों के रहने वाले लोग गर्म प्रदेशों के रहने वालों से अधिक शक्तिशाली होते हैं और वे अधिक घंटों तक काम करने की क्षमता रखते हैं। भारत एक गर्म देश है। यहाँ गर्मियों में तो कारखानों में १२०° तक तापक्रम पहुंच जाता है। ऐसी दशा में कार्य करना श्रमिकों के लिये अत्यन्त कठिन हो जाता है और वे अधिक घंटों तक कार्य करने में असमर्थ हो जाते हैं।

कार्य के अधिक घंटे

भारतीय उद्योगपतियों की मनोवृत्ति सदैव से यह रही है कि उत्पादन में वृद्धि श्रमिकों के कार्य करने के अधिक घंटों पर ही निर्भर है। परिणामस्वरूप भारतीय श्रमिक को औसतन ८ से १० घन्टे तक प्रतिदिन काम करना पड़ता है जब कि अमरीका में श्रमिकों को सप्ताह में केवल ४० घंटे तथा रूस में ३६ घंटे कार्य करना पड़ता है। कार्य के घंटे अधिक होने के कारण श्रमिकों की रुचि कार्य के प्रति समाप्त हो जाती है और वे अपनी उत्पादन क्षमता खो बैठते हैं।

कम मजदूरी

भारतीय श्रमिकों को इतनी कम मजदूरी मिलती है कि वे अपनी दैनिक आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति भी बड़ी कठिनाई से कर पाते हैं। दरिद्रता के कारण ही उनको पर्याप्त भोजन भी नहीं मिल पाता है। ऐसी दशा में उनमें शक्ति एवं स्फूर्ति का अभाव स्वाभाविक ही है। उनके दिमाग सदैव भावी चिंताओं में ग्रस्त रहते हैं और उनमें ही उनका जीवन घुला करता है। न तो वे अपने बच्चों के स्वास्थ्य का ही प्रबन्ध कर पाते हैं और न उनकी शिक्षा का ही। बीमारी से रक्षा के लिये तो वे सदैव भाग्य तथा भगवान पर ही निर्भर रहते हैं। इन चिन्ताग्रस्त नर कंकालों से कार्य कुशलता की आशा रखना व्यर्थ ही होगा।

कार्य करने की प्रतिकूल दशाएँ

भारतीय मिलों का अस्वास्थ्यकर वातावरण भी जिसमें श्रमिकों को अधिक घंटों तक कार्य करना पड़ता है भारतीय श्रम की अकुशलता, का एक मुख्य कारण है। ऐसी परिस्थितियों में जहाँ पर सूर्य के प्रकाश के होते हुए भी विद्युत प्रकाश की आवश्यकता पड़ती हो और जहाँ शुद्ध वायु का प्रवेश असम्भव हो, मानव का निरन्तर कुशलता पूर्वक कार्य करना कदाचित् असम्भव ही है। स्वस्थ्य वातावरण ही मनुष्य को कार्य करने की प्रेरणा प्रदान करता है और भारत की मिलों में इसका सर्वथा अभाव है। ऐसी अस्वस्थ्यकर परिस्थितियों में भारतीय श्रमिकों का अकुशल होना स्वाभाविक ही है।

छुट्टियों एवं अन्य सुविधाओं का अभाव

निरन्तर कार्य में लगे रहने के उपरान्त मानव को विश्राम की अत्यधिक आवश्यकता रहती है। भारत में काम करने के घंटे तो अधिक हैं ही और उसके साथ साथ श्रमिकों की छुट्टियों की भी कोई व्यवस्था नहीं है। काम के घंटों के बीच में भी जो अवकाश उन्हें मिलता है, वह भी अपर्याप्त है। छुट्टियों के अभाव में श्रमिकों के जीवन में मनोरंजन का कोई भी स्थान नहीं रह जाता है और वे काम से जी चुराने लगते हैं। काम के प्रति उनकी रुचि भी नष्ट हो जाती है और वे अपनी उत्पादन-क्षमता खो बैठते हैं।

चिकित्सा तथा मनोरंजन के लिए भी भारतीय श्रमिकों को कोई सुविधाएँ उपलब्ध नहीं हैं। श्रमिक अपनी दरिद्रता के कारण स्वयं चिकित्सा तथा मनोरंजन का प्रबन्ध करने में असमर्थ होता है। मनोरंजन के साधन न उपलब्ध होने के कारण श्रमिकों को अपनी थकान एवं चिन्ताओं से मुक्ति पाने के लिए अपने अभिन्न मित्र शराब का ही सहारा लेना पड़ता है जिससे उनकी कार्यक्षमता और भी अधिक गिर जाती है।

उत्तम यन्त्रों का अभाव

भारत के मिलों की मशीनें प्रायः घिसी पिटी हैं। आधुनिक मशीनों का उत्पादन अब भी भारत में प्रारम्भ नहीं हुआ है और भारत पूर्ण रूप से विदेशों पर आश्रित है। विदेशी विनिमय की कठिनाई के कारण आधुनिक मशीनों का आयात भी सम्भव नहीं हो पाता। भारतीय उद्योगपति भी आधुनिक मशीनों पर अधिक रुपया नहीं लगाना चाहते। अतः आधुनिक यंत्रों के अभाव में श्रमिकों की उत्पादन क्षमता उतनी न होना जितनी अन्य देशों में होती है, स्वाभाविक ही है। बिना अच्छी मशीनों के कोई भी श्रमिक चाहे वह कितना ही निपुण एवं स्वस्थ क्यों न हो, अधिक उत्पादन नहीं कर सकता। ऐसी परिस्थिति में यदि भारतीय श्रम की उत्पादन क्षमता कम है तो इसमें आश्चर्य ही क्या।

घटिया किस्म के कच्चे माल का उपयोग

हमारे देश के उद्योगपति केवल अधिक से अधिक लाभ कमाने की कामना रखते हैं और इसके लिये वह सब कुछ करने के लिये तैयार रहते हैं। इसी का परिणाम है कि हमारे देश के उद्योगों में प्रायः घटिया किस्म के कच्चे माल का प्रयोग किया जाता है जिसका प्रभाव उत्पादन की मात्रा तथा गुण पर प्रतिकूल पड़ता है। यदि कच्चा माल ही अच्छा न हो तो इसमें श्रमिकों का क्या दोष। उनकी कार्यक्षमता कम होना स्वाभाविक ही है। जैसा कच्चा माल होगा वैसा ही उत्पादन होगा, फिर

अकुशलता का दोष श्रमिक के मत्थे क्यों मढ़ा जाय। घटिया किस्म के माल होने का प्रभाव भारत के विदेशी व्यापार पर भी खराब पड़ा है।

अकुशल प्रबन्ध

जिस प्रकार से फौज की शक्ति उसके नायक अथवा सचालक की कुशलता एव दूरदर्शिता पर निर्भर होती है, इसी प्रकार से श्रमिकों की शक्ति उद्योग के सचालक अथवा सगठनकर्ता पर निर्भर होती है। श्रमिक तो केवल आज्ञा का पालन करने वाला होता है। उसको जो आज्ञा या जो कार्य दिया जायगा इसका सम्पादित करना अनिवार्य है क्योंकि वह अपनी स्वतन्त्रा को मजबूरी के बदले पहले से ही बेच देता है। यह संचालक का कार्य है कि वह श्रमिक को वही कार्य दे जिसके लिये वह अधिक उपयुक्त है और जिस कार्य के प्रति उसकी रुचि है। भारत में अकुशल प्रबन्ध का होना भी श्रमिकों की अकुशलता का एक मुख्य कारण है। भारत में वैज्ञानिक प्रबध (Scientific Management) उचित प्रमापीकरण (Standardization) मालिकों एव श्रमिकों में सहकारिता तथा मालिकों के उचित व्यवहार का प्राय अभाव है। ऐसी दशा में श्रमिकों का अकुशल होना स्वाभाविक ही है। यदि वैज्ञानिक प्रबन्ध क आधार पर श्रमिकों को उनकी रुचि और योग्यता के अनुसार कार्य दिया जाय, उत्पादन प्रणाली में सुधार किया जाय, माल का उचित प्रमापीकरण हो तथा कुशल प्रबन्ध द्वारा श्रमिकों में यह भावना व्याप्त कर दी जाय कि उद्योग उनका अपना ही है और उसकी सफलता में ही उनकी सफलता निहित है तो कोई कारण नहीं कि श्रमिकों की कार्यक्षमता में आशातीत वृद्धि सम्भव न हो।

श्रमिकों की अस्थायी प्रकृति

भारतीय श्रमिक प्राय गाँव के रहने वाले होते हैं और वे शहरों में केवल अपनी आय वृद्धि करने क उद्देश्य से कारखानों म नौकरी करते हैं। उनका स्थायी निवास स्थान तो गाव में ही रहता है और उनका मुख्य उद्यम कृषि होता है। परिणामस्वरूप वे स्थायी रूप से कारखानों म काम करने एव शहरा म बसने के लिए नहीं आते। श्रमिकों की इस अस्थायी प्रकृति का प्रभाव यह होता है कि व अपने काम के प्रति कोई विशेष रुचि नहीं रखते तथा बार बार काम छोड़ने क कारण अपने कार्य म दक्ष भी नहीं हो पाते। परिवार क अन्य सदस्यों क साथ न रहने क कारण श्रमिक सदैव घर जाने की सोचता रहता है। यही कारण है कि वह अधिक छुट्टियाँ लेता रहता है। प्राय शहर में अकेले रहने क कारण उसके रहने तथा खाने पीने की व्यवस्था भी उचित रूप से नहीं हो पाती जिसका बुरा प्रभाव उसके स्वास्थ्य पर पड़ता है। इन परिस्थितियों में ससार के किसी भी श्रमिक का कार्य कुशल होना असम्भव सा ही प्रतीत होता है।

यदि भारतीय श्रमिक इन परिस्थितियों के कारण अकुशल है तो इसमें आश्चर्य ही क्या।

आवास की असुविधा

भारत के सभी औद्योगिक शहरों में मकानों की समस्या बड़ी गम्भीर है। प्रायः श्रमिक गन्दी कोठरियों में निवास करते हैं, जिनमें सूर्य का प्रकाश एवं स्वच्छ हवा दुर्लभ होती है। ये कोठरियाँ पशुओं के लिए भी कदाचित अपर्याप्त होंगी। इनमें बीमारियों के कीटाणु सदा पलते रहते हैं। ऐसे निवास स्थानों में रहकर श्रमिक अपना स्वास्थ्य खो बैठता है। दिन भर काम करने के उपरान्त भी यदि श्रमिकों को पूर्ण विश्राम करने के लिये भी स्थान न हो तो वे कैसे कार्य-कुशल रह सकते हैं। प्राय देखा गया है कि एक कोठरी में ही ४ से ६ श्रमिक तक रहते हैं। ऐसे वातावरण में रहकर भी वे कार्यकुशल हो सकें ऐसी कल्पना भी नहीं की जा सकती। आवास की उचित व्यवस्था न होने के कारण श्रमिक अपने परिवार को भी अपने साथ नहीं रख सकता। दिन भर के कठोर परिश्रम के उपरान्त घर लौटने पर उससे सहानुभूति दिखलाने के लिए कोई दो शब्द भी कहने वाला नहीं होता है। थकान मिटाने के लिए कोई मनोरंजन के साधन भी उपलब्ध नहीं होते। इन सबका परिणाम यह होता है कि वह जुआ खेलता है, शराब पीता है और वेश्यागमन करने लगता है जिससे उसका नैतिक पतन प्रारम्भ हो जाता है और साथ ही साथ कार्यक्षमता भी घटती जाती है।

श्रम कल्याण कार्यों का अभाव

विदेशी सरकार की उपेक्षा एवं उद्योगपतियों द्वारा श्रम कल्याण कार्यों पर व्यय किया गया धन व्यर्थ होने की भावना के कारण भारत में श्रम-कल्याण कार्यों का सर्वथा अभाव रहा है। उद्योगपतियों द्वारा श्रम कल्याण कार्यों के न किये जाने के कारण, श्रमिकों में उनके प्रति कुछ भी सहानुभूति नहीं रह गई तथा कामचोरी की भावना का प्रादुर्भाव हुआ जिससे उनकी कार्यक्षमता कम हो गई। इसके अतिरिक्त श्रम-कल्याण कार्यों के अभाव में श्रमिकों का जीवन और भी संकटमय हो गया। अन्य देशों के उद्योगपति तो श्रम कल्याण कार्यों को उचित विनियोग (investment) समझते हैं। ऐसी दशा में भारतीय श्रमिकों की कार्यक्षमता कम होना स्वाभाविक ही है।

अशिक्षा

सामान्य शिक्षा श्रमिक के ज्ञान और साधारण बुद्धि के स्तर को ऊँचा उठाने के लिए अत्यन्त आवश्यक है जिसके बिना श्रमिकों की कार्यक्षमता में वृद्धि नहीं हो सकती। भारत में आज भी निरक्षरता का साम्राज्य है। हमारे देश में आज भी कुल

यदि हम भारत के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक ढांचे पर दृष्टिपात करें तो यह स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि श्रमिकों की इस देश में सदैव अवहेलना की गई है। भारत में श्रमिकों की मजदूरी बहुत ही कम है और उनका रहन-सहन का स्तर निम्नकोटि का है। कार्य करने एवं रहने का वातावरण भी अत्यन्त शोचनीय है। उनको निम्नकोटि का कच्चा माल तथा मशीनें कार्य करने के लिए मिलती हैं। यांत्रिक शिक्षा एवं श्रम कल्याण कार्यों का पूर्णतया अभाव है। उद्योगपतियों की सहानुभूति से भी वे पूर्णरूप से वंचित हैं। भारतीय उद्योगों का सङ्गठन तथा प्रबंध भी दोषपूर्ण हैं। सरकार द्वारा जो भी कानून श्रमिकों के हित के लिए बनाये गये हैं वे भी अधिकारियों की उदासीनता एवं उद्योगपतियों की उपेक्षा के कारण केवल कागजी कार्यवाही के रूप में ही रह गये हैं उनको क्रियात्मक रूप नहीं प्रदान किया जा सका। ऐसी परिस्थितियों में यदि भारतीय नर कंकाल श्रमिक की तुलना अमरीका, रूस, इङ्गलैंड आदि देशों के सम्पन्न श्रमिकों से करना कदाचित् अनुचित होगा। श्रीमती वीरा एन्सटे (Mrs Vera Anstey) ने ठीक ही लिखा है—

"एक लंकाशायर के श्रमिक के समान उत्पादन करने के लिए मद्रास की पश्चिम और कर्नाटक मिलों के औसतन ३ श्रमिकों की आवश्यकता होती है—यह अनुमान भारतीय श्रमिक की अकुशलता का आधार नहीं मानना चाहिए।......भारतीय श्रमिक की अल्प उत्पादन क्षमता मुख्य रूप से यहाँ की मिलों में कार्य,सगठन प्रणाली के भिन्न होने के कारण है।"

जहाँ तक भारतवासियों की शारीरिक शक्ति का सम्बंध है द्वितीय महायुद्ध में विजय प्राप्त कर उन्होंने अपनी वीरता का डंका समस्त विश्व में पीट दिया है। अतः यही भारतीय मूक मशीन के सम्मुख हार मान ले कदाचित् ऐसा असम्भव है। वास्तव में भारतीय श्रमिक की कुशलता एवं शक्ति युगों तक भारत के गौरव की वस्तु रही है। आज भी जिन प्रतिष्ठानों में उसको अनुकूल वातावरण उपलब्ध हो गया है वहाँ उसने अन्य देशों के श्रमिकों को चुनौती दे दी है। ग्रेडी कमीशन (Grady Comm'ssion) जो भारत में सन् १६४२ में आया था, भारतीय श्रमिकों की अतुल शक्ति देखकर आश्चर्यचकित रह गया। श्री कसे (Mr. Casse) ने कहा था—

"भारतीय श्रमिक प्रथम श्रेणी का मिकैनिक है और अपनी कार्य-कुशलता में समस्त विश्व को चुनौती दे सकता है।"

टाटानगर के लोहा इस्पात कारखानों का निरीक्षण करने के उपरान्त ड्यूक आफ ग्लाउसैस्टर ने कहा था—

"इस उद्योग की स्थापना करने वालों का उत्साह और श्रमिकों की

कुशलता और शक्ति सम्पन्नता भारत के औद्योगिक भविष्य के लिए शुभ लक्षण हैं।"

इसमें किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं कि भारतीय श्रमिक कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी कार्य कर सकता है और कैसे भी बदलते हुए वातावरण के अनुकूल अपने को बना सकता है। बम्बई राज्य के कुछ सूती कारखानों में जहाँ वातावरण मे कुछ सुधार हुआ है, मजदूरों ने ६ करघों के सञ्चालन की क्षमता प्राप्त कर ली है और उनका उत्पादन लंकाशायर क श्रमिक की तुलना में ८५ प्रतिशत तक पहुँच गया है जब कि लंकाशायर के कारखानों की अपेक्षा यहाँ के कारखानों म काम करने की दशाएँ बहुत ही सोचनीय हैं। श्रम जाँच आयोग (Labour Investigation Committee) ने ठीक ही लिखा है—

'Considering that in this country hours of work are longer, rest pauses fewer, facilities for apprenticeship and training rarer, standards of nutrition and welfare amenities far poorer, and the level of wages much lower than in other countries, the so called inefficiency cannot be attributed to any lack of native intelligence or aptitude on the part of the workers"

कार्यक्षमता में वृद्धि के उपाय

श्रमिकों की कार्यक्षमता स्वय उन पर मालिकों पर तथा सरकार पर अवलम्बित है, अत जब ये सभी अपना अपना कर्तव्य निबाहें तभी इस समस्या का समाधान हो सकता है। इन सभी को मानवतावादी दृष्टिकोण अपनाना अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु इन सभी में सबसे अधिक उत्तरदायित्व मालिकों का ही है क्योंकि श्रमिकों से लाभ उन्हीं को प्राप्त होता है। इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं कि यदि श्रमिकों को कार्य करने एव रहने की सुविधाएँ उचित मजदूरी, काम क घटो में कमी तथा मालिकों द्वारा सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार प्रदान किया जाय तो उनकी कार्यकुशलता में अवश्य वृद्धि होगी। वास्तव में इस समस्या का समाधान केवल कानूनों द्वारा सम्भव नहीं हो सकता। आवश्यकता तो इस बात की है कि श्रमिकों के लिए ऐसे वातावरण का निर्माण किया जाय जिसमें श्रमिक यह अनुभव करने लगे कि राष्ट्र की समृद्धि एव सम्पन्नता में उसका भी योगदान है। परिस्थितियों ने श्रमिकों को सदैव उदासीन रहने के लिए विवश कर दिया है। मिल मालिकों को यह समझना चाहिए कि श्रमिक ही उनके उत्पादन का सक्रिय साथी है और केवल मशीनों तथा पूँजी में वृद्धि से ही उत्पादन वृद्धि सम्भव नहीं है। श्रमिक मनुष्य है और इसलिए उसके साथ मनुष्य की भाँति व्यवहार करना आवश्यक है। अत उत्पादन में वृद्धि के लिए उनके जीवन को सुख

मय बनाना तथा उनके सुख दुःख में सहानुभूति रखना उद्योग की सफलता के लिए अत्यन्त आवश्यक है। श्री खाडू भाई देसाई ने ठीक ही कहा है—

"उत्पादन का सिर्फ यह मतलब नहीं कि श्रमिक अधिक परिश्रम करे और अधिक माल तैयार करे, आखिर मनुष्य के श्रम की भी एक सीमा है। दूसरी ओर मशीनों की उचित देख रेख और मरम्मत करने, पहले से उत्तम कच्चे माल के प्रयोग करने तथा उत्पादन प्रणाली एवं प्रबन्ध मे सुधार करने से ऐसे परिणाम निकल सकते हैं जो अकेले श्रमिक द्वारा अधिक श्रम करने से प्राप्त हुए परिणामों से कहीं अधिक बढ़-चढ़ कर होंगे।"

श्रमिकों के आवास की उचित व्यवस्था, वात्रिक प्रशिक्षण की व्यवस्था तथा श्रम कल्याण कार्यों की व्यवस्था में सरकार सहयोग देकर तथा सक्रिय भाग लेकर श्रमिकों के जीवन में नवीन स्फूर्ति एवं चेतना प्रदान कर सकती है। यदि ये सभी सुविधाएँ प्रदान कर दी जायें तो वह दिन दूर नहीं होगा जब भारतीय श्रमिक भी अन्य उन्नतशील राष्ट्रों के श्रमिकों की भाँति कार्यकुशल बन जायेंगे।

उपर्युक्त सुधारों के अतिरिक्त श्रमिकों के अन्दर मनोवैज्ञानिक सुधार की भी बहुत आवश्यकता है जिसके बिना कदाचित् उनकी कार्यक्षमता बढ़ाने के सभी उपाय असफल सिद्ध होंगे। साम्यवादी प्रभाव में आकर आज वह जो नीति—काम धीरे करो—अपना रहे हैं, वह उत्तरदायी नागरिकों के लिए उचित नहीं कही जा सकती। आज इस बात की बहुत आवश्यकता है कि श्रमिक यह समझें कि वे राष्ट्र के भाग्य के निर्माता हैं और उनका कोई भी ऐसा कार्य जिससे उत्पादन वृद्धि में अवरोध उत्पन्न होता है राष्ट्र के प्रति विश्वासघात है। उनका यह परम कर्तव्य होना चाहिये कि अधिक से अधिक उत्पादन करके राष्ट्र के निर्माण में अपना सक्रिय सहयोग प्रदान करें।

उपसंहार

हर्ष का विषय है कि हमारी राष्ट्रीय सरकार श्रमिकों की दयनीय स्थिति एवं उनके महत्व के प्रति पूर्णरूप से जागरूक है। सरकार ने श्रमकल्याण कार्यों में सक्रिय भाग लेकर, न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करके, आवास की व्यवस्था करके एवं सामाजिक सुरक्षा की योजनाएं कार्यान्वित करके श्रमिकों के जीवन को सुखमय बनाने का सराहनीय प्रयत्न किया है। भारतीय उद्योगपति भी समय की माँग के अनुसार मानववादी दृष्टिकोण अपनाने लगे हैं। श्रमिकों के वात्रिक प्रशिक्षण की व्यवस्था की जा चुकी है। श्रमिकों के हित में और भी कानून बनाये गये हैं तथा बनाये जा रहे हैं। ऐसी दशाओं में भारतीय श्रमिकों की कार्यक्षमता में वृद्धि स्वाभाविक ही है। इसमें सन्देह नहीं कि सुन्दर एवं सुखमय वातावरण के प्रादुर्भाव के साथ ही साथ भारत की असख्य मानव शक्ति बिजली की भाँति चमक उठेगी।

चतुर्थ खण्ड

"भारतीय-संगठित-उद्योग"

(१) सूती वस्त्र उद्योग
(२) लोह-इस्पात उद्योग
(३) जूट उद्योग
(४) सीमेंट उद्योग
(५) कागज उद्योग
(६) चीनी उद्योग

२१

सूती वस्त्र उद्योग

(Cotton Textile Industry)

"सूती वस्त्र उद्योग भारतीय औद्योगिक विकास में अग्रगण्य तथा पथ प्रदर्शक है। इसने न केवल अपार मात्रा के वस्त्र आयात से देश को मुक्त किया है, वरन् संसार के निर्यात मानचित्र में महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लिया है।"—श्री एम० डी० ठेकरसे

सूती वस्त्र उद्योग भारत का एक अत्यन्त प्राचीन तथा अत्यन्त महत्वपूर्ण राष्ट्रीय उद्योग है। मानव जीवन की द्वितीय महत्वपूर्ण आवश्यकता वस्त्र (clothing) की पूर्ति करने वाला यह उद्योग राष्ट्रीय जन जीवन में कृषि के बाद अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान पर स्थित है। भारत कपास का जन्म स्थान है और सूती कपड़े के उद्योग का जन्मदाता कहा जा सकता है।

ऐतिहासिक मीमांसा

आज से ५,००० वर्ष पूर्व भी भारत में उत्तम सूती कपड़ा बुना जाता था। भारतीय वस्त्र का व्यापार आधुनिक लोकतंत्र एवं सभ्यता के जनक मिस्र, रोम, यूनान आदि अनेक मध्यपूर्व और सुदूर पूर्व के देशों से होता था। इतिहास साक्षी है कि "सोने की चिड़िया" युग में भारत के इस कुटीर उद्योग की स्विट्जरलैंड की घड़ियों के समान विश्व ख्याति प्राप्त थी। प्राचीन रोम में भारतीय मलमल तथा छींट के वस्त्र धारण करने में रोमन महिलाएँ अपना गौरव समझती थीं। परन्तु भारत में पदार्पण करने के उपरान्त अँग्रेज ज्यों ज्यों भारतीय राजनीतिक क्षितिज पर छाते गये, वैसे वैसे आर्थिक जगत पर आघात भी करते रहे। उनका मुख्य उद्देश्य तो भारत की कमजोरियों से लाभ उठाकर इङ्गलैण्ड को पूँजी का आगार बनाना था। परिणामस्वरूप उन्होंने अपने देश की अर्थ-व्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाले उद्योगों को नष्ट करना प्रारम्भ कर दिया। हमारा अतीत का गौरव वस्त्र उद्योग भी इस लपेट से न बच सका। अँग्रेजों ने भारतीय बुनकरों के अँगूठे ही नहीं वरन् हाथों को भी कटवा दिया, संरक्षण एवं आर्थिक सहायता का प्रश्न ही नहीं था। इन परिस्थियों में कोई भी उद्योग कैसे

जीवित एव प्रगति की ओर उन्मुख हो सकता था। परन्तु इतना सब होते हुए भी भारतीय वस्त्रोद्योग दबी हुई चिनगारी के समान जीवित बना रहा और समय पाकर आज क्रमिक विकास करता हुआ चिनगारी की ऊपरी राख को हटाकर विश्व वस्त्र बाजार में पुन उभर आया है और विश्व के अन्य औद्योगिक राष्ट्रों के लिए चिन्ता का विषय बन गया है। श्री पचानन ने ठीक ही लिखा है—

"सूती उद्योग भारत के प्राचीन युग का गौरव, वर्तमान एवं भविष्य का सदैव किन्तु सदा की आशा है।"

हमारे देश में सर्वप्रथम वृहद्‌स्तरीय सूती वस्त्र उद्योग की नींव सन् १८१८ ई० में कलकत्ता म डाली गई परन्तु यह सफल न हो सकी। सन् १८५४ ई० म श्री कावजी डावर ने द्वारा बम्बई म एक बुनाई मिल सचालित किया गया। इसके उपरान्त धीरे-धीरे सूती वस्त्र उद्योग प्रगति करता रहा और आधुनिक काल में यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण राष्ट्रीय उद्योग बन गया है। सन् १८६१ ई० म 'शाहपुर मिल्स' की स्थापना अहमदाबाद में श्री रनछोड़लाल छोटालाल रेंढ़ीवाला के द्वारा हुई। सन् १८६६ ई० म 'कैलिको मिल्स' की स्थापना हुई। बम्बई प्रदेश म कच्चे माल की प्रचुरता, पूँजी की उपलब्धिता, बैंकिंग की सुविधाएँ, नम जलवायु, यातायात के साधनों की प्रचुरता, आयात तथा निर्यात की सुविधाएँ तथा विदेशी सस्ते कोयले की उपलब्धता इत्यादि सुविधाएँ उपस्थित थीं अत सब प्रथम सूती वस्त्र उद्योग इसी प्रदेश म केन्द्रित हुए। क्रमश सूती मिलों की सख्या म धीरे धीरे वृद्धि होने लगी।

सन् १८७७ से बहुत सी कताई व बुनाई की मिलें अहमदाबाद, शोलापुर, नागपुर, कानपुर, कलकत्ता, मद्रास, मदुरा तथा आगरा म खुलने लगीं। सन् १८६० में सूती वस्त्र उद्योग के लिए सकट काल आया। इस सकट काल का कारण माँग की कमी, जापानी प्रतिस्पर्द्धा तथा करेन्सी की दशा थी। जापान और चीन दोनों ही अपने अपने देशों में सूती वस्त्र उद्योग की उन्नति कर रहे थे तथा जापान को बहुत सी ऐसी सुविधाएँ जैसे सस्ता श्रम तथा सरकारी सहायता एव रक्षा इत्यादि प्राप्त थी जो हमारे देश म नहीं था। इन कारणों से हमारे सूती वस्त्र उद्योग की प्रगति में रुकावट आ गई। यह सकट काल लगभग सन् १६०५ तक रहा।

इसके उपरान्त सन् १६०७ म सूती वस्त्र उद्योग फिर उन्नति करने लगा। इसके प्रमुख कारण दो थ। प्रथमत बिजली प्रयोग प्रारम्भ होने के कारण कार्य के घटों म कमी हुई तथा काम भी शीघ्रता से होने से उत्पादन में वृद्धि हुई। दूसरे स्वदेशी वस्त्र पहिनने की भावना में वृद्धि होने के कारण भारतीय सूती वस्त्रों की माँग में पर्याप्त वृद्धि हो गई। सन् १६०७ म मिलों की सख्या २२४ थी जो कि

सन् १९१४ में बढ़कर २७१ हो गई। परिणामस्वरूप प्रथम युद्ध के पहले सन् १९१४ ई० तक सूती वस्त्र उद्योग की दृष्टि से हमारा देश विश्व में चौथा स्थान प्राप्त कर सका।

प्रथम युद्ध काल में सूती वस्त्र उद्योग

युद्ध के कारण विदेशी प्रतिद्वन्द्विता का अन्त हो गया तथा सूती वस्त्रों की माँग में बहुत बड़ी वृद्धि हो गई। भारत सरकार तथा अन्य मित्र राष्ट्रीय सरकारों ने अपने वस्त्रों की आवश्यकताओं की पूर्ति भारत निर्मित कपड़ा से ही करना प्रारम्भ कर दिया। माँग में वृद्धि हो जाने के कारण इस उद्योग का विकास हुआ। युद्ध काल इस उद्योग के विकास के लिए वरदान स्वरूप होकर उपस्थित हुआ था परन्तु नई मशीनों के आयात में कठिनाई होने के कारण नवीन मिलों की अधिक संख्या में स्थापना न हो सकी परन्तु फिर भी करघों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई। अभी तक इस उद्योग में कताई का विशेष महत्व था परन्तु अब बुनाई पक्ष का विकास हुआ। फारस, मेसोपोटामिया, दक्षिणी अफ्रीका, लंका और मलाया में भारतीय वस्त्रों का निर्यात होने लगा। इस प्रकार प्रथम युद्ध काल में इस उद्योग का पर्याप्त विकास हुआ।

प्रथम युद्धोपरान्त काल में प्रगति

युद्ध के उपरान्त विश्वव्यापी आर्थिक संकट का प्रभाव अन्य उद्योगों की भाँति इस उद्योग पर भी पड़ा। सन् १९२१ के उपरान्त इस उद्योग की प्रगति शिथिल पड़ गई। कृषि पदार्थों के मूल्य गिरने के कारण कृषकों की क्रय शक्ति क्षीण हो गई। परिणाम यह हुआ कि सूती वस्त्रों की माँग में बहुत कमी हो गई। युद्धोत्तर काल में सूती वस्त्र उद्योग के समक्ष अधिक पूँजीकरण, योग्य प्रबन्धकों का अभाव, कुप्रबन्ध, टेकनिकल विशेषज्ञों का अभाव, मशीनों का घिसी पिटी होना तथा कच्चे माल का दुरुपयोग आदि समस्यायें उपस्थित हो गईं। इसी समय सूती मिलों में श्रमिकों के द्वारा कई बड़ी बड़ी हड़ताल की गईं। उपरोक्त समस्याओं के कारण सूती वस्त्र उद्योग एक महान संकट में पड़ गया। लगभग सन् १९२३ २४ में यह संकट काल उद्योग रक्षात्मक नीति अपनाई जाने के कारण निवारण हो सका और सूती वस्त्र उद्योग पुनः धीरे धीरे प्रगति करने लगा। यह प्रगति द्वितीय युद्ध के प्रारम्भ होने से पहले सन् १९३९ ई० तक होती रही। द्वितीय युद्ध की घोषणा के पहले हमारे देश में सूती मिलों की संख्या ३८९ थी। इस प्रगति को निम्न तालिका से भली भाँति आँका जा सकता है—

वर्ष	कारखाने
१८८०	५६
१९००	१०३
१९१४	२७१
१९२१	२९८
१९३९	३८९

द्वितीय महायुद्ध में सूती उद्योग की प्रगति

महायुद्ध की घोषणा होते ही सूती वस्त्रों की माँग में वृद्धि होने लगी। युद्ध काल में जापान से सूती कपड़ों का आयात बन्द हो गया। फलतः १९४३ ई० तक देश में सूती वस्त्रों का अकाल हो गया तथा वस्त्र के मूल्य बहुत ऊँचे हो गये। सूती वस्त्र के उद्योगपतियों को बहुत लम्बे-चौड़े लाभ प्राप्त हो गये। देश के वस्त्र निर्यात में लगभग ४०% की वृद्धि हो गई। मित्रराष्ट्र भी भारत से ही अपनी-अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने लगे। सूती वस्त्र की उत्पादन लागत में भी काफी वृद्धि हो गई। सरकार ने इस परिस्थित में सुधार लाने तथा कठिनाई दूर करने के लिए सूती वस्त्रों का मूल्य नियन्त्रण कर दिया तथा कपड़े की राशनिंग कर दी। केन्द्रीय सरकार ने इस कार्य के लिए सिविल सप्लाई विभाग की स्थापना की और सन् १९४३ में टेक्सटाइल क्लाथ एवं यार्न आर्डर लागू कर दिया। स्टैंडर्ड वस्त्र के नाम से सरकार ने कुछ कपड़ों के नमूने तैयार कराये जिन पर मूल्य अंकित रहता था। सूती वस्त्र के उत्पादन और बिक्री पर कड़ा नियन्त्रण लगा दिया गया। सरकारी नियन्त्रण के होते हुए भी सरकारी अफसरों की धृष्टता तथा मिल मालिकों एवं व्यापारियों की चोर बाजारी के कारण वस्त्र नियन्त्रण योजना सफल न हो सकी। इन कारणों से जनता का वस्त्र संकट बहुत बढ़ गया एवं यह स्थिति लगभग दस वर्ष तक चलती रही। प्रथम युद्ध काल के ही समान द्वितीय युद्ध काल में भी सूती वस्त्र उद्योग का पर्याप्त विकास हुआ। सन् १९४४ ई० में सूती मिलों की संख्या ४०७ थी जो कि दो वर्षों के उपरान्त १९४६ में ४२१ हो गई।

देश में प्रति व्यक्ति लौह का औसत उपभोग अन्य उन्नतिशील देशों की अपेक्षा बहुत कम है। हमारे देश में प्रति व्यक्ति लोहे का उपयोग केवल आठ पौंड प्रति व्यक्ति है जब कि अमरीका में यह ११११० पौंड प्रति व्यक्ति, और ४७० पौंड प्रति व्यक्ति आस्ट्रेलिया में है। इसी प्रकार उत्पादन में भी हमारा देश बहुत पिछड़ा हुआ है। इस समय हमारे देश का इस्पात का उत्पादन १३ ३ लाख टन है जब कि अमरीका में १३०० लाख टन तथा इंग्लैंड में १८० लाख टन प्रति वर्ष है। रूस का उत्पादन प्रतिवर्ष लगभग १२६० लाख टन है। इन प्रगतिशील देशों के उत्पादन एवं उपभोग को देखने से हमारे देश का उत्पादन अत्यन्त अल्प है। अत हमारे देश को अन्य उन्नतिशील देशों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलने के लिए तथा अपने पर्याप्त आर्थिक विकास के लिए लौह एवं इस्पात उद्योग का अभी पर्याप्त विकास करना है। लोहे एवं इस्पात से सम्बन्धित बहुत से उद्योग युद्ध काल में प्रारम्भ हो गए हैं तथा इनकी रक्षा एवं विकास की बड़ी भारी आवश्यकता है जिससे लौह एवं इस्पात के उपभोग में वृद्धि हो सके और उसके अनुरूप ही उत्पादन में भी वृद्धि की जा सके। हर्ष का विषय है कि इस उद्योग की महत्ता एवं उपयोगिता के विषय में हमारी सरकार, उद्योगपति तथा जनता पूर्णरूप से जागरूक हैं तथा इसको उन्नतिशील बनाने के पर्याप्त एवं प्रशंसनीय कार्य किए जा रहे हैं। इस्पात की दृष्टि से १६५८ निश्चय ही एक कठिन वर्ष था, पर अच्छे दिनों के लक्षण निश्चित रूप से दृष्टिगोचर होने लगे हैं। सरकारी क्षेत्र में इतने विशाल आकार के तीन कारखानों का एक साथ निर्माण करना कोई मामूली काम नहीं है। ऐसा अब तक कहीं नहीं हुआ है। बहुत से लोगों को हमारे इन प्रयत्नों में विश्वास ही नहीं होता। राउरकेला, भिलाई और फिर दुर्गापुर—यह भारत की औद्योगिक प्रगति के तीन परमोत्कर्ष विन्दु हैं। यह कारखाने देश की आतरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के अतिरिक्त दर्जा कच्चे लोहे तथा इस्पात का निर्यात भी कर सकेंगे। हमारे राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने २६ दिसम्बर, १६५६ को दुर्गापुर की प्रथम वायु भट्ठी का उद्घाटन करते हुए ठीक ही कहा है—

"अब भारत के औद्योगिक उन्नयन का शिलान्यास विधिवत् हो गया है।"

ये तीन महान् इस्पात कारखाने निश्चय ही भारत की शक्ति एवं श्रीवृद्धि के प्रतीक हैं।

२३

जूट उद्योग

(Jute Industry)

स्वर्णिम रेशा जूट का वास्तव में भारत के लिए स्वर्ण के समान विदेशी विनिमय डालर अर्जन की दृष्टि से अत्यधिक महत्व है। जूट भारत की एक महत्वपूर्ण कृषि सम्पत्ति है और इसके लिए भारत में प्रकृति प्रदत्त सुविधायें उपलब्ध हैं। जूट उद्योग भारत का गौरव एवं गर्व है क्योंकि भारत को इसमें प्रारम्भ से लेकर अब तक विश्व में एकाधिकार प्राप्त है। सन् १९५७ में इससे द्वारा देश को १ अरब १४ करोड़ २० लाख रुपये की विदेशी मुद्रा प्राप्त हुई। संसार भर के जूट कारखानों में कुल जितने करघे हैं उसके ५३ प्रतिशत भारत के इस उद्योग में हैं। इस उद्योग में कुल ३० लाख के लगभग औद्योगिक श्रमिकों का १० प्रतिशत अर्थात् ३ लाख के लगभग काम कर अपनी रोजी प्राप्त करते हैं। वस्त्र उद्योग के बाद जूट उद्योग में ही सबसे अधिक औद्योगिक श्रमिक कार्यरत हैं। भारत के समस्त जूट उत्पादक क्षेत्रों में कुल मिलाकर २० लाख कृषक परिवार इस उद्योग के कारण अपनी आजीविका प्राप्त करते हैं। इस उद्योग की कार्यरत पूँजी ७५ करोड़ रुपये के लगभग है। भारतीय जूट का सामान "विश्व का केरियर" कहलाता है। यह उद्योग हमारे देश का एक सुसंगठित एवं आदर्श उद्योग है जिसमें प्रबन्ध, निर्देश एवं अर्थ-व्यवस्था सुनियमित है। निःसन्देह जूट उद्योग भारतीय अर्थतंत्र का मूलाधार है।

ऐतिहासिक मीमांसा

प्राचीन काल में यह एक गृह उद्योग के रूप में चलाया जाता था और इतिहास से पता चलता है कि अठारहवीं शताब्दी में हमारे देश के बने हुए जूट के टाट एवं बोरे अमरीका इत्यादि देश को निर्यात किये जाते थे। हमारे देश में आधुनिक संगठित उद्योग के रूप में यह उद्योग उन्नीसवीं शताब्दी में प्रारम्भ हुआ। प्रथम जूट मिल सन् १८५४ ई० में जार्ज ऑकलैण्ड ने स्थापित किया था। ऑकलैण्ड साहब ने स्काटलैण्ड से मशीनों को लाकर श्रीरामपुर के निकट रिसरा नामक स्थान पर प्रथम जूट मिल स्थापित किया और सन् १८५७ ई० से कताई के अतिरिक्त इसमें

बुनाई का भी काम प्रारम्भ हो गया। सन् १८५६ ई० में बोर्नियो कम्पनी ने एक दूसरे मिल की स्थापना की जिसमें कताई एवं बुनाई दोनों ही काम प्रारम्भ कर दिए गये। सन् १८६० ई० में दो और नये मिल स्थापित हुए। सन् १८७४ ई० में पाँच, और सन् १८७८ में आठ नई जूट कम्पनियाँ खुलीं और कलकत्ता जूट उद्योग का एक विशाल केन्द्र बन गया। यहाँ तक कि सन् १८८२ ई० तक उत्पादन में बहुत बड़ी वृद्धि हुई तथा १८८५ ई० तक पाँच नये मिलों की स्थापना हुई। जूट उद्योग की समस्याओं को हल करने के लिए १८८४ ई० में भारतीय जूट मिल संघ की स्थापना हुई।

सन् १८८२ से लेकर १८६५ ई० तक जूट उद्योग की प्रगति में उत्थान एवं पतन होता रहा परन्तु उत्पादन की मात्रा में निरंतर वृद्धि होती रही। सन् १८६५ तक मिलों की संख्या २६ हो गई। १६वीं शताब्दी के अन्तिम चार वर्षों में दस नये मिल और स्थापित किए गये। भारतीय जूट उद्योग इस प्रकार धीरे-धीरे उन्नति की ओर अग्रसर होता रहा।

प्रथम युद्धकाल में जूट उद्योग की प्रगति—प्रथम विश्व युद्ध के प्रारम्भ होते ही जूट की बनी हुई सामग्री की माँग बहुत बढ़ गई। एक ओर युद्ध के लिये तम्बू और त्रिपाल बनाने के लिये टाट की माँग बढ़ी और दूसरी ओर खाइयों को पाटने के लिये बोरों की आवश्यकता बढ़ी और साथ ही जूट की रस्सियों एवं सुतलियों तथा अनाज और वस्त्र की पैकिंग के लिये टाट की माँग बहुत बढ़ गई। इस बढ़ती हुई माँग के कारण भारत के जूट मिलों को विकास करने का स्वर्णिम अवसर प्राप्त हुआ।

प्रथम युद्धोपरान्त जूट उद्योग की प्रगति—युद्ध की समाप्ति के उपरान्त माँग में बहुत बड़ी कमी आ गई। अत जूट उद्योग के लिये संकट काल उपस्थित हो गया तथा बहुत से मिल बन्द हो गये। यह आर्थिक संकट काल सन् १६१६ ई० तक रहा। संकट काल के फलस्वरूप सूती वस्त्र उद्योग की भाँति सुसंगठित होने के कारण बहुत अधिक हानि न हुई और कठिनाइयों के होते हुए भी यह उद्योग धीमी किन्तु निश्चित गति से उन्नति करता गया यहाँ तक कि १६१४-१५ में ७० मिलों की संख्या बढ़कर सन् १६२६-३० में ६८ हो गई।

सन् १६२६ ई० के बाद जूट उद्योग में एक बहुत बड़ा संकट काल उपस्थित हुआ। कच्चे जूट के मूल्यों में बहुत बड़ी कमी आ गई और जूट निर्मित वस्तुओं के मूल्य भी गिर गये। इस संकट काल पर विजय प्राप्त करने के लिये जूट मिल संघ ने यह निर्णय किया कि काम करने के घण्टे घटा दिये जायें। सन् १६३१ तक घण्टों की संख्या कम कर दी गई और १५% करघे बंद कर दिए गए। जूट मिल उद्योग के

सुप्रबन्ध तथा उद्योगपतियों की कुशलता के कारण उद्योग की अधिक अवनति नहीं होने पाई परन्तु श्रमिकों की अवस्था गिरती गई। जूट उत्पादक निर्धन हो गए और उद्योग की दशा सतोषजनक हो गई।

द्वितीय विश्व युद्ध तथा जूट उद्योग—द्वितीय युद्ध छिड़ते ही जूट उद्योग में पुनः जीवन का सचार हुआ। सन् १९३९ ई० में भारत में १०७ जूट मिल थे जिनमें ९८ बंगाल, ३ उत्तर प्रदेश, ३ बिहार, २ मद्रास और १ मध्य प्रदेश में था। युद्ध के कारण जूट निर्मित पदार्थों की माँग बढ़ गई तथा जूट मिलों को देश तथा विदेशों से बहुत बड़े बड़े आर्डर प्राप्त हुए। काम के घण्टे प्रति सप्ताह ६० कर दिए गए, तथा सरकार ने जूट उद्योग को फैक्टरी एक्ट के प्रतिबन्धों से मुक्त कर दिया। इस काल में जूट उद्योग ने बहुत बड़ी उन्नति की। युद्धकाल में माँग में उतार-चढ़ाव के साथ ही साथ भारतीय जूट उद्योग में थोड़ा बहुत उत्थान पतन होता रहा। इस उद्योग ने मात्रा के साथ ही साथ जूट निर्मित वस्तुओं की उत्तमता में बड़ी अच्छी उन्नति की।

द्वितीय युद्धोपरान्त जूट उद्योग—द्वितीय युद्ध के बाद सन् १९४७ में देश के विभाजन होने से जूट उद्योग पर एक बहुत बड़ा संकट आ गया। देश का वह भाग जिसमें ७३·४% कच्चा जूट उत्पन्न होता था, पाकिस्तान में चला गया। जूट मिलों के सामने कच्चे माल के अभाव की बहुत बड़ी समस्या उपस्थित हो गई। इस कारण से जूट मिलों में काम के घण्टे घटा दिये गये एवं कुछ मिलें बन्द भी हो गईं। देश के विभाजन के बाद सन् १९४७ ई० में लगभग ११३ जूट मिल थे। सन् १९४९ में भारतीय रुपये का अवमूल्यन हो जाने से जूट उद्योग की कठिनाई और भी बढ़ गई। ऐसी परिस्थिति में भारत सरकार ने जूट उद्योग के विकास के लिए कच्चे जूट के उत्पादन म वृद्धि करने का निश्चय किया और इस ओर ठोस कदम उठाया, जिससे जूट उद्योग में पुनः विकास के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट होता है—

वर्ष	कच्चे जूट के उत्पादन में वृद्धि	जूट उत्पादन क्षेत्र का विकास
	(लाख गाठों में)	(लाख एकड़ में)
१९४७ ४८	१६·५३	६·५२
१९५३ ५४	३०·९१	११ ४६
१९५४ ५५	४१·२६	१९·७३
१९५६ ५७	४२·२१	१८ ८३

भारत विभाजन से पूर्व ५३ लाख गाँठ जूट का निर्यात करता था परन्तु आज वह ६५ लाख गाँठ जूट का निर्यात करता है । पुन इस उद्योग के पैर स्थिर हो गये हैं ।

पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत विकास

प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत जूट मिलों की स्थिति को ठोस बनाने के प्रयत्न किये गये हैं और जूट उत्पादन में वृद्धि करने के लिए विभिन्न प्रकार की रासायनिक खादों का प्रयोग तथा गहरी खेती की व्यवस्था की गई है। निर्यात की दृष्टि से सन् १९५६ ई० में ८ लाख टन निर्मित जूट वस्तुओं का निर्यात हुआ और द्वितीय आयोजन के अन्त तक ६ लाख टन निर्यात करने का लक्ष्य रखा गया है। द्वितीय पंचवर्षीय आयोजन में मशीनों के निर्माण के लिए १३ करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई है और कच्चे माल के उत्पादन, मशीनों के नवीनीकरण तथा निर्यात की स्थिति सुधारने के प्रयत्न किए जाने का निश्चय किया गया है। भारत का यह मुख्य उद्योग कच्चे माल की प्राप्ति एवं उत्पादन की दृष्टि से आत्मनिर्भर हो गया है तथा विभाजनजन्य समस्या पर अधिकार प्राप्त कर लिया है। सन् १९५७ में जूट के माल का कुल उत्पादन १०,३०,००० टन था जो कि सन् १९५८ में बढ़कर १०,५२,००० टन हो गया।

जूट उद्योग की समस्याएँ—हमारे जूट उद्योग के समक्ष कुछ ऐसी समस्याएँ उपस्थित हैं जिनका सुलझाया जाना उद्योग के विकास एवं प्रगति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इन समस्याओं में से निम्नलिखित प्रमुख हैं—

(क) अनार्थिक इकाइयों की समस्या—वर्तमान काल में कुछ जूट मिलों को छोड़कर अन्य सभी घाटे में चल रहे हैं। पिछले चार महीनों में तीन जूट मिलों को अपना कारबार समेट कर ताला लगा देना पड़ा है। इस समस्या का मुख्य कारण माँग की कमी है। किन्तु फिर भी जूट उद्योग अभी तक कार्य क्षेत्र में डटा हुआ है यह इसके लिए गौरव की बात है।

(ख) उत्पादन में वृद्धि की समस्या—इस समय जबकि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हेशियन और सैकिङ्ग की माँग घटती हुई प्रतीत हो रही है, उत्पादन में वृद्धि एक समस्या है। स्मरणीय है कि गत वर्ष जूट उद्योग का उत्पादन १० लाख ६२ हजार टन के स्तर पर रहा था जो सन् १९४२ के बाद का सर्वोच्च स्तर है। सन्तोष की बात केवल इतनी ही है कि देश के अन्दर द्वितीय पंचवर्षीय योजना के कारण औद्योगिक क्रियाशीलता बढ़ गई है और फलस्वरूप हेशियन सैकिङ्ग की माँग में भी वृद्धि हुई है। आतंरिक माँग में यह वृद्धि जूट मिलों के लिए विशेष रूप से सहायक हुई है। गत वर्ष

देश के अन्दर बोरों की माँग विशेष रूप से बढ़ी। यह आशा की जाती है कि द्वितीय पचवर्षीय योजना के तारतम्य में हैशियन सैकिङ्ग की माँग निरन्तर बढ़ती रहेगी और इससे जूट मिलों को सहारा प्राप्त होता रहेगा। कारण यह है कि द्वितीय पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत चीनी उद्योग, सीमेंट उद्योग तथा रासायनिक खाद उद्योग में काफी बड़ा विस्तार हो रहा है और इन सभी उद्योगों को अपना माल पैक करने के लिए बोरों की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु जहाँ देश के अन्दर बोरों की माँग में वृद्धि हुई है वहाँ अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उनकी माँग में ह्रास हुआ है। स्मरणीय है कि सन् १९५१ से १९५५ तक सैकिङ्ग निर्यात काफी आशाप्रद रहा था। किन्तु गत वर्ष वह अचानक घट गया। भारतीय बोरों के मुख्य बाजार आस्ट्रेलिया तथा सुदूर पूर्व के देशों में हैं। गत वर्ष दोनों ही स्थानों में माग घट गई।

सन् १९५५ में भारत ने ४ लाख ४४ हजार टन सैकिङ्ग का निर्यात किया था किन्तु गत वर्ष निर्यात घट कर केवल ४ लाख ८ हजार टन रह गया। हैशियन और सैकिङ्ग तथा विविध मालों का कुल निर्यात सन् १९५५ की तुलना में प्राय २५ हजार टन कम रहा। जूट के मालों के निर्यात में ह्रास सबके लिए एक अत्यन्त चिन्ताजनक बात है। कारण यह है कि इस समय द्वितीय पचवर्षीय योजना के तारतम्य में मुद्रा विनिमय की बहुत बड़ी तगी चल रही है। आवश्यकता इस बात की है कि नियात में अधिक से अधिक वृद्धि हो। उसमें वृद्धि के स्थान पर ह्रास एक गम्भीर बात है।

(ग) बाजार की समस्या—इस समय कुछ देश जो पहले अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पूर्णतया भारत पर निर्भर रहते थे स्वय अपने यहाँ जूट मिलों की स्थापना में लगे हुए हैं। फलस्वरूप यह आशङ्का प्रकट की जा रही है कि ये बाजार सदा के लिए भारत के हाथ से निकल जायेंगे। इस प्रसग में बर्मा, थाइलैंड, इण्डोनेशिया और चीन का उदाहरण दिया जा सकता है। इन देशों में जूट मिलों की स्थापना का प्रयत्न हो रहा है और यह बात भारतीय उद्योग के लिए एक बहुत बड़ी समस्या के रूप में है। इन देशों में भारतीय जूट उद्योग मालों की माँग घट जाने के कारण निर्यात को बहुत बड़ा धक्का लगा है। केवल इतना ही नहीं जापान और यूरोप की जूट मिलें इस समय अपने अपने देश की आवश्यकताओं की पूर्ति के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भारत के साथ कड़ी प्रतियोगिता कर रही है। चिन्ता का एक अन्य कारण यह है कि पिछले कुछ समय में पाकिस्तान के जूट उद्योग ने बहुत बड़ी प्रगति की है। पहले पाकिस्तान कवल पाट का उत्पादन करता था और जूट मिलें कलकत्ते में थीं। अब पाकिस्तान ने अपने यहाँ स्वतन्त्र रूप में जूट उद्योग की स्थापना कर ली है। परिणाम यह हुआ है कि पाकिस्तान का बाजार

तो भारतीय मिलों के हाथों से निकल ही गया है वहाँ से उल्टी प्रतियोगिता हो रही है। पहले पाकिस्तान में प्रति वर्ष भारतीय मिलों का प्रायः सत्तर हजार टन माल खपता था। अब यह सारा माल वहाँ की मिलें स्वयं उत्पादित करती हैं। इसके अतिरिक्त वे विदेशों को अपने मालों का निर्यात भी करने लगी है। गत वर्ष पाकिस्तान की मिलों ने विदेशों को प्रायः पचास हजार टन माल का निर्यात किया था—अर्थात् पिछले वर्ष की तुलना में प्राय: दूना। उत्तरी अमेरिका तथा बर्मा को पाकिस्तानी मिलों का माल विशेष रूप से जा रहा है। भारतीय जूट मिलों के लिए यह एक बहुत बड़ी समस्या है।

(घ) कच्चे माल की प्राप्ति की समस्या—वस्तुतः कच्चे माल का प्रश्न ही भारतीय जूट उद्योग की सबसे बड़ी समस्या है। गत वर्ष पाट के भाव अचानक बढ़ गये और मिलों का उत्पादन व्यय इसके फलस्वरूप अचानक असन्तुलित हो गया। गत वर्ष जूट मिलों को जो घाटा हुआ उसका मुख्य कारण पाट के भावों में आशातीत वृद्धि होना ही है। भारत सरकार इस समस्या से भलीभाँति अवगत है। उसने द्वितीय पचवर्षीय योजना के तारतम्य में पाट का उत्पादन लक्ष्य ५० लाख गाँठ से बढ़ाकर ५५ लाख ४० हजार गाँठ कर दिया है। किन्तु अभी तक यह कहना कठिन है कि इस उत्पादन लक्ष्य की पूर्ति में सफलता कहाँ तक मिलेगी। प्रश्न केवल तादाद तक ही सीमित नहीं है। पाट व्यापार में कई ऐसे तत्वों का समावेश हो गया है जो वातावरण को स्थिर नहीं होने देते। फाटका स्थिरता का पुराना शत्रु है और पाट का सम्पूर्ण व्यापार फाटके के आधार पर चलता है। फसल की बोनी होते ही फाटके वाले भावों को कृत्रिम रूप से घटाने-बढ़ाने लगते हैं और कभी-कभी "कार्नरिंग" आदि के रूप में भी कृत्रिम परिस्थितियों की सृष्टि का प्रयत्न किया जाता है। अतः पाट के उत्पादन के सम्बन्ध में पूर्ण आत्मनिर्भरता प्राप्त कर लेने पर भी उद्योग की समस्याओं का समाधान न होगा। कच्चे माल के सम्बन्ध में निश्चिन्तता तभी होगी जब फाटके का तत्व समाप्त हो जाय और भावों में कुछ स्थिरता रहे।

(ङ) नवीनीकरण की समस्या—जूट उद्योग जिस संकटापन्न स्थिति से गुजर रहा है उसका वास्तविक समाधान तभी हो सकता है जब उसके उत्पादन व्यय में कमी हो और प्रतियोगिता शक्ति में वृद्धि। इसके लिए कच्चे माल की सुविधा के अतिरिक्त एक बात और भी आवश्यक है—वह है मशीनों का नवीनीकरण। भारतीय जूट उद्योग अत्यन्त प्राचीन उद्योग है। अधिकांश मिलों की मशीनें जीर्ण शीर्ण हो चुकी हैं और उनका नवीनीकरण आवश्यक है। इस दिशा में मुख्य बाधाएँ दो हैं—अर्थाभाव और ट्रेड यूनियनों का विरोध। जहाँ तक प्रथम प्रश्न का सम्बन्ध है उसका समाधान सरकार के सहयोग से ही हो सकता है। दूसरा प्रश्न वास्तविक की अपेक्षा

मनोवैज्ञानिक अधिक है। मजदूर नवीनीकरण का विरोध इसलिए करते हैं क्योंकि उन्हें इस बात का भय है कि मशीनें नई हो जाने पर छँटनी अनिवार्य हो जायगी। किन्तु यह आशंका निराधार है।

उपसंहार

अब तक यद्यपि भारत ने अपनी पूर्ण आवश्यकता का ८० प्रतिशत कच्चा जूट उत्पादित करना प्रारम्भ कर दिया है तथापि जूट निर्मित वस्तुओं के मूल्य बहुत ऊँचे हैं जिसके फलस्वरूप हमारे देश में निर्मित पदार्थों की माँगें बहुत कम हो गई है। एक ओर हमारे मूल्य बहुत ऊँचे हैं और दूसरी ओर विदेशी उद्योगपति जूट के स्थान पर नवीन पदार्थ की खोज कर रहे हैं। कपड़े तथा कागज के बोरों का प्रयोग होने लगा है। आस्ट्रेलिया, कनाडा इत्यादि देशों में खलिहानों से मोटरों में गल्ला भरने की मशीनें प्रयोग में लाई जा रही हैं। हमारे जूट उद्योग के समक्ष उपस्थित कठिनाइयों के प्रति जूट उद्योगपति तथा सरकार दोनों जागरूक हैं। इण्डियन जूट मिल एसोसिएशन ने माँग में वृद्धि करने के उद्देश्य से अमेरिका एवं इंगलैंड में अपने कार्यालय खोल रखे हैं तथा अन्य देशों में प्रतिनिधि मंडल भेजे हैं। इंडियन जूट मिल एसोसियेशन नई नई वस्तुओं को निकालने के लिये अनुसन्धान कर रहा है। हमारी जूट मिलों ने पर्दे, दरियाँ, मोटे कपड़े तथा छोटे-छोटे बोरे आदि बनाना प्रारम्भ कर दिया है। यद्यपि पाकिस्तान भी अपने देश में जूट के मिलों की स्थापना करके विश्व प्रतिद्वन्द्वता के क्षेत्र में पदार्पण कर रहा है और इसके साथ ही साथ अनेक मध्यपूर्व के राष्ट्र जैसे बर्मा, थाईलैंड, फिलीपीन, चीन, जापान तथा अमेरिका आदि देशों में जूट या जूट के समान रेशे के उत्पादन के प्रयत्न चल रहे हैं, तो भी भारतीय जूट उद्योग को इस पहलू से सशंकित होने की अधिक आवश्यकता नहीं है। भारत आर्थिक नियोजन काल से गुजर रहा है। भारत के शक्कर, खाद एवं सीमेंट उद्योग प्रगतिशील हैं। अत: जितनी बाह्य माँग में गिरावट आने की सम्भावना व्यक्त की जा रही है उससे अधिक आंतरिक माँग में वृद्धि होगी जैसा कि निम्नतालिका से स्पष्ट होता है—

वर्ष	वार्षिक आन्तरिक खपत
१९५४	१,१०,००० टन
१९५५	१,७०,००० टन
१९५६	१,६३,००० टन
१९६०—(अनुमानित)	३,००,००० टन

परन्तु आज के प्रतिस्पर्धा के युग में यह आवश्यक है कि जूट का उत्पादन व्यय कम हो। इसके लिए मिलों में नई से नई आधुनिकतम मशीनों का लगाना आवश्यक है, भले ही स्थायी रूप से कुछ मजदूरों को बेकारी का भी सामना करना पड़े। जूटोद्योग के मालिकों में शोषण की प्रवृत्ति न होकर सहयोग तथा सहमति की प्रवृत्ति होनी चाहिये। श्रमिक ही उत्पादन की रीढ़ की हड्डी होते हैं। अतः उत्पादन व्यय कम करने में इनका सहयोग नितान्त आवश्यक है।

राष्ट्रीय उद्योग विकास निगम द्वारा जूट मिलों के आधुनिकीकरण के लिये ऋण मंजूर किये जा रहे हैं। अब तक ६ मिल कम्पनियों के लिये ऋण स्वीकृत किये जा चुके हैं जिनमें से २ को ५०,६१,६८५ रुपये प्राप्त भी हो चुके हैं। अन्य अनेक आवेदन-पत्र विचाराधीन हैं। ऐसी परिस्थिति में नवीन आशा का संचार हो चुका है और इसमें सन्देह नहीं कि साहस, धैर्य एवं बुद्धिमत्ता पूर्ण नियोजित कार्य करने से हमारे जूट उद्योग की सभी समस्याएँ सुलझ जायेंगी और यह उद्योग निरन्तर विकास के पथ पर अग्रसर होता रहेगा।



२४

सीमेंट उद्योग

(Cement Industry)

भोजन, वस्त्र तथा आवास मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताएँ हैं और इनमें अंतिम आवश्यकता की पूर्ति में सीमेंट का महत्वपूर्ण योग है। आधुनिक युग में भवन-निर्माण की अन्य सामग्री की तुलना में सीमेंट सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। इसके अतिरिक्त कारखाने, सड़क, पुल, बाँध, हवाई-अड्डा, रेलवे स्टेशन आदि के विकास में भी इसका कम महत्वपूर्ण स्थान नहीं है। वस्तुतः सीमेंट उद्योग इस युग की अनिवार्य आवश्यकता एवं राष्ट्र के आर्थिक निर्माण की मुख्य आधारशिला है। भारत के इस नव निर्माण काल में राष्ट्रीय सरकार जल विद्युत् उत्पादन तथा सिंचाई के लिए बड़े-बड़े बाँध व नहरें, यातायात की सुविधा के लिए सड़कें, रेलें, बन्दरगाह एवं हवाई अड्डे, व्यावसायिक मजदूरों के लिए मकान एवं विस्थापितों के लिए बस्तियाँ (Colonies) बना रही है। इन सभी कार्यों की सफलता की पृष्ठभूमि में सीमेंट ही है और यह उद्योग भारत की पंचवर्षीय योजनाओं की सफलता का प्रतीक एवं अभिन्न अंग बन गया है।

ऐतिहासिक मीमांसा

भारत में सीमेंट उद्योग का इतिहास पुराना नहीं है। इस उद्योग का प्रादुर्भाव आधुनिक काल में ही हुआ है। प्रथम महायुद्ध तक तो इसका कोई विकसित रूप ही नहीं था। सर्वप्रथम सन् १९०४ में मद्रास में "पोर्टलैण्ड सीमेंट" का निर्माण प्रारम्भ हुआ, परन्तु यह प्रयास नगण्य था। इसके पश्चात् सन् १९१२ में पोरबन्दर स्थान पर "इण्डियन सीमेंट कम्पनी लिमिटेड" ने एक कारखाना स्थापित किया। यह कारखाना सफल रहा। सन् १९१५ में "कटनी सीमेंट एण्ड इंडस्ट्रियल कम्पनी" ने सीमेंट बनाना प्रारम्भ किया। इसके बाद सन् १९१६ में "बूँदी पोर्टलैण्ड सीमेंट कम्पनी" ने लखेरी स्थान पर सीमेंट बनाने का कार्य प्रारम्भ किया। इन सभी कारखानों की उत्पत्ति राष्ट्र की आवश्यकताओं को देखते हुए नितान्त अपर्याप्त थी। परिणामस्वरूप प्रथम युद्ध तक भारत अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए इङ्गलैण्ड या अन्य देशों से सीमेंट के आयात पर निर्भर रहता था। सन् १९१४ में भारत ने १,८०,००० टन सीमेंट का आयात किया।

प्रथम युद्ध काल में प्रगति

युद्ध जनित आवश्यकताओं के कारण युद्ध से पूर्व स्थापित कारखानों को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला और ये शीघ्र ही उन्नति कर गये। युद्ध के कारण विदेशी सीमेंट की प्रतियोगिता भी समाप्त हो गई, देश में पहले से ही सीमेंट के लिए बड़ा दीर्घ बाजार प्रस्तुत था और निर्माण के लिए पर्याप्त मात्रा में कच्चा माल भी उपलब्ध था। इनके फलस्वरूप भारतीय सीमेंट उद्योग को प्रथम युद्ध काल में नवीन जीवन मिल गया और वे प्रगति के पथ पर चल पड़े। भारत में ७६ हजार टन प्रतिवर्ष उत्पादन होने लगा।

प्रथम युद्ध के उपरान्त

युद्ध के उपरान्त भी सीमेंट उद्योग की प्रगति में क्रमशः वृद्धि होती गई। युद्ध के उपरान्त निर्माण कार्यों के लिए सीमेंट की अत्यन्त आवश्यकता थी। राष्ट्र का औद्योगिक विकास भी तेजी से प्रारम्भ हो गया था। सरकार ने इस उद्योग को संरक्षण भी प्रदान किया जिससे इसकी विकास की सम्भावनाएँ और भी अधिक बढ़ गई। परिणाम स्वरूप सन् १९१९ और १९२३ के बीच देश में सीमेंट के ७ और नये कारखाने खुल गये तथा पूर्व स्थित ३ कारखानों की उत्पादन क्षमता दुगुनी हो गई। सन् १९१४ में कुल उत्पादन ९४५ टन था, यह बढ़कर सन् १९२४ में २,३६,७४६ टन हो गया और इस बीच में सीमेंट का आयात १,६५,७२३ टन से घटकर १,२४,९८६ टन रह गया। इस आश्चर्यजनक उन्नति का फल यह हुआ कि देश में सीमेंट का अति उत्पादन होने लगा और विभिन्न उत्पादकों में भयंकर प्रतिस्पर्धा का प्रादुर्भाव हुआ। इस स्पर्धा का एक यह भी कारण था कि नवीन सात कारखानों की स्थापना उसी क्षेत्र में की गई थी जो कि पहले से ही सीमेंट के विपणन क्षेत्र के अन्तर्गत थे—२ कारखाने कटनी के निकट, १ छोटा नागपुर में, १ पञ्जाब में, १ काठियावाड़ में, १ ग्वालियर राज्य तथा १ हैदराबाद राज्य में स्थापित थे। पारस्परिक स्पर्धा का दुष्परिणाम यह हुआ कि सभी उद्योगों को हानि होने लगी। इस हानि का अनुमान २ से २½ करोड़ रुपये के बीच लगाया गया। नये कारखानों में से तीन ने अपनी जीवन लीला ही समाप्त कर दी। ऐसी स्थिति एक अनिश्चित काल तक नहीं रह सकती थी। अवशेष उद्योगों में संगठन का प्रादुर्भाव हुआ और सन् १९२४ में सीमेंट के उद्योगपतियों ने टैरिफ-बोर्ड के सम्मुख संरक्षण का प्रस्ताव रक्खा जिसके अनुसार आयात पर २५ रु० प्रति टन कर लगाने का सुझाव था। बोर्ड ने गम्भीर विचार करने के उपरान्त इस प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया। बोर्ड का विचार था कि समस्या विदेशी प्रतिस्पर्धा की नहीं, वरन् आन्तरिक स्पर्धा की थी। अतः इस उद्योग को संरक्षण की कोई आवश्यकता नहीं

समझी गई। परन्तु उद्योग के राष्ट्रीय महत्व को देखते हुए बोर्ड ने राजकीय-सहायता की सिफारिश की। सरकार ने इस सिफारिश को भी अस्वीकार कर दिया। ऐसी परिस्थिति में उद्योगपतियों को उद्योग की रक्षा करने के लिए स्वयं उपाय करने के लिए विवश होना पड़ा। परिणामस्वरूप पारस्परिक प्रतिस्पर्धा का अन्त करने के लिए सीमेंट के उद्योगपतियों ने सन् १९२५ में "इंडियन सीमेंट मन्युफैक्चरर्स एसोसियेशन" की स्थापना की। इस संघ का कार्य बिक्री मूल्यों का निर्धारण एवं नियमन था। संघ के निर्माण से आपसी प्रतिस्पर्धा का अन्त हो गया और आगामी चार वर्षों में मूल्यों में कटौती करने अथवा कमी करने की कोई समस्या नहीं उठी। संघ केवल मूल्य निर्धारण करता था और संघ की प्रत्येक इकाई अपना स्वयं का बिक्री प्रबन्ध करने के लिए स्वतन्त्र थी। कुछ समय उपरान्त संघ ने बिक्री की व्यवस्था करने के लिए एक सामूहिक संस्था स्थापित करने के लिये प्रत्येक कारखाने की सम्पूर्ण बिक्री पर ५ आना प्रति टन का चन्दा लगा दिया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सन् १९२७ में एक संस्था भी स्थापित कर दी गई जिसका नाम "कंक्रीट एसोसियेशन ऑफ इंडिया" रखा गया। इस संस्था का मुख्य कार्य सीमेंट के उपभोक्ताओं में सीमेंट के प्रयोग का प्रचार करना एवं आवश्यकता पड़ने पर उन्हें निःशुल्क तान्त्रिक (Technical) सलाह देना था।

संघ के निर्माण के पश्चात् सीमेंट उद्योग को पुनः जीवन मिल गया और इस उद्योग की स्थिति में आश्चर्यजनक सुधार होने लगा। उद्योगपतियों में भी नवीन आशा एवं साहस का संचार हुआ। सफलता से प्रेरणा प्राप्त कर उद्योगपतियों ने सन् १९३० ई० में सीमेंट के विपणन को नियमित करने के उद्देश्य से 'सीमेंट मार्केटिंग ऑफ इंडिया' नामक संस्था स्थापित करने की योजना बनाई। इस संस्था का मूल उद्देश्य व्यक्तिगत विपणन प्रबन्ध के स्थान पर सामूहिक रूप से विपणन प्रबन्ध एवं नियन्त्रण करना था। परन्तु सदस्य कम्पनी विपणन पर अपना व्यक्तिगत नियन्त्रण छोड़ने को तैयार न हुई क्योंकि वे अपनी अपनी विपणन व्यवस्था को सुसंगठित करने का प्रयत्न करने में संलग्न थीं। परिणामस्वरूप यह योजना कार्यान्वित न की जा सकी। इतना अवश्य हुआ कि सर्वसम्मति से यह निर्णय किया गया कि प्रत्येक कारखाने की उत्पादन मात्रा को सीमित कर दिया जाय। इस प्रकार सभी कारखानों की सामूहिक वार्षिक उत्पादन क्षमता ७,२२,००० टन निर्धारित कर दी गई। इन सामूहिक प्रयत्नों के फलस्वरूप सीमेंट उद्योग को पुनः गति मिली और यह उद्योग प्रगति के पथ पर चल पड़ा।

सन् १९३२ में 'कोयम्बटूर' सीमेंट कम्पनी' तथा सन् १९३४ में 'शाहाबाद सीमेंट कम्पनी की स्थापना हुई जिससे क्रमशः ६०,००० टन एवं १,४०,००० टन का

अतिरिक्त उत्पादन होने लगा। विपणन के सम्बन्ध में समझौते के अनुसार जो कोटा प्रत्येक कम्पनी के लिये निश्चित हुआ था उसमें ऐसी कोई बात नहीं थी जिसके अनुसार कम्पनियाँ अपना प्रसार या विकास न करने के लिए बाध्य हों। सन् १९३५ में यह अनुभव किया जाने लगा कि इस उद्योग में अभी विकास के लिए पर्याप्त क्षेत्र है और सामूहिक रूप से उत्पादन एवं विपणन करने पर उत्पादन व्यय में और भी कमी की जा सकती है। परिणामस्वरूप श्री एफ० ई० दिनशा के सद्प्रयत्नों के फलस्वरूप १९३६ में सभी सीमेंट संस्थानों का विलीनीकरण करके बम्बई में एक नवीन कम्पनी 'एसोशियेटेड सीमेंट कम्पनी' (ACC) के नाम से स्थापित की गई। केवल 'सोन वैली कम्पनी' को छोड़कर देश की सभी कम्पनियाँ इस विलयन में शामिल हो गईं। सीमेंट उद्योग में अभिनवीकरण की दिशा में यह सर्वप्रथम प्रयास था। इस प्रयास द्वारा उद्योग को अधिक शक्तिशाली बनाकर विदेशी स्पर्धा से मुक्ति प्राप्त करना एवं उत्पादन तथा विपणन व्यय कम करके उपभोक्ताओं को सस्ती दर पर सीमेंट प्रदान करना ही मुख्य लक्ष्य था। उद्योग को स्वयं अपने पैरों पर खड़ा करने के लिए इस प्रकार का प्रयास आवश्यक ही नहीं अनिवार्य था। इस प्रयास के फलस्वरूप सीमेंट के मूल्य २५ प्रतिशत कम हो गये और कारखानों की उत्पादन क्षमता में वृद्धि होने लगी। सन् १९३७ में पोर्टलैंड सीमेंट का उत्पादन ६,६७,००० टन हो गया। और सन् १९३८ में बढ़कर १५,००,००० टन हो गया। इस प्रगति से प्रोत्साहन पाकर सन् १९३८ में डालमिया दल की स्थापना हुई। इस दल के अन्तर्गत कारखाना का निर्माण तो १९३६ में ही प्रारम्भ हो चुका था, किन्तु वास्तविक उत्पादन १९३८ से ही सम्भव हो सका। डालमिया दल ने अपने को एसोशियेटेड सीमेंट कम्पनी से अलग रक्खा जिसके कारण बाजार में स्पर्धा होने लगी और पुनः उद्योग के सम्मुख गम्भीर स्थिति उत्पन्न हो गई। पारस्परिक स्पर्धा का अन्त उद्योग के विकास के लिए आवश्यक हो गया। सौभाग्य से यह गम्भीर स्थिति अधिक दिनों तक न रह पाई क्योंकि सन् १९४० में दोनों दलों में समझौता हो गया और विपणन का कार्य 'सीमेंट मार्केटिंग कम्पनी आफ इण्डिया लिमिटेड' को सौंप दिया गया। इस समय ए० सी० सी० के अन्तर्गत २२ कारखाने और डालमिया दल के अन्तर्गत ५ कारखाने थे। इसके अतिरिक्त चार कारखाने स्वतन्त्र रूप से उत्पादन करते थे।

द्वितीय महायुद्ध एवं उसके उपरान्त

युद्धकाल में सीमेंट उद्योग को विदेशी स्पर्द्धा से स्वाभाविक संरक्षण मिल गया। युद्ध की आवश्यकताओं के कारण सरकार की माँग भी सीमेंट के लिए अत्यधिक बढ़ गई। उद्योग को नवीन स्फूर्ति मिली और उद्योग का आश्चर्यजनक विकास प्रारम्भ हो गया। सन् १९४१-४२ में तो उत्पादन २२ लाख टन पहुँच गया जो अब तक के

उत्पादन में अधिकतम था। सीमेंट की माँग में अत्याधिक वृद्धि होने के कारण सरकार ने सीमेंट के उत्पादन एवं वितरण पर अपना अधिकार कर लिया। देश के सम्पूर्ण उत्पादन का लगभग ६० प्रतिशत भाग सरकार ने अपने युद्धकालीन निर्माण कार्यों के लिए सुरक्षित कर लिया। इस स्थिति में जनता को कष्ट होना स्वाभाविक ही था। माँग के बढ़ने के कारण सीमेंट के उद्योगों को अपना प्रसार करने का स्वर्ण अवसर मिल गया। ए० सी० सी० के अन्तर्गत संस्थानों में विस्तार होने के फलस्वरूप इसकी उत्पादन क्षमता में ५० प्रतिशत की वृद्धि हुई।

उपर्युक्त प्रगति सन् १९४२ के उपरान्त अवरुद्ध हो गई। इसका मुख्य कारण सरकार द्वारा नियंत्रण था। इसके अतिरिक्त कोयले का अभाव, श्रमिकों के झगड़े, यातायात की असुविधा, राजनैतिक उथल पुथल आदि अन्य कारण थे जिन्होंने इस उद्योग की प्रगति में बाधा उपस्थित कर दी। युद्ध के कारण विदेशों से मशीनों का आयात भी सम्भव नहीं हो सकता था जिसके कारण घिसी हुई मशीनों का आधुनिकीकरण भी नहीं हो सका। पुरानी मशीनों पर उत्पादन क्षमता कम हो जाना स्वाभाविक ही था। परिणामस्वरूप सन् १९४२ के उपरान्त सीमेंट उत्पादन क्रमशः कम होने लगा। यहाँ तक कि सन् १९४६-४७ में कुल उत्पादन १५,४२,००० टन सीमेंट था।

सन् १९४७ में इस उद्योग को विभाजन के फलस्वरूप एक और धक्का लगा। विभाजन के पहले सीमेंट के २४ कारखाने थे परन्तु विभाजन के कारण इनमें से ५ पाकिस्तान के क्षेत्र में चले गये। अतः सन् १९४८ में कुल उत्पादन लगभग १·०४६ मिलियन टन ही रह गया। सन् १९४८ में डालमिया दल पुनः अलग हो गया और अपनी वितरण व्यवस्था भी अलग करने लगा। यह व्यवस्था तब से वर्तमान समय तक चली आ रही है।

युद्धोत्तर विकास की योजनाओं में सरकार ने सन् १९५२ ई० तक सीमेंट के उत्पादन का लक्ष्य ६० लाख टन प्रति वर्ष रखा। यद्यपि इस लक्ष्य की प्राप्ति तो सम्भव न हो सकी, परन्तु सन् १९४९ के उपरान्त उत्पादन में क्रमशः वृद्धि अवश्य होने लगी। आन्तरिक माँग में वृद्धि, विकास योजनाओं के पूरा करने के लिए सरकार द्वारा माँग, यातायात की सुविधाओं में वृद्धि, सरकारी नियंत्रण की शिथिलता एवं स्वतंत्र नागरिकों के उल्लास तथा उत्साह ने इस उद्योग को नवीन चेतना एवं साहस प्रदान किया। सीमेंट के वर्तमान कारखानों में उत्पादन क्षमता बढ़ाये जाने के प्रयास कार्यान्वित किये जाने लगे और नवीन संस्थानों का जन्म होने लगा। सन् १९५० में स्थापित तीन नये कारखानों ने—सौराष्ट्र, मद्रास एवं त्रावनकोर कोचीन—जिनकी वार्षिक उत्पादन क्षमता २६,००,००० लाख टन थी, सन् १९५१ से उत्पादन प्रारम्भ कर दिया। इसके अतिरिक्त तीन और नये कारखाने स्थापित किये गये जिनमें से सिवालिया (बम्बई)

ने अप्रैल १६५१ में तथा सवाई माधोपुर (राजस्थान) तथा राजगजपुर (उड़ीसा) के कारखाने में सन् १६५२ से उत्पादन कार्य प्रारम्भ कर दिया गया। सन् १६५३-५४ में उत्तर प्रदेश सरकार ने ४½ करोड़ रुपए की पूँजी से मिर्जापुर जिले में राबर्ट्सगंज के निकट चर्क नामक स्थान में एक नया कारखाना स्थापित किया। इसमें सन् १६५४ से उत्पादन होने लगा। सन् १६५५ में सिंद्री में सीमेंट का कारखाना स्थापित होने से सीमेंट उद्योग की उत्पादन क्षमता २ लाख टन से और बढ़ गई। इसी अवधि में सीमेंट के ७ कारखानों की आधुनिकीकरण योजना पूरी होने से इन कारखानों की उत्पादन क्षमता १० लाख टन से और बढ़ गई। सन् १६५५-५६ में ११ नये कारखानों तथा १२ पुराने कारखानों के विस्तार की योजनाओं को सरकार द्वारा स्वीकार किये जाने के फलस्वरूप इस उद्योग की वार्षिक उत्पादन क्षमता लगभग ७० लाख टन हो गई है। सन् १६४६ के उपरान्त इस उद्योग की प्रगति का अवलोकन निम्न तालिका से सरलता से किया जा सकता है—

वर्ष	उत्पादन
१६४६	२१ लाख टन
१६५०	२६ ” ”
१६५१	३२ ” ”
१६५२	३५ ” ”
१६५३	३७·८ ” ”
१६५४	३८ ” ”
१६५५	४५·० ” ”
१६५६	४९·५ ” ”
१६५७	५६ ” ”
१६५८	६० लाख ६० हजार टन

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि सन् १९५५ ५६ तक का योजना आयोग का लक्ष्य ४८ लाख टन सीमेंट पूरा ही नहीं हो चुका है, वरन् लक्ष्य के आगे भी पहुच गया है। सन् १९५३ तक २३ कारखाने थे। १९५६ तक ६ नये कारखानों ने उत्पादन प्रारम्भ कर दिया। सभी कारखानों को निम्न वर्गों म विभाजित किया जा सकता है—

(१) ऐसोशियेटेड सीमेंट कम्पनीज लिमिटेड १३ कारखाने

(२) राज्य सरकारों के ३ कारखाने

(३) अन्य लिमिटेड् कम्पनियों के १३ कारखाने (इनमें से १० कम्पनियों का प्रबध मैनेजिंग एजेंट करते हैं)। सन् १९५८ में सीमेंट के दो और कारखाने खोले गए और इस प्रकार कारखानों की कुल सख्या ३१ हो गई है।

द्वितीय पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सरकार ने सीमेंट का वार्षिक उत्पादन १३० लाख टन तक लाने का लक्ष्य निर्धारित किया है। इस योजना काल म इस उद्योग के विस्तार की निम्न रूपरेखा बनाई गई है—

(१) वर्तमान २८ कारखानों की उत्पादन क्षमता में वृद्धि।

(२) ३१ नये सीमेंट कारखाने खोलने की व्यवस्था।

वर्तमान कम्पनियों द्वारा १३ नये कारखाने और नये लोगों द्वारा १८ नये कारखाने खोलने के लिए सरकार स्वीकृति प्रदान कर चुकी है। इस विस्तार के फल स्वरूप सीमेंट उद्योग की स्थिति इस प्रकार हो जाने की आशा है—

वर्ष	कारखानों की सख्या	वर्तमान कारखानों की वार्षिक क्षमता (लाख टन में)	नये कारखानों की क्षमता (लाख टन में)	योग (वार्षिक क्षमता) (लाख टन में)
१९५९	४२	८० ३३	२४ ८९	१०५ २२
१९६०	४४	९१ ७१	२८ ५४	१२० २५
१९६१	५३	९८ ५९	४८ ६८	१४८ २७
१९६२	५५	९८ ५९	५२ ९८	१५१ ५७

सन् १९५७ में टटकर आयोग के सुझाव

सीमेंट वितरण का कार्य जुलाई १९५६ से राज्य व्यापार निगम के हाथ में

२३

जूट उद्योग

(Jute Industry)

स्वर्णिम रेशा जूट का वास्तव में भारत के लिए स्वर्ण के समान विदेशी विनिमय डालर अर्जन की दृष्टि से अत्यधिक महत्व है। जूट भारत की एक महत्वपूर्ण कृषि सम्पत्ति है और इसके लिए भारत म प्रकृति प्रदत्त सुविधाएँ उपलब्ध हैं। जूट उद्योग भारत का गौरव एव गर्व है क्योंकि भारत को इसम प्रारम्भ से लेकर आज तक विश्व में एकाधिकार प्राप्त हैं। सन् १९५७ में इसके द्वारा देश को १ अरब १४ करोड़ २० लाख रुपये की विदेशी मुद्रा प्राप्त हुई। ससार भर के जूट कारखानों में कुल जितने करघे हैं उसक ५३ प्रतिशत भारत के इस उद्योग में हैं। इस उद्योग में कुल ३० लाख के लगभग औद्योगिक श्रमिकों का १० प्रतिशत अर्थात् ३ लाख के लगभग काम कर अपनी रोजी प्राप्त करते हैं। वस्त्र उद्योग के बाद जूट उद्योग में ही सबसे अधिक औद्योगिक श्रमिक कार्यरत हैं। भारत के समस्त जूट उत्पादक क्षेत्रों में कुल मिलाकर २० लाख कृषक परिवार इस उद्योग के कारण अपनी आजीविका प्राप्त करते हैं। इस उद्योग की कार्यरत पूँजी ७५ करोड़ रुपय के लगभग है। भारतीय जूट का सामान "विश्व का केरियर" कहलाता है। यह उद्योग हमारे देश का एक सुसगठित एव आदर्श उद्योग है जिसम प्रबन्ध, निर्देश एव अर्थ व्यवस्था सुनियमित है। नि सन्देह जूट उद्योग भारतीय अर्थतंत्र का मूलाधार है।

ऐतिहासिक मीमासा

प्राचीन काल में यह एक गृह उद्योग के रूप में चलाया जाता था और इतिहास से पता चलता है कि अठारहवीं शताब्दी में हमारे देश के बने हुए जूट के टाट एव बोरे अमरीका इत्यादि देशों को निर्यात किये जाते थे। हमारे देश में आधुनिक सगठित उद्योग के रूप में यह उद्योग उन्नीसवीं शताब्दी में प्रारम्भ हुआ। प्रथम जूट मिल सन् १८५४ ई० में जार्ज आक्लैण्ड ने स्थापित किया था। आँकलैण्ड साहब ने स्काटलैण्ड से मशीनों को लाकर श्रीरामपुर के निकट रिशरा नामक स्थान पर प्रथम जूट मिल स्थापित किया और सन् १८५७ ई० से कताई के अतिरिक्त इसमें

बुनाई का भी काम प्रारम्भ हो गया। सन् १८५६ ई० में बोर्नियो कम्पनी ने एक दूसरे मिल की स्थापना की जिसमें कताई एव बुनाई दोनों ही काम प्रारम्भ कर दिए गये। सन् १८६० ई० में दो और नये मिल स्थापित हुए। सन् १८७४ ई० में पाँच, और सन् १८७८ में आठ नई जूट कम्पनियाँ खुलीं और कलकत्ता जूट उद्योग का एक विशाल केन्द्र बन गया। यहाँ तक कि सन् १८८२ ई० तक उत्पादन में बहुत बड़ी वृद्धि हुई तथा १८८५ ई० तक पाँच नये मिलों की स्थापना हुई। जूट उद्योग की समस्याओं को हल करने के लिए १८८४ ई० में भारतीय जूट मिल सघ की स्थापना हुई।

सन् १८८२ से लेकर १८६५ ई० तक जूट उद्योग की प्रगति में उत्थान एव पतन होता रहा परन्तु उत्पादन की मात्रा में निरतर वृद्धि होती रही। सन् १८६५ तक मिलों की सख्या २६ हो गई। १६वीं शताब्दी के अन्तिम चार वर्षों में दस नये मिल और स्थापित किए गये। भारतीय जूट उद्योग इस प्रकार धीरे धीरे उन्नति की ओर अग्रसर होता रहा।

प्रथम युद्धकाल में जूट उद्योग की प्रगति—प्रथम विश्व युद्ध के प्रारम्भ होने ही जूट की बनी हुई सामग्री की माँग बहुत बढ़ गई। एक ओर युद्ध के लिये तम्बू और तिपाल बनाने के लिये टाट की माँग बढ़ी और दूसरी ओर खाइयों को पाटने के लिये बोरों की आवश्यकता बढ़ी और साथ ही जूट की रस्सियों एव सुतलियों तथा अनाज और वस्त्र की पैकिंग के लिये टाट की माँग बहुत बढ़ गई। इस बढ़ती हुई माँग के कारण भारत के जूट मिलों को विकास करने का स्वर्णिम अवसर प्राप्त हुआ।

प्रथम युद्धोपरान्त जूट उद्योग की प्रगति—युद्ध की समाप्ति के उपरान्त माँग में बहुत बड़ी कमी आ गई। अब जूट उद्योग के लिये सकट काल उपस्थित हो गया तथा बहुत से मिल बन्द हो गये। यह आर्थिक सकट काल सन् १६१६ ई० तक रहा। सकट काल के फलस्वरूप सूती वस्त्र उद्योग की भाँति सुसगठित होने के कारण बहुत अधिक हानि न हुई और कठिनाइयों के होते हुए भी यह उद्योग धीमी किन्तु निश्चित गति से उन्नति करता गया यहाँ तक कि १६१४-१५ में ७० मिलों की सख्या बढ़कर सन् १६२६-३० में ६८ हो गई।

सन् १६२६ ई० के बाद जूट उद्योग में एक बहुत बड़ा सकट काल उपस्थित हुआ। कच्चे जूट के मूल्यों में बहुत बड़ी कमी आ गई और जूट निर्मित वस्तुओं के मूल्य भी गिर गये। इस सकट काल पर विजय प्राप्त करने के लिये जूट मिल सघ ने यह निर्णय किया कि काम करने के घण्टे घटा दिये जायँ। सन् १६३१ तक घण्टों की संख्या कम कर दी गई और २५% करघे बन्द कर दिए गए। जूट मिल उद्योग के

भारत विभाजन से पूर्व ५.३ लाख गाठ जूट का निर्यात करता था परन्तु आज वह ६५ लाख गाठ जूट का निर्यात करता है। पुनः इस उद्योग के पैर स्थिर हो गये हैं।

पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत विकास

प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत जूट मिलों की स्थिति को ठोस बनाने के प्रयत्न किये गये हैं और जूट उत्पादन में वृद्धि करने के लिए विभिन्न प्रकार की रासायनिक खादों का प्रयोग तथा गहरी खेती की व्यवस्था की गई है। निर्यात की दृष्टि से सन् १९५६ ई० में ८ लाख टन निर्मित जूट वस्तुओं का निर्यात हुआ है और द्वितीय आयोजन के अन्त तक ९ लाख टन निर्यात करने का लक्ष्य रखा गया है। द्वितीय पंचवर्षीय आयोजन में मशीनों के निर्माण के लिए १३ करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई है और कच्चे माल के उत्पादन, मशीनों के नवीनीकरण तथा निर्यात की स्थिति सुधारने के प्रबल किए जाने का निश्चय किया गया है। भारत का यह मुख्य उद्योग कच्चे माल की प्राप्ति एवं उत्पादन की दृष्टि से आत्मनिर्भर हो गया है तथा विभाजनजन्य समस्या पर अधिकार प्राप्त कर लिया है। सन् १९५७ में जूट के माल का कुल उत्पादन १०,३०,००० टन था जो कि सन् १९५८ में बढ़कर १०,५२,००० टन हो गया।

जूट उद्योग की समस्याएँ—हमारे जूट उद्योग के समक्ष कुछ ऐसी समस्याएँ उपस्थित हैं जिनको सुलझाया जाना उद्योग के विकास एवं प्रगति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इन समस्याओं में से निम्नलिखित प्रमुख हैं—

(क) **अनार्थिक इकाइयों की समस्या**—वर्तमान काल में कुछ जूट मिलों को छोड़कर अन्य सभी घाटे में चल रहे हैं। पिछले चार महीनों में तीन जूट मिलों को अपना कारबार समेट कर ताला लगा देना पड़ा है। इस समस्या का मुख्य कारण माग की कमी है। किन्तु फिर भी जूट उद्योग अभी तक कार्य क्षेत्र में डटा हुआ है यह इसके लिए गौरव की बात है।

(ख) **उत्पादन में वृद्धि की समस्या**—इस समय जबकि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हैशियन और सैकिङ्ग की माग घटती हुई प्रतीत हो रही है, उत्पादन में वृद्धि एक समस्या है। स्मरणीय है कि गत वर्ष जूट उद्योग का उत्पादन १० लाख ६२ हजार टन के स्तर पर रहा था जो सन् १९४२ के बाद का सर्वोच्च स्तर है। सन्तोष की बात केवल इतनी ही है कि देश के अन्दर द्वितीय पंचवर्षीय योजना के कारण औद्योगिक क्रियाशीलता बढ़ गई है और फलस्वरूप हैशियन सैकिङ्ग की माग में भी वृद्धि हुई है। आतरिक माग में यह वृद्धि जूट मिलों के लिए विशेष रूप से सहायक हुई है। गत वर्ष

देश के अन्दर बोरों की माँग विशेष रूप से बढ़ी। यह आशा की जाती है कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना के तारतम्य में हैशियन सैक्ङ्गि की माँग निरन्तर बढ़ती रहेगी और इससे जूट मिलों को सहारा प्राप्त होता रहेगा। कारण यह है कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत चीनी उद्योग, सीमेंट उद्योग तथा रासायनिक खाद उद्योग में काफी बड़ा विस्तार हो रहा है और इन सभी उद्योगों को अपना माल पैक करने के लिए बोरों की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु जहाँ देश के अन्दर बोरों की माँग में वृद्धि हुई है वहाँ अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उनकी माँग में ह्रास हुआ है। स्मरणीय है कि सन् १९५३ से १९५५ तक सैकिङ्ग निर्यात काफी आशाप्रद रहा था। किन्तु गत वर्ष वह अचानक घट गया। भारतीय बोरों के मुख्य बाजार आस्ट्रेलिया तथा सुदूर पूर्व के देशों में हैं। गत वर्ष दोनों ही स्थानों में माँग घट गई।

सन् १९५६ में भारत ने ४ लाख ४४ हजार टन सैक्ङ्गि का निर्यात किया था किन्तु गत वर्ष निर्यात घट कर केवल ४ लाख ८ हजार टन रह गया। हैशियन और सैकिङ्ग तथा विविध मालों का कुल निर्यात सन् १९५५ की तुलना में प्रायः २५ हजार टन कम रहा। जूट के मालों के निर्यात में ह्रास सबके लिए एक अत्यन्त चिन्ताजनक बात है। कारण यह है कि इस समय द्वितीय पंचवर्षीय योजना के तारतम्य में मुद्रा विनिमय की बहुत बड़ी तंगी चल रही है। आवश्यकता इस बात की है कि निर्यात में अधिक से अधिक वृद्धि हो। उसमें वृद्धि के स्थान पर ह्रास एक गम्भीर बात है।

(ग) बाजार की समस्या—इस समय कुछ देश जो पहले अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पूर्णतया भारत पर निर्भर रहते थे स्वयं अपने यहाँ जूट मिलों की स्थापना में लगे हुए हैं। फलस्वरूप यह आशंका प्रकट की जा रही है कि ये बाजार सदा के लिए भारत के हाथ से निकल जायगे। इस प्रसंग में बर्मा, थाईलैंड, इण्डोनेशिया और चीन का उदाहरण दिया जा सकता है। इन देशों में जूट मिलों की स्थापना का प्रयत्न हो रहा है और यह बात भारतीय उद्योग के लिए एक बहुत बड़ी समस्या के रूप में है। इन देशों में भारतीय जूट उद्योग मालों की माँग घट जाने के कारण निर्यात को बहुत बड़ा धक्का लगा है। केवल इतना ही नहीं जापान और यूरोप की जूट मिल इस समय अपने अपने देश की आवश्यकताओं की पूर्ति के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भारत के साथ कड़ी प्रतियोगिता कर रही है। चिन्ता का एक अन्य कारण यह है कि पिछले कुछ समय में पाकिस्तान के जूट उद्योग ने बहुत बड़ी प्रगति की है। पहले पाकिस्तान केवल पाट का उत्पादन करता था और जूट मिलें कलकत्ते में थीं। अब पाकिस्तान ने अपने यहाँ स्वतन्त्र रूप में जूट उद्योग की स्थापना कर ली है। परिणाम यह हुआ है कि पाकिस्तान का बाजार

से भारतीय मिलों के हाथों से निकल ही गया है वहाँ से उल्टी प्रतियोगिता हो रही है। पहले पाकिस्तान में प्रति वर्ष भारतीय मिलों का प्रायः सत्तर हजार टन माल खपता था। अब यह सारा माल वहाँ की मिलें स्वयं उत्पादित करती हैं। इसके अतिरिक्त ये विदेशों को अपने मालों का निर्यात भी करने लगी है। गत वर्ष पाकिस्तान की मिलो ने विदेशों को प्रायः पचास हजार टन माल का निर्यात किया था—*अर्थात् पिछले वर्ष की तुलना में प्रायः दूना। उत्तरी अमेरिका तथा बर्मा को पाकिस्तानी* मिलों का माल विशेष रूप से जा रहा है। भारतीय जूट मिलों के लिए यह एक बहुत बड़ी समस्या है।

(घ) कच्चे माल की प्राप्ति की समस्या—वस्तुतः कच्चे माल का प्रश्न ही भारतीय जूट उद्योग की सबसे बड़ी समस्या है। गत वर्ष पाट के भाव अचानक बढ़ गये और मिलों का उत्पादन व्यय इसके फलस्वरूप अचानक असन्तुलित हो गया। गत वर्ष जूट मिलों को जो घाटा हुआ उसका मुख्य कारण पाट के भावों में आशातीत वृद्धि होना ही है। भारत सरकार इस समस्या से भलीभाँति अवगत है। उसने द्वितीय पंचवर्षीय योजना के तारतम्य में पाट का उत्पादन लक्ष्य ५० लाख गाँठ से बढ़ाकर ५५ लाख ४० हजार गाँठ कर दिया है। किन्तु अभी तक यह कहना कठिन है कि इस उत्पादन लक्ष्य की पूर्ति में सफलता कहाँ तक मिलेगी। प्रश्न केवल तादाद तक ही सीमित नहीं है। पाट व्यापार में कई ऐसे तत्वों का समावेश हो गया है जो वातावरण को स्थिर नहीं होने देते। फाटका स्थिरता का पुराना शत्रु है और पाट का सम्पूर्ण व्यापार फाटके के आधार पर चलता है। फसल की बोनी होते ही फाटके वाले भावों को कृत्रिम रूप में घटाने-बढ़ाने लगते हैं और कभी-कभी "कार्नरिंग" आदि के रूप में भी कृत्रिम परिस्थितियों की सृष्टि का प्रयत्न किया जाता है। *अतः पाट के उत्पादन के सम्बन्ध में पूर्ण आत्मनिर्भरता प्राप्त कर लेने पर भी उद्योग* की समस्याओं का समाधान न होगा। कच्चे माल के सम्बन्ध में निश्चिन्तता तभी होगी जब फाटके का तत्व समाप्त हो जाए और भावों में कुछ स्थिरता रहे।

(ङ) नवीनीकरण की समस्या—जूट उद्योग जिस संकटापन्न स्थिति से गुजर रहा है उसका वास्तविक समाधान तभी हो सकता है जब उसके उत्पादन व्यय में कमी हो और प्रतियोगिता शक्ति में वृद्धि। इसके लिए कच्चे माल की सुविधा के अतिरिक्त एक बात और भी आवश्यक है—वह है मशीनों का नवीनीकरण। भारतीय जूट उद्योग अत्यन्त प्राचीन उद्योग है। अधिकांश मिलों की मशीनें जीर्ण-शीर्ण हो चुकी हैं और उनका नवीनीकरण आवश्यक है। इस दिशा में मुख्य बाधाएँ दो हैं—अर्थाभाव और ट्रेड यूनियनों का विरोध। जहाँ तक प्रथम प्रश्न का सम्बन्ध है उसका समाधान सरकार के सहयोग से ही हो सकता है। दूसरा प्रश्न वास्तविक की अपेक्षा

मनोवैज्ञानिक अधिक है। मजदूर नवीनीकरण का विरोध इसलिए करते हैं क्योंकि उन्हें इस बात का भय है कि मशीनें नई हो जाने पर छँटनी अनिवार्य हो जायगी। किन्तु यह आशंका निराधार है।

उपसंहार

अब तक यद्यपि भारत ने अपनी पूर्ण आवश्यकता का ८० प्रतिशत कच्चा जूट उत्पादित करना प्रारम्भ कर दिया है तथापि जूट निर्मित वस्तुओं के मूल्य बहुत ऊँचे हैं जिसके फलस्वरूप हमारे देश में निर्मित पदार्थों की माँगें बहुत कम हो गई हैं। एक ओर हमारे मूल्य बहुत ऊँचे हैं और दूसरी ओर विदेशी उद्योगपति जूट के स्थान पर नवीन पदार्थ भी खोज कर रहे हैं। कपड़े तथा कागज के बोरों का प्रयोग होने लगा है। आस्ट्रेलिया, कनाडा इत्यादि देशों में खलिहानों से मोटरों में गल्ला भरने की मशीनें प्रयोग में लाई जा रही हैं। हमारे जूट उद्योग के समक्ष उपस्थित कठिनाइयों के प्रति जूट उद्योगपति तथा सरकार दोनों जागरूक हैं। इण्डियन जूट मिल एसोसिएशन ने माँग में वृद्धि करने के उद्देश्य से अमेरिका एवं इंगलैंड में अपने कार्यालय खोल रखे हैं तथा अन्य देशों में प्रतिनिधि मंडल भेजे हैं। इंडियन जूट मिल्स एसोसियेशन नई-नई वस्तुओं को निकालने के लिये अनुसन्धान कर रहा है। हमारी जूट मिलों ने पर्दे, दरियाँ, मोटे कपड़े तथा छोटे जोड़ आदि बनाना प्रारम्भ कर दिया है। यद्यपि पाकिस्तान भी अपने देश में जूट के मिलों की स्थापना करके विश्व प्रतिद्वन्द्वता के क्षेत्र में पदार्पण कर रहा है और इसके साथ ही साथ अनेक मध्यपूर्व के राष्ट्र जैसे बर्मा, थाईलैंड, फिलीपीन, चीन, जापान तथा अमरिका आदि देशों में जूट या जूट के समान रेशे के उत्पादन के प्रयत्न चल रहे हैं, तो भी भारतीय जूट उद्योग को इस पहलू से सशंकित होने की अधिक आवश्यकता नहीं है। भारत आर्थिक नियोजन काल से गुजर रहा है। भारत के शक्कर, खाद एवं सीमेंट उद्योग प्रगतिशील हैं। अतः जितनी बाह्य माँग में गिरावट आने की सम्भावना व्यक्त की जा रही है उससे अधिक आन्तरिक माँग में वृद्धि होगी जैसा कि निम्नतालिका से स्पष्ट होता है—

वर्ष	वार्षिक आन्तरिक खपत
१९५४	१,१०,००० टन
१९५५	१,७०,००० टन
१९५६	१,९३,००० टन
१९६०—(अनुमानित)	३,००,००० टन

परन्तु आज के प्रतिस्पर्धा के युग में यह आवश्यक है कि जूट का उत्पादन व्यय कम हो। इसके लिए मिलों में नई से नई आधुनिकतम मशीनों का लगाना आवश्यक है भले ही स्थायी रूप से कुछ मजदूरों को बेकारी का भी सामना करना पड़े। जूटोद्योग के मालिकों में शोषण की प्रवृत्ति न होकर सहयोग तथा सहमति की प्रवृत्ति होनी चाहिये। श्रमिक ही उत्पादन की रीढ़ की हड्डी होते हैं। अतः उत्पादन व्यय कम करने में इनका सहयोग नितान्त आवश्यक है।

राष्ट्रीय उद्योग विकास निगम द्वारा जूट मिलों के आधुनिकीकरण के लिये ऋण मन्जूर किये जा रहे हैं। अब तक ६ मिल कम्पनियों के लिये ऋण स्वीकृत किये जा चुके हैं जिनमें से २ को ५०,६१,६८५ रुपये प्राप्त भी हो चुके हैं। अन्य अनेक आवेदन पत्र विचाराधीन हैं। ऐसी परिस्थिति में नवीन आशा का संचार हो चुका है और इसमें संदेह नहीं कि साहस, धैर्य एवं बुद्धिमत्ता पूर्ण नियोजित कार्य करने से हमारे जूट उद्योग की सभी समस्याएँ सुलझ जायगी और यह उद्योग निरंतर विकास के पथ पर अग्रसर होता रहेगा।



सीमेंट उद्योग
(Cement Industry)

भोजन, वस्त्र तथा आवास मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताएँ हैं और इनमें अंतिम आवश्यकता की पूर्ति में सीमेंट का महत्वपूर्ण योग है। आधुनिक युग में भवन-निर्माण की अन्य सामग्री की तुलना में सीमेंट सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। इसके अतिरिक्त कारखाने, सड़क, पुल, बाँध, हवाई-अड्डा, रेलवे स्टेशन आदि के विकास में भी इसका कम महत्वपूर्ण स्थान नहीं है। वस्तुतः सीमेंट उद्योग इस युग की अनिवार्य आवश्यकता एवं राष्ट्र के आर्थिक निर्माण की मुख्य आधारशिला है। भारत के इस नव निर्माण काल में राष्ट्रीय सरकार जल विद्युत्-उत्पादन तथा सिंचाई के लिए बड़े-बड़े बाँध व नहरें, यातायात की सुविधा के लिए सड़कें, रेलें, बन्दरगाह एवं हवाई अड्डे, व्यावसायिक मजदूरों के लिए मकान एवं विस्थापितों के लिए बस्तियाँ (Colonies) बना रही है। इन सभी कार्यों की सफलता की पृष्ठभूमि में सीमेंट ही है और यह उद्योग भारत की पंचवर्षीय योजनाओं की सफलता का प्रतीक एवं अभिन्न अंग बन गया है।

ऐतिहासिक मीमांसा

भारत में सीमेंट उद्योग का इतिहास पुराना नहीं है। इस उद्योग का प्रादुर्भाव आधुनिक काल में ही हुआ है। प्रथम महायुद्ध तक तो इसका कोई विकसित रूप ही नहीं था। सर्वप्रथम सन् १६०४ में मद्रास में "पोर्टलैण्ड सीमेंट" का निर्माण प्रारम्भ हुआ, परन्तु यह प्रयास नगण्य था। इसके पश्चात् सन् १६१२ में पोरबन्दर स्थान पर "इण्डियन सीमेंट कम्पनी लिमिटेड" ने एक कारखाना स्थापित किया। यह कारखाना सफल रहा। सन् १६१५ में "कटनी सीमेंट एण्ड इण्डस्ट्रियल कम्पनी" ने सीमेंट बनाना प्रारम्भ किया। इसके बाद सन् १६१६ में "बूंदी पोर्टलैण्ड सीमेंट कम्पनी" ने लखेरी स्थान पर सीमेंट बनाने का कार्य प्रारम्भ किया। इन सभी कारखानों की उत्पत्ति राष्ट्र की आवश्यकताओं को देखते हुए नितान्त अपर्याप्त थी। परिणामस्वरूप प्रथम युद्ध तक भारत अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए इङ्गलैण्ड या अन्य देशों से सीमेंट के आयात पर निर्भर रहता था। सन् १६१४ में भारत ने १,८०,००० टन सीमेंट का आयात किया।

प्रथम युद्ध काल में प्रगति

युद्ध जनित आवश्यकताओं के कारण युद्ध से पूर्व स्थापित कारखानों को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला और ये शीघ्र ही उन्नति कर गये। युद्ध के कारण विदेशी सीमेंट की प्रतियोगिता भी समाप्त हो गई, देश में पहले से ही सीमेंट के लिए बड़ा दीर्घ बाजार प्रस्तुत था और निर्माण के लिए पर्याप्त मात्रा म कच्चा माल भी उपलब्ध था। इनके फलस्वरूप भारतीय सीमेंट उद्योग को प्रथम युद्ध काल म नवीन जीवन मिल गया और वे प्रगति के पथ पर चल पड़े। भारत म ७६ हजार टन प्रतिवर्ष उत्पादन होने लगा।

प्रथम युद्ध के उपरान्त

युद्ध के उपरान्त भी सीमेंट उद्योग की प्रगति में क्रमश वृद्धि होती गई। युद्ध के उपरान्त निर्माण कार्यों के लिए सीमेंट की अत्यन्त आवश्यकता थी। राष्ट्र का औद्योगिक विकास भी तेजी से प्रारम्भ हो गया था। सरकार ने इस उद्योग को सरक्षण भी प्रदान किया जिससे इसकी विकास की सम्भावनाएँ और भी अधिक बढ़ गईं। परिणाम स्वरूप सन् १९१९ और १९२३ के बीच देश में सीमेंट के ७ और नये कारखाने खुल गये तथा पूर्व स्थित ३ कारखानों की उत्पादन क्षमता दुगुनी हो गई। सन् १९१४ में कुल उत्पादन ९४५ टन था, यह बढ़कर सन् १९२४ म २,६६,७४६ टन हो गया और इस बीच म सीमेंट का आयात १,६५,७०२ टन से घटकर १,२४,१८६ टन रह गया। इस आश्चर्यजनक उन्नति का फल यह हुआ कि देश में सीमेंट का अति उत्पादन होने लगा और विभिन्न उत्पादकों में भयकर प्रतिस्पर्धा का प्रादुर्भाव हुआ। इस स्पर्धा का एक यह भी कारण था कि नवीन सात कारखानों की स्थापना उसी क्षेत्र में का गई थी जो कि पहले से ही सीमेंट के विक्रयण क्षेत्र क अन्तर्गत थे—२ कारखाने कटनी के निकट, १ छोटा नागपुर म, १ पञ्जाब म, १ काठियावाड़ में, १ ग्वालियर राज्य तथा १ हैदराबाद राज्य में स्थापित थे। पारस्परिक स्पर्धा का दुष्परिणाम यह हुआ कि सभी उद्योगों को हानि होने लगी। इस हानि का अनुमान २ से २½ करोड़ रुपये क बीच लगाया गया। नये कारखानों म से दो-तीन ने अपनी जीवन लीला ही समाप्त कर दी। ऐसी स्थिति एक अनिश्चित काल तक नहीं रह सकती थी। अवशेष उद्योगों में सगठन का प्रादुर्भाव हुआ और सन् १९२४ म सीमेंट क उद्योगपतियों ने टैरिफ-बोर्ड के समक्ष सरक्षण का प्रस्ताव रखा जिसके अनुसार आयात पर २५ रु० प्रति टन कर लगाने का सुझाव था। बोर्ड ने गम्भीर विचार करने के उपरान्त इस प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया। बोर्ड का विचार था कि समस्या विदेशी प्रतिस्पर्धा का नहीं, वरन् आन्तरिक स्पर्धा की थी। अत. इस उद्योग को सरक्षण की कोई आवश्यकता नहीं

समझी गई। परन्तु उद्योग के राष्ट्रीय महत्व को देखते हुए बोर्ड ने राजकीय सहायता की सिफारिश की। सरकार ने इस सिफारिश को भी अस्वीकार कर दिया। ऐसी परिस्थिति में उद्योगपतियों को उद्योग की रक्षा करने के लिए स्वयं उपाय करने के लिए विवश होना पड़ा। परिणामस्वरूप पारस्परिक प्रतिस्पर्धा का अंत करने के लिए सीमेंट के उद्योगपतियों ने सन् १६२५ में "इंडियन सीमेंट मैन्युफैक्चरर्स एसोसियेशन" की स्थापना की। इस संघ का कार्य बिक्री मूल्यों का निर्धारण एवं नियमन था। संघ के निर्माण से अापसी प्रतिस्पर्धा का अन्त हो गया और आगामी चार वर्षों में मूल्यों में कमी करने अथवा कमी करने की कोई समस्या नहीं उठी। संघ केवल मूल्य निर्धारण करता था और संघ का प्रत्येक इकाई अपना स्वयं का बिक्री प्रबन्ध करने के लिए स्वतन्त्र था। कुछ समय उपरान्त संघ ने बिक्री की व्यवस्था करने के लिए एक सामूहिक संस्था स्थापित करने के लिये प्रत्येक कारखाने की सम्पूर्ण बिक्री पर ५ आना प्रति टन का चंदा लगा दिया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सन् १६२७ में एक संस्था भी स्थापित कर दी गई जिसका नाम "कंक्रीट एसोसियेशन आफ इंडिया" रखा गया। इस संस्था का मुख्य कार्य सीमेंट के उपभोक्ताओं में सीमेंट के प्रयोग का प्रचार करना एवं आवश्यकता पड़ने पर उन्हें निःशुल्क तान्त्रिक (Technical) सलाह देना था।

संघ के निर्माण के पश्चात् सीमेंट उद्योग को पुनः जीवन मिल गया और इस उद्योग की स्थिति में आश्चर्यजनक सुधार होने लगा। उद्योगपतियों में भी नवीन आशा एवं साहस का संचार हुआ। सफलता से प्रेरणा प्राप्त कर उद्योगपतियों ने सन् १६३० ई० में सीमेंट के विपणन को नियमित करने के उद्देश्य से 'सीमेंट मारकेटिंग आफ इंडिया' नामक संस्था स्थापित करने की योजना बनाई। इस संस्था का मूल उद्देश्य व्यक्तिगत विपणन प्रबन्ध के स्थान पर सामूहिक रूप से विपणन प्रबन्ध एवं नियन्त्रण करना था। परन्तु सदस्य कम्पनी विपणन पर अपना व्यक्तिगत नियन्त्रण छोड़ने को तैयार न हुई क्योंकि वे अपनी अपनी विपणन व्यवस्था को सुसंगठित करने का प्रयत्न करने में संलग्न थीं। परिणामस्वरूप यह योजना कार्यान्वित न की जा सकी। इतना अवश्य हुआ कि सर्वसम्मति से यह निर्णय किया गया कि प्रत्येक कारखाने की उत्पादन मात्रा को सीमित कर दिया जाय। इस प्रकार सभी कारखानों की सामूहिक वार्षिक उत्पादन क्षमता ७,२२,००० टन निर्धारित कर दी गई। इन सामूहिक प्रयत्नों के फलस्वरूप सीमेंट उद्योग को पुनः गति मिली और यह उद्योग प्रगति के पथ पर चल पड़ा।

सन् १६३२ में 'कोयम्बटूर सीमेंट कम्पनी' तथा सन् १६३४ में 'शाहाबाद सीमेंट कम्पनी की स्थापना हुई जिससे क्रमशः ६०,००० टन एवं १,४०,००० टन का

अतिरिक्त उत्पादन होने लगा। विपणन के सम्बन्ध में समझौते के अनुसार जो कोटा प्रत्येक कम्पनी के लिये निश्चित हुआ था उसमें ऐसी कोई बात नहीं थी जिसके अनुसार कम्पनियाँ अपना प्रसार या विकास न करने के लिए बाध्य हों। सन् १९३५ में यह अनुभव किया जाने लगा कि इस उद्योग में अभी विकास के लिए पर्याप्त क्षेत्र है और सामूहिक रूप से उत्पादन एवं विपणन करने पर उत्पादन व्यय में और भी कमी की जा सकती है। परिणामस्वरूप श्री एफ० ई० दिनशा के सद्प्रयत्नों के फलस्वरूप १९३६ में सभी सीमेंट संस्थाओं का विलीनीकरण करके बम्बई में एक नयी कम्पनी 'ऐसोशियेटेड सीमेंट कम्पनी' (ACC) के नाम से स्थापित की गई। केवल 'सोन वैली कम्पनी' को छोड़कर शेष सभी कम्पनियाँ इस विलयन में शामिल हो गईं। सीमेंट उद्योग में अभिनवीकरण की दिशा में यह सर्वप्रथम प्रयास था। इस प्रयास द्वारा उद्योग को अधिक शक्तिशाली बनाकर विदेशी स्पर्धा से मुक्ति प्राप्त करना एवं उत्पादन तथा विपणन व्यय कम करके उपभोक्ताओं को सस्ती दर पर सीमेंट प्रदान करना ही मुख्य लक्ष्य था। उद्योग को स्वयं अपने पैरों पर खड़ा करने के लिए इस प्रकार का प्रयास आवश्यक ही नहीं अनिवार्य था। इस प्रयास के फलस्वरूप सीमेंट के मूल्य २५ प्रतिशत कम हो गये और कारखानों की उत्पादन क्षमता में वृद्धि होने लगी। सन् १९३७ में पोर्टलैंड सीमेंट का उत्पादन ६,८७,००० टन हो गया। और सन् १९३८ में बढ़कर १५,००,००० टन हो गया। इस प्रगति से प्रोत्साहन पाकर सन् १९३८ में डालमिया दल की स्थापना हुई। इस दल के अन्तर्गत कारखानों का निर्माण तो १९३६ में ही प्रारम्भ हो चुका था, किन्तु वास्तविक उत्पादन १९३८ से ही सम्भव हो सका। डालमिया दल ने अपने को एसोशियेटेड सीमेंट कम्पनी से अलग रक्खा जिसके कारण बाजार में स्पर्धा होने लगी और पुनः उद्योग के सम्मुख गम्भीर स्थिति उत्पन्न हो गई। पारस्परिक स्पर्धा का अन्त उद्योग के विकास के लिए आवश्यक हो गया। सौभाग्य से यह गम्भीर स्थिति अधिक दिनों तक न रह पाई क्योंकि सन् १९४० में दोनों दलों में समझौता हो गया और विपणन का कार्य 'सीमेंट मार्केटिंग कम्पनी आफ इंडिया लिमिटेड' को सौंप दिया गया। इस समय ए० सी० सी० के अन्तर्गत १२ कारखाने और डालमिया दल के अन्तर्गत ५ कारखाने थे। इसके अतिरिक्त चार कारखाने स्वतन्त्र रूप से उत्पादन करते थे।

द्वितीय महायुद्ध एवं उसके उपरान्त

युद्धकाल में सीमेंट उद्योग को विदेशी स्पर्धा से स्वाभाविक संरक्षण मिल गया। युद्ध की आवश्यकताओं के कारण सरकार की माँग भी सीमेंट के लिए अत्यधिक बढ़ गई। उद्योग को नवीन स्फूर्ति मिली और उद्योग का आश्चर्यजनक विकास प्रारम्भ हो गया। सन् १९४१-४२ में तो उत्पादन २२ लाख टन पहुँच गया जो अब तक के

उत्पादन में अधिकतम था। सीमेंट की माँग में अत्यधिक वृद्धि होने के कारण सरकार ने सीमेंट के उत्पादन एवं वितरण पर अपना अधिकार कर लिया। देश के सम्पूर्ण उत्पादन का लगभग ६० प्रतिशत भाग सरकार ने अपने युद्धकालीन निर्माण कार्यों के लिए सुरक्षित कर लिया। इस स्थिति में जनता को कष्ट होना स्वाभाविक ही था। माँग के बढ़ने के कारण सीमेंट के उद्योग को अपना प्रसार करने का स्वर्ण अवसर मिल गया। ए० सी० सी० के अन्तर्गत संस्थानों में विस्तार होने के फलस्वरूप इसकी उत्पादन क्षमता में ५० प्रतिशत की वृद्धि हुई।

उपर्युक्त प्रगति सन् १९४२ के उपरान्त अवरुद्ध हो गई। इसका मुख्य कारण सरकार द्वारा नियन्त्रण था। इसके अतिरिक्त कोयले का अभाव, श्रमिकों के झगड़े, यातायात की असुविधा, राजनैतिक उथल पुथल आदि अन्य कारण थे जिन्होंने इस उद्योग की प्रगति में बाधा उपस्थित कर दी। युद्ध के कारण विदेशों से मशीनों का आयात भी सम्भव नहीं हो सकता था जिसके कारण घिसी हुई मशीनों का आधुनिकीकरण भी नहीं हो सका। पुरानी मशीनों पर उत्पादन क्षमता कम हो जाना स्वाभाविक ही था। परिणामस्वरूप सन् १९४२ के उपरान्त सीमेंट उत्पादन क्रमशः कम होने लगा। यहाँ तक कि सन् १९४६ ४७ में कुल उत्पादन १५,४२,००० टन सीमेंट था।

सन् १९४७ में इस उद्योग को विभाजन के फलस्वरूप एक और धक्का लगा। विभाजन के पहले सीमेंट के २४ कारखाने थे परन्तु विभाजन के कारण इनमें से ५ पाकिस्तान के क्षेत्र में चले गये। अब सन् १९४८ में कुल उत्पादन लगभग १·०४६ मिलियन टन ही रह गया। सन् १९४८ में डालमिया दल पुनः अलग हो गया और अपनी विपणन व्यवस्था को अलग करने लगा। यह व्यवस्था तब से वर्तमान समय तक चली जा रही है।

युद्धोत्तर विकास की योजनाओं में सरकार ने सन् १९५२ ई० तक सीमेंट के उत्पादन का लक्ष्य ६० लाख टन प्रति वर्ष रखा। यद्यपि इस लक्ष्य की प्राप्ति तो सम्भव न हो सकी, परन्तु सन् १९४९ के उपरान्त उत्पादन में क्रमशः वृद्धि अवश्य होने लगी। आन्तरिक माँग में वृद्धि, विकास योजनाओं को पूरा करने के लिए सरकार द्वारा माँग, यातायात की सुविधाओं में वृद्धि, सरकारी नियन्त्रण की शिथिलता एवं स्वतंत्र नागरिकों के उल्लास तथा उत्साह ने इस उद्योग को नवीन चेतना एवं साहस प्रदान किया। सीमेंट के वर्तमान कारखानों में उत्पादन क्षमता बढ़ाये जाने के प्रयास कार्यान्वित किए जाने लगे और नवीन संस्थानों का जन्म होने लगा। सन् १९५० में स्थापित तीन नये कारखानों ने—सौराष्ट्र, मद्रास एवं त्रावनकोर कोचीन—जिनकी वार्षिक उत्पादन क्षमता २९,००,००० लाख टन थी, सन् १९५१ से उत्पादन आरम्भ कर दिया। इसके अतिरिक्त तीन और नये कारखाने स्थापित किये गये जिनमें से सिकालिया (७०३३)

ने अप्रैल १९५१ में तथा सवाई माधोपुर (राजस्थान) तथा राजगंगपुर (उड़ीसा) के कारखाने में सन् १९५२ से उत्पादन कार्य प्रारम्भ कर दिया गया। सन् १९५३ ५४ में उत्तर प्रदेश सरकार ने ४½ करोड़ रुपए की पूँजी से मिर्जापुर जिले में राबर्ट्सगंज के निकट चर्क नामक स्थान में एक नया कारखाना स्थापित किया। इसमें सन् १९५४ से उत्पादन होने लगा। सन् १९५५ में सिंद्री में सीमेंट का कारखाना स्थापित होने से सीमेंट उद्योग की उत्पादन क्षमता २ लाख टन से और बढ़ गई। इसी अवधि में सीमेंट के ७ कारखानों की आधुनिकीकरण योजना पूरी होने से इन कारखानों की उत्पादन क्षमता १० लाख टन से और बढ़ गई। सन् १९५५-५६ में ११ नये कारखानों तथा ११ पुराने कारखानों के विस्तार की योजनाओं को सरकार द्वारा स्वीकार किये जाने के फलस्वरूप इस उद्योग की वार्षिक उत्पादन क्षमता लगभग ७० लाख टन हो गई है। सन् १९४९ के उपरान्त इस उद्योग की प्रगति का अवलोकन निम्न तालिका से सरलता से किया जा सकता है—

वर्ष	उत्पादन
१९४९	२१ लाख टन
१९५०	२३ ,, ,,
१९५१	३२ ,, ,,
१९५२	३५ ,, ,,
१९५३	३७.८ ,, ,,
१९५४	३८ ,, ,,
१९५५	४५.० ,, ,,
१९५६	४९.५ ,, ,,
१९५७	५६ ,, ,,
१९५८	६० लाख ६० हजार टन

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि सन् १९५५ ५६ तक का योजना आयोग का लक्ष्य ४८ लाख टन सीमेंट पूरा ही नहीं हो चुका है, वरन् लक्ष्य के आगे भी पहुच गया है। सन् १९५३ तक २३ कारखाने थे। १९५६ तक ६ नये कारखानों ने उत्पादन प्रारम्भ कर दिया। सभी कारखानों को निम्न वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) ऐसोशियेटेड सीमेंट कम्पनीज लिमिटेड १३ कारखाने

(२) राज्य सरकारों के ३ कारखाने

(३) अन्य लिमिटेड कम्पनियों के १३ कारखाने (इनमें से १० कम्पनियों का प्रबंध मनेजिंग एजेंट करते हैं)। सन् १९५८ में सीमेंट के दो और कारखाने खोले गए और इस प्रकार कारखानों की कुल संख्या ३१ हो गई है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सरकार ने सीमेंट का वार्षिक उत्पादन १३० लाख टन तक लाने का लक्ष्य निर्धारित किया है। इस योजना काल में इस उद्योग के विस्तार की निम्न रूपरेखा बनाई गई है—

(१) वर्तमान २८ कारखानों की उत्पादन क्षमता में वृद्धि।

(२) ३१ नये सीमेंट कारखाने खोलने की व्यवस्था।

वर्तमान कम्पनियों द्वारा १३ नये कारखाने और नये लोगों द्वारा १८ नये कारखाने खोलने के लिए सरकार स्वीकृति प्रदान कर चुकी है। इस विस्तार के फल स्वरूप सीमेंट उद्योग की स्थिति इस प्रकार हो जाने की आशा है—

वर्ष	कारखानों की संख्या	वर्तमान कारखानों की वार्षिक क्षमता (लाख टन में)	नये कारखानों की क्षमता (लाख टन में)	योग (वार्षिक क्षमता) (लाख टन में)
१९५९	४२	८० ३३	२४ ८९	१०५ २२
१९६०	४४	९१ ७१	२८ ५४	१२० २५
१९६१	५३	९८ ५६	४८ ६८	१४८ २७
१९६२	५५	९८ ५९	५२ ९८	१५१ ५७

सन् १९५७ में टैरिफ आयोग के सुझाव

सीमेंट वितरण का कार्य जुलाई १९५६ से राज्य व्यापार निगम के हाथ में

आने के बाद जिन सीमेंट उत्पादकों को दुलाई के कारण बचत होती थी, वह बचत बन्द हो गई। दूसरी ओर समस्त सीमेंट उत्पादकों को अनेक कारणोंवश उत्पादन की लागत भी अधिक पड़ने लगी। परिणामस्वरूप सन् १९५७ के आरम्भ में भारत सरकार ने टटकर आयोग को विभिन्न कारखानों में पड़ने वाली उत्पादन लागत की जाँच करने एवं उत्पादकों को उचित मूल्यों की सिफारिश करने के लिए निर्देश दिया। टटकर आयोग ने विभिन्न कारखानों की उत्पादन लागत का हिसाब लगाने के बाद उन कारखानों के लिए खुले सीमेंट के वहाँ से चलते समय के मूल्य निर्धारित कर दिये। आयोग ने ये मूल्य १ जनवरी १९५८ से ३१ दिसम्बर १९६० तक रखने की सिफारिश की। इन संशोधित मूल्यों को सरकार ने स्वीकार कर लिया है। यह बात उल्लेखनीय है कि यद्यपि सभी उत्पादकों के लिए मूल्य निर्धारित कर दिये गए हैं तथापि गन्तव्य स्थान पर सीमेंट का एफ० ओ० आर० मूल्य देश भर में अब भी वर्तमान के समान ११७ प० रु० प्रति टन ही रहेगा। ऐसा ऊपरी खर्चों में हेर फेर करके तथा राज्य व्यापार निगम के पारिश्रमिक को ½ प्रतिशत से घटाकर ¼ प्रतिशत कर देने से सम्भव हो सका है।

सीमेंट के निर्यात बढ़ाने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। निर्यात के लिए २ लाख टन सीमेंट के निश्चित कोटे के अतिरिक्त १ लाख ४८ हजार टन और सीमेंट बाहर भेजने के करार किये जा चुके हैं। सीमेंट के कारखानों की मशीनें भारत में ही बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है। आशा है कि १९६२ तक देश की ही बनी हुई मशीनों से सीमेंट के कारखानों की आवश्यकताओं की काफी हद तक पूर्ति हो सकेगी।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारत का सीमेंट उद्योग प्रगति के पथ पर अबाध गति से अग्रसर होता चला जा रहा है। द्वितीय पचवर्षीय योजना में निर्धारित सीमेंट उत्पादन का लक्ष्य एवं उसके प्राप्त करने के लिए कार्यान्वित की जाने वाली योजनाएँ वास्तव में सीमेंट उद्योग के स्वर्णिम भविष्य के प्रतिबिम्ब हैं।

२५

कागज उद्योग

(Paper Industry)

राष्ट्र की सभ्यता एवं संस्कृति के विकास का मूलाधार कागज़ ही है। अतः कागज उद्योग को राष्ट्र की सभ्यता एवं संस्कृति का प्रतीक कहना कदाचित अनुचित न होगा। भारत अति प्राचीन समय से ही मानव सभ्यता का केन्द्र रहा है। अतः कागज उद्योग का वर्णन सोलहवीं शताब्दी में मिलता है। परन्तु प्रामाणिक रूप से इस उद्योग का जन्म मुसलमानी शासनकाल में हुआ। सम्राट अकबर के शासन काल में तो यह उद्योग सम्पूर्ण भारत में फैल गया। भारत में अँग्रेजों के आने के पूर्व कुटीर-उद्योग के रूप में कागज उद्योग अपनी पूर्ण विकसित अवस्था में था।

बड़े पैमाने पर संगठित रूप में इस उद्योग का इतिहास तो उन्नीसवीं शताब्दी से ही प्रारम्भ होता है। वैसे तो सन् १७१६ में इसाई धर्म के प्रचारक विलियम कैरे ने कलकत्ता के निकट सीरामपुर में सर्वप्रथम कागज का कारखाना स्थापित किया था परन्तु यह प्रयास असफल रहा। इसके उपरान्त सन् १८६७ में दूसरा कारखाना हुगली के तट पर कलकत्ते के ही निकट 'बेली पेपर मिल' के नाम से खोला गया। सन् १८८१ में बंगाल में 'टीटागढ़ पेपर मिल' की स्थापना हुई जिसने सन् १८८४ में अपना उत्पादन प्रारम्भ कर दिया। वास्तव में यह प्रथम कारखाना था जिसको आधुनिक कागज़ उद्योग का आधारशिला कहा जा सकता है। सन् १९०४ में 'बेली पेपर मिल' का भी 'टीटागढ़ पेपर मिल' में विलियन हो गया जिससे इसका और भी विस्तार हुआ। सन् १९२४-२५ तक इस कारखाने की वार्षिक उत्पादन क्षमता १८,००० टन हो गई। १९वीं शताब्दी के अन्त तक और भी कई कारखाने स्थापित किये गये जिनमें मुख्य निम्नलिखित थे—

(१) अपर इण्डिया कूपर मिल, लखनऊ (१८७९)
(२) महाराजा सिन्धिया पेपर मिल, ग्वालियर (१८८१)
(३) डक्कन पेपर मिल कं० पूना (१८८५)
(४) बंगाल पेपर मिल कं० रानीगंज (१८८९)
(५) इम्पीरियल पेपर मिल्स, कंकीनारा (१८९४)

उपर्युक्त कारखानों में सिन्धिया पेपर मिल असफल रहा और उसकी मशीनों को १९२२ में बंगाल पेपर मिल ने खरीद लिया। इसी प्रकार इम्पीरियल पेपर मिल की मशीनों को १९०३ में टीटागढ़ पेपर मिल ने खरीद लिया। डकन पेपर मिल भी घाटे के कारण बन्द हो गया। विभिन्न मिलों की असफलता ने इस उद्योग के विकास की गति को अवरुद्ध कर दिया और २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में कोई नया कारखाना नहीं खोला गया। इस प्रकार प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भ होने के समय भारत में कुल ५ कागज मिलें थीं जिनका वार्षिक उत्पादन २७,००० टन था।

युद्ध काल में आयात की कमी के कारण इस उद्योग को प्रोत्साहन मिला। भारत के सभी मिलों ने खूब उत्पादन किया और लाभ कमाया। इस सफलता के कारण ही अन्य लोगों को इस उद्योग की स्थापना करने की प्रेरणा मिली। सन् १९१८ में इण्डियन पल्प कं०' की स्थापना की गई जिसने सन् १९२२ में अपना कार्य आरम्भ कर दिया। सन् १९२७ में मद्रास में 'कर्नाटक पेपर मिल्स' तथा सन् १९२९ में सहारनपुर में पंजाब पेपर मिल' की स्थापना हुई। इसके उपरान्त ही जगाधरी में 'श्री गोपाल पेपर मिल्स' की स्थापना हुई। इस प्रकार सन् १९२४ तक कागज मिलों की संख्या ९ थी और इनकी वार्षिक उत्पादन क्षमता ३३,००० टन। योद्धत्तर मन्दी के कारण सन् १९२४ में इस उद्योग ने संरक्षण की माँग की और सरकार द्वारा ७ वर्ष के लिए संरक्षण प्रदान किया गया। संरक्षण प्राप्त होने तथा सहारनपुर व कर्नाटक मिलों के स्थापित हो जाने के कारण कागज उद्योग की वार्षिक उत्पादन क्षमता सन् १९३१ में ४५,६०० टन हो गई। सन् १९३१ में टैरिफ बोर्ड ने पुनः इस उद्योग की जाँच की और अपनी रिपोर्ट में बतलाया कि संरक्षण की अवधि में इस उद्योग ने सतोषप्रद प्रगति की है। अतः बोर्ड ने आगामी ■ वर्षों के लिए फिर से संरक्षण प्रदान किये जाने की सिफारिश की। अभी तक कागज बनाने में 'सबाई' घास का प्रयोग किया जाता था जिसके कारण कागज की किस्म अच्छी न रहती थी। अब बाँस से लुगदी बना कर कागज बनाया जाने लगा जो किस्म एवं टिकाऊपन की दृष्टि से श्रेष्ठ था। पुनः संरक्षण मिल जाने के कारण उद्योग को और भी प्रोत्साहन मिला। परिणामस्वरूप १९३६-३७ तक देश में ११ कारखाने हो गये—इनमें ४ बंगाल, ४ बम्बई, १ उत्तर प्रदेश, १ मद्रास तथा १ ट्रावनकोर में था। इसके उपरान्त सन् १९३९ में आसाम में एक और नया कारखाना खुला। इसी वर्ष एक लुगदी का कारखाना चिटगाँव में भी खुला। इस प्रकार द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होने के समय भारत में कुल १२ कागज के कारखाने थे और उनकी वार्षिक उत्पादन क्षमता ९०,००० टन थी।

द्वितीय महायुद्ध एवं उसके उपरान्त

द्वितीय महायुद्ध में विदेशों से आयात बन्द हो जाने के कारण, काग़ज़ उद्योग को स्वाभाविक संरक्षण मिल गया। आन्तरिक माँग में वृद्धि होने के कारण पारस्परिक स्पर्धा का भी अन्त हो गया। मूल्यों में वृद्धि के कारण लाभ भी अधिक होने लगा। वास्तव में इस उद्योग के लिए युद्ध वरदान सिद्ध हुआ और इस उद्योग को पुनः जीवन मिल गया। ऐसी परिस्थितियों में काग़ज़ उद्योग का विकास स्वाभाविक ही था। अतिरिक्त लाभ ने पुराने कारखानों को विस्तार करने के लिए प्रेरणा प्रदान की और नये उद्योगपतियों को भी नये कारखाने खोलने के लिए आकर्षित किया। युद्ध कालीन नये स्थापित हुए कारखानों में "आर्यन पेपर मिल्स लि०" तथा "नेशनल पेपर एण्ड बोर्ड लि०" का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। स्ट्रॉबोर्ड बनाने वाले कारखानों की संख्या १८ हो गई जिनका वार्षिक उत्पादन ३०,००० टन था जबकि आन्तरिक माँग केवल २५,००० टन ही थी। इसी प्रकार भारत सन् १६३७ तक पेपर बोर्ड के लिए आयात पर ही निर्भर था, परन्तु युद्ध के कारण पेपर बोर्ड बनाने को भी प्रोत्साहन मिला और इसी का परिणाम है कि "दि रोहतास इण्डस्ट्रीज लि०" डालमिया नगर, पेपर बोर्ड का बनाने वाला भारत का सबसे बड़ा कारखाना स्थापित किया जा सका और आज भारत में पेपर बोर्ड का वार्षिक उत्पादन २४,००० टन है जो आन्तरिक माँग के लिए पर्याप्त है। सन् १६४४ तक देश में १६ कागज के कारखाने हो गये और काग़ज का उत्पादन १,०३,७८४ टन होने लगा। काग़ज़ की विभिन्न किस्मों का भी निर्माण होने लगा और भारत काग़ज़ में आत्मनिर्भर हो गया।

सन् १६४२ ४३ तक तो इस उद्योग के उत्पादन में निरन्तर वृद्धि होती गई परन्तु इसके उपरान्त क्रमशः उत्पादन कम होने लगा। इसके मुख्य कारण थे यातायात की असुविधा, कोयले का अभाव, श्रमिकों के झगड़े एवं कच्चे माल का अभाव। काग़ज का अभाव होने के कारण इसके मूल्य भी बहुत बढ़ गये और जनता को अपने उपभोग के लिए कागज़ मिलना कठिन हो गया। फलस्वरूप सरकार ने काग़ज पर नियन्त्रण लगा दिया और सरकारी तथा सार्वजनिक उपभोग की मात्रा निश्चित करने के अनुसार पहले तो ६० प्रतिशत काग़ज अपने लिए रखा परन्तु बाद में घटा कर ७० प्रतिशत कर दिया। काग़ज में भी चोर बाजारी प्रारम्भ हो गई।

युद्ध के समाप्त हो जाने के बाद काग़ज़ उद्योग की स्थिति तथा विकास की भावी सम्भावनाओं की जाँच करने के लिए सरकार ने एक "पैनल" नियुक्त किया। इस "पैनल" ने जाँच करने के उपरान्त काग़ज़, लुगदी, गत्ता तथा अन्य सभी प्रकार के काग़ज के उत्पादन में वृद्धि करने के लिए एक विकास योजना बनाई जिसके

अन्तर्गत १९५१ तक १,६६,००० टन तथा १९५६ तक ३,०२,००० टन कागज के उत्पादन करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। युद्ध के उपरान्त भी अखबारी कागज (News Print) का पूर्णतया अभाव था, अतः इसके उत्पादन के लिए भी योजना बनाई गई। सन् १९५३-५४ में मध्य प्रदेश में "नेपा मिल्स" की स्थापना की गई जिसने जनवरी १९५५ से उत्पादन आरम्भ कर दिया और अखबारी कागज का उत्पादन प्रारम्भ हो गया। परन्तु अब भी अधिकतर आम कागज का उत्पादन ही अधिक मात्रा में होता था और अच्छे किस्म के कागज का अभाव रहा जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाता है—

(हजार टन में)

वर्ष	कुल उत्पादन	छापने व लिखने का कागज	रैपिंग कागज	विशेष किस्म का कागज	बोर्ड (पट्ठा)
१९५०	१०६	७०	१५	५	१६
१९५१	१३१	७८	२४	३	२६
१९५२	१३८	९१	२२	२८	२२
१९५३	१४०	६६	२१	३४	२०

कागज उद्योग के सम्बन्ध में जो 'पैनल' नियुक्त किया गया था उसने यह सिफारिश भी की थी कि भविष्य में नये कारखाने उन स्थानों पर स्थापित किये जाने चाहिये जहाँ उनके विकास के लिये पर्याप्त कच्चा माल, यातायात की सुविधा, शक्ति के साधन एवं विपणन सुविधाएँ सरलता से प्राप्त हो सकें। इसका मत था कि कागज के कारखाने पश्चिमी बंगाल में न खुल कर, मद्रास, बम्बई, आसाम, पंजाब, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश तथा बिहार में ही स्थापित किये जाने चाहिये। जहाँ तक अखबारी कागज का प्रश्न है इनके कारखानों का विकास काश्मीर में तथा उत्तर प्रदेश में टेहरी-गढ़वाल में सरलता से किया जा सकता है क्योंकि इन स्थानों पर उनके लिये कच्चा माल सुगमता से उपलब्ध हो सकेगा।

वर्तमान प्रगति एवं समस्याएँ

प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत इस उद्योग के उत्पादन लक्ष्य इस प्रकार निर्धारित किये गये थे—

(हजार टन में)

	१९५०-५१			१९५५-५६		
	कारखाने	वार्षिक उत्पादन क्षमता	वास्तविक उत्पादन	कारखाने	वार्षिक उत्पादन क्षमता	वास्तविक उत्पादन
कागज एवं पट्ठा	१७	१३६·६	११४	१६	२११	२००
अखबारी कागज	..	..	.	१	३०	२७
स्ट्राबोर्ड	१८	४८·५	२२	२०	५८·५	५२·६

उपर्युक्त लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये किये गये प्रयत्नों के फलस्वरूप सन् १९५६ में कागज और गत्ते का उत्पादन २·१ लाख टन हो गया जबकि यही उत्पादन १९५०-५१ में केवल १·१४ लाख टन था। परन्तु कागज की खपत को देखते हुए यह बहुत कम था। सन् १९५१ में कागज की खपत २·१ लाख टन थी परन्तु १९५६ में यही खपत बढ़कर ३·१७ लाख टन हो गई। परिणामस्वरूप हमको लगभग १५ करोड रुपये की लागत का ४६ हजार टन कागज, ८० हजार टन अखबारी कागज तथा १२ हजार टन रेयन की लुगदी विदेशों से मँगानी पड़ी। इस समय तक देश में २१ कागज की मिलें स्थापित हो चुकी हैं। ये मिलें अधिकांश में बंगाल, बम्बई, उत्तर प्रदेश तथा मद्रास में स्थित हैं। सन् १९५७ तथा सन् १९५८ में इनका उत्पादन इस प्रकार रहा—

कागज (टन)

	छपाई और लिखाई	पैकिंग	विशेष किस्म का	गत्ता	योग
१९५७	१,२६,५१६	३८,०१६	७,२००	३८,४००	२,१०,१३२
१९५८	१,३६,८३६	३८,३३७	७,२००	४६,२००	२,३१,५७६

द्वितीय आयोजन काल में देश में २२ नये कारखाने और खोलने की व्यवस्था

की गई है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत १९६०-६१ तक उद्योग का विकास कार्यक्रम इस प्रकार है—

	आवश्यकता (अनुमानित)	वार्षिक उत्पादन क्षमता	उत्पादन
कागज एवं पट्ठा	३,५०,००० टन	४,५०,००० टन	३,५०,००० टन
अखबारी कागज	१,२०,००० टन	३०,००० टन	३०,००० टन

सन् १९५७ में कागज तथा गत्ते का उत्पादन २,००,००० टन की सीमा को पार कर गया जब कि १९५६ में कुल १,९३,४०० टन कागज का उत्पादन हुआ था। सन् १९५८ के अन्त तक आशा है कि कागज के उत्पादन के लिए दो नये कारखाने चालू हो जायेंगे। अखबारी कागज का उत्पादन अब पहले की तरह कम गया है। सार्वजनिक क्षेत्र में इसका एक ही कारखाना 'नेपा मिल' है। सन् १९५७ में यहाँ १४,४८९ टन अखबारी कागज बनाया गया। अब बिजली अधिक परिमाण में मिलने लगेगी तो यह और भी बढ़ जायगा। राष्ट्रीय उद्योग विकास कार्पोरेशन के आधीन अखबारी कागज का एक सरकारी कारखाना आन्ध्र प्रदेश में राजर नगर में खोला जा रहा है जिसमें ३० हजार टन अखबारी कागज बन सकेगा। अखबारी कागज की माँग को दृष्टि में रखते हुये अभी देश में तीस तीस हजार टन कागज बनाने वाले दो कारखानों के खोलने की गुन्जाइश है। देश में प्रति वर्ष ८०,००० टन अखबारी कागज की खपत होती है। आशा है कि सन् १९६०-६१ तक बढ़कर यह १,२०,००० टन हो जायगी।

जनवरी १९५७ में कागज एवं लुगदी समिति का गठन किया गया था जो इस उद्योग के विषय में सभी बातों पर विचार किया करेगी। सरकार ने आसाम में रासायनिक लुगदी बनाने के कारखाने की स्थापना करने की एक योजना स्वीकार कर ली है। इसका उत्पादन ३० हजार टन लुगदी प्रतिवर्ष होगा। इसी प्रकार ५० हजार टन की नकली रेशम रेयन की लुगदी बनाने के लिये भी एक कारखाना स्थापित किया जा रहा है।

छपाई तथा लपेटने के काम आने वाले घटिया किस्म के कागज की माँग को पूरा करने के लिए छोटे कारखानों का महत्व स्वीकार किया जा चुका है तथा इस प्रकार के ६ कारखाने स्थापित करने के लिए लाइसेंस दिये जा चुके हैं जिनकी कुल क्षमता १५,५०० टन होगी।

सरकार ने कागज के ७ नये कारखाने स्थापित करने के लिए लाईसेंस प्रदान कर दिये हैं जिनकी वार्षिक उत्पादन क्षमता ५५,१०० टन होगी। इसमें से ३ बम्बई में तथा एक एक आसाम, बंगाल, उड़ीसा तथा आंध्र में खोला जायगा। वर्तमान कारखानों में ८ कारखानों के विस्तार के लिये भी लाईसेंस दिये जा चुके हैं जिससे इनकी उत्पादन क्षमता में १,०६,५०० टन की वार्षिक वृद्धि सम्भव हो सकेगी। इन योजनाओं की पूर्ति पर देश की वार्षिक उत्पादन क्षमता ३,५०,८०० टन हो जायगी।

न्यूट्रल मोनोसलफाइट प्रणाली द्वारा गन्ने की खोई से प्रतिदिन १०० टन उत्पादन करने वाला एक कारखाना स्थापित करने के लिए पश्चिमी जर्मनी की एक फर्म के साथ बातचीत चल रही है। इसकी अन्तिम प्रायोजना रिपोर्ट प्राप्त हो चुकी है। विदेशी मुद्रा की स्थिति को देखते हुए मशीनों के लिए अभी ठेके नहीं दिये जा सके हैं।

उद्योग पर भिन्न भिन्न रूपों पर सरकार को सलाह देने के लिए १६५५ में बनाई गई तालिका का १६५७ में पुनः संगठन किया गया। इस तालिका ने चार उपसमितियाँ बनाई गईं जो कि (१) कागज बनाने वाली मशीनों का निर्माण (२) कच्चे माल के साधनों का निर्धारण (३) परिचालन दक्षता सम्बन्धी जानकारी का संकलन तथा विनिमय और (४) भिन्न-भिन्न किस्मों के कागजों की माँगों के निर्धारण के प्रश्नों पर विचार करती है।

सन् १६५८ में प्रथम बार नमी तथा गर्मी सहने वाली सैल्यूलोज झिल्लियों का उत्पादन आरम्भ हुआ। सिगरेट निर्माताओं द्वारा इनकी किस्म सन्तोषजनक बताई गई है और आशा है कि सिगरेट उद्योग की ५० प्रतिशत आवश्यकता स्थानीय उत्पादन द्वारा ही पूर्ण हो सकेगी। देश में पहली बार बनाये जाने वाले अन्य किस्म के कागजों में चिकनाई रोकने वाले तथा कनिलों में लगाये जाने वाले कागजों का परीक्षणार्थ किया गया उत्पादन उल्लेखनीय है। चैक के कागजों का उत्पादन अब नियमित रूप से होने लगा है।

वर्तमान समय में कागज उद्योग के सम्मुख यन्त्रों के आधुनिकीकरण एवं कच्चे माल की समस्याएँ मुख्य रूप से इसके प्रगति के पथ को अवरुद्ध किये हैं। कागज के कारखानों में अधिकांशतः पुराने यन्त्रों का ही उपयोग हो रहा है। हमारे इन्जीनियरिंग उद्योग की सफलता पर ही कागज उद्योग की इस समस्या का समाधान निर्भर है। जहाँ तक कच्चे माल की समस्या का प्रश्न है प्रमुख रूप से उत्पादन के लिए बाँस तथा सबाई घास का उपयोग होता है। परन्तु देश के विभाजन के कारण पूर्वी बङ्गाल से आने वाला बाँस बन्द हो गया। इससे पश्चिमी बङ्गाल के कारखानों

को कच्चे माल का एक प्रकार से दुर्भिक्ष उत्पन्न हो गया। सबाई घास भारत में बहुत थोड़ी मात्रा में मिलती है। इसके लिए जङ्गलों की सुरक्षा और बाँस के भावों का निर्धारण, जङ्गलों में सड़कों का निर्माण, तथा जूट व रुई की कतरन के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक है। इस समस्या के समाधान के लिए भारत सरकार ने वनों के प्रमुख निरीक्षक की अध्यक्षता में एक समिति का निर्माण किया है जो कच्चे माल की पूर्ति को ध्यान में रखकर कागज उद्योग के विकास की आधारभूत योजना प्रस्तुत करेगी। यह समिति बाँस के तथा अन्य कच्चे माल के विदोहन के लिए उपाय करेगी तथा सेल्यूलोज की प्राप्ति बढ़ाने के लिये उपाय बतलायेगी। देहरादून का 'फारेस्ट रिसर्च इन्स्टीट्यूट' इस दिशा में सराहनीय कार्य कर रहा है।

उपसंहार

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारत का कागज उद्योग निरन्तर प्रगति की ओर अग्रसर होता जा रहा है। अब भारत किस्म की दृष्टि से भी संसार में किसी भी देश से पीछे नहीं रह गया है। इस उद्योग की वर्तमान समस्याओं के प्रति हमारी राष्ट्रीय सरकार पूर्ण रूप से जागरूक है और उनको दूर करने के लिए प्रयत्नशील है। इसमें सन्देह नहीं कि इन समस्याओं के हल हो जाने के बाद इस उद्योग के प्रगति के पथ का अवरुद्ध मार्ग खुल जायगा और यह उद्योग पुनः विकास की ओर शीघ्रता से बढ़ने में समर्थ हो सकेगा और भारत कागज के लिये आत्मनिर्भर हो सकेगा। हमारे देश की आन्तरिक माँग में वृद्धि से इस उद्योग को और भी प्रोत्साहन मिलेगा। भारत ऐसे देश में जहाँ ८२ प्रतिशत लोग निरक्षरता के गहन अन्धकार में भटक रहे हों और जहाँ विदेशी दासता से पददलित एवं सुषुप्त सांस्कृतिक चेतना को पुनरुज्जीवन प्रदान करना हो, वहाँ शिक्षा के विकास एवं सांस्कृतिक सन्देश को विश्व के अन्तरिक्ष में प्रतिध्वनित करने के लिए भविष्य में निरन्तर कागज की माँग में वृद्धि होना स्वाभाविक ही है। फलतः भारत की सांस्कृतिक प्रगति के प्रतीक इस कागज उद्योग का स्वर्णिम भविष्य प्रतीक्षा कर रहा है।



२६

चीनी उद्योग

(Sugar Industry)

हमारे राष्ट्र के सगठित बड़े उद्योगों में विशालता की दृष्टि से आज चीनी उद्योग का द्वितीय स्थान है। राष्ट्र की अर्थ व्यवस्था का यह उद्योग एक महत्वपूर्ण अंग है जो जीवन की दैनिक आवश्यकताओं में से एक प्रमुख आवश्यकता की पूर्ति करता है। चीनी उद्योग उन उद्योगों में से है, जो देश की सम्पूर्ण माँग की पूर्ति करने की क्षमता रखता है। न केवल आत्मनिर्भरता की दृष्टि से, वरन् ससार में चीनी का सर्व प्रमुख उत्पादक होने के नाते भी इस उद्योग का भारत में महत्वपूर्ण स्थान है। इस समय देश में चीनी के १६० कारखाने हैं जिनसे लगभग १½ लाख दक्ष एव अदक्ष श्रमिकों तथा ३६०० विश्वविद्यालय शिक्षा प्राप्त लोगों को जीविका प्राप्त होती है। लगभग २ करोड़ किसान गन्ने की खेती म लगे हुए हैं और इस वर्ष गन्ने के मूल्य में ७० ६८ करोड़ रुपये इन किसानों को प्राप्त हुए। राज्यकोष को इससे ६५ करोड़ रुपये की प्राप्ति होती है। देश को इस उद्योग से बड़ी आशाएँ हैं।

ऐतिहासिक मीमासा

कहा जाता है कि भारत ही गन्ने का जन्म स्थान है। प्राचीन काल में जब पाश्चात्य जगत क लोग खाने को मीठा करने क लिए शहद का उपयोग किया करते थ, तब भारत में चीनी दैनिक आवश्यकता की वस्तु थी। भारत क प्राचीनतम धर्म ग्रन्थों में 'शर्करा' शब्द का प्रयोग मिलता है, जिससे प्रमाणित होता है कि अति प्राचीन काल में भी भारत म शर्करा अर्थात् खाड का प्रयोग होता था जिससे यह स्पष्ट होता है कि उस समय भी खाड बनाने का धधा प्रचलित था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में गन्ने क रस से शर्करा बनाने और शोरे से मद्यसार बनाने की विधियों की व्याख्या भी है। १६ वीं शताब्दी के मध्य में रचे गये चीन के विश्व कोप म भारत के उन्नतिशील चीनी उद्योग का उल्लेख है। भारत चीनी का निर्यात अन्य देशों को भारी मात्रा में करता था। परन्तु ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रादुर्भाव के साथ साथ हमारा यह अतीत का गौरव चीनी उद्योग क्रमश अवनति की ओर अग्रसर होने लगा। १६ वीं शताब्दी में तो भारत स्वयं चीनी का आयात करने लगा। मारिशस तथा जावा से आयातों में

भारी वृद्धि के कारण चीनी उद्योग की दशा १८९० के बाद बड़ी खराब हो गई। सरकारी सहायता प्राप्त योरोपियन चीनी की आयातों से कीमतें बहुत गिर गईं और गुड़ से चीनी बनाने का उद्योग बड़ा अलाभप्रद हो गया।

बीसवीं शताब्दी में

वास्तव में संगठित बड़े पैमाने के चीनी उद्योगों का जन्म बीसवीं शताब्दी में हुआ। इस शताब्दी के प्रारम्भ में मोतीहारी, बारा चकिया, गोरखपुर तथा पदरौना के कारखाने प्रसिद्ध थे। परन्तु इन आधुनिक उद्योगों के खुल जाने के बाद भी इस उद्योग की प्रगति बहुत ही मन्द रही। कुटीर उद्योग तो प्राय नष्ट ही होता जा रहा था। विदेशी स्पर्धा के कारण मूल्य गिर जाने से किसानों ने गन्ने का उत्पादन भी कम कर दिया। चीनी बनाने के प्राचीन एवं अवैज्ञानिक ढंगों के प्रचलन के कारण उत्पादन व्यय भी अधिक पड़ता था। भारत आन्तरिक उपभोग के लिए आयात पर निर्भर रहने के लिए विवश हो गया। सन् १९१३ १४ में ८,९९,३७० टन चीनी का आयात किया गया। प्रथम महायुद्ध ने थोड़े समय के लिए उद्योग को प्रोत्साहन तो दिया, परन्तु युद्ध के उपरान्त स्थिति ज्यों की त्यों हो गई। सन् १९१९ २० में चीनी उद्योग के विकास के लिए एक चीनी समिति की स्थापना की गई। गन्ने के उत्पादन में कुछ वृद्धि भी हुई, परन्तु सन् १९३१ तक भारतीय बाजारों में विदेशी शक्कर का ही नहुता यत रहा। इस समय तक देश में छोटे बड़े सब मिलाकर कुल ३२ कारखाने ही थे और उनका अस्तित्व भी खतरे में था। सन् १९३० में "भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्" ने सरकार का ध्यान इस उद्योग की ओर आकर्षित किया और इस उद्योग को उचित सहायता प्रदान करने की सिफारिश की। इस परिषद् की सिफारिशों के फलस्वरूप सरकार ने सन् १९३२ में इस उद्योग को संरक्षण प्रदान किया। वास्तव में इसी वर्ष से इस उद्योग ने विकास के युग में पदार्पण किया और इसके इतिहास में एक नये अध्याय का आरम्भ हुआ।

सरकार ने इस उद्योग को १५ वर्षों के लिए संरक्षण देना स्वीकार किया। सरकार ने चीनी की आयातों पर पहले सात वर्षों के लिए ७ रु० ४ आ० प्रति हंडरवेट के हिसाब से संरक्षण कर लगाया और इस आयात कर पर २५% के बराबर एक अतिरिक्त शुल्क भी लगाया। सन् १९३७ के उपरान्त यह आयात कर समयानुकूल घटता बढ़ता रहा और अन्त में १९५० में संरक्षण बिल्कुल हटा लिया गया। इस संरक्षण से विदेशी प्रतिस्पर्धा का अन्त हो गया तथा उद्योग को अपना विकास करने का अवसर मिल गया। संरक्षण द्वारा नवीन चेतना एवं स्फूर्ति प्राप्त करके यह उद्योग क्रमश प्रगति की ओर शीघ्रता से बढ़ने लगा जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट होता है—

वर्ष	चीनी के कारखाने	उत्पादन (हजार टन में)	आयात (हजार टनों में)
१९३१-३२	३१	१५८	५८६
१९३४-३५	१२८	५७८	३८१
१९३६-३७	१३७	९१९	१४२
१९३९-४०	१४५	१२०७	६६

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि चीनी उद्योग की प्रगति संरक्षण की ही प्रगति है जिसने न केवल देश को चीनी के मामलों में आत्म निर्भर बना दिया, वरन् प्रतिवर्ष जो देश में आयात करने में १६ करोड़ रुपये की बहुमूल्य विदेशी विनिमय व्यय होती थी, वह भी बन्द हो गई। सन् १९३७ में आन्तरिक प्रतिस्पर्धा तथा उत्पादनाधिक्य से उत्पन्न होनेवाली समस्याओं के हल करने के उद्देश्य से "भारतीय चीनी सिन्डीकेट" (Sugar Syndicate) की स्थापना की गई। इसके अतिरिक्त उत्तर प्रदेश तथा बिहार सरकार ने चीनी नियन्त्रण अधिनियम पास किया जिसके अनुसार कोई भी नया कारखाना बिना सरकार के लाइसेंस के प्राप्त किये हुए नहीं खोला जा सकता था। इस उद्योग पर आवश्यक नियन्त्रण रखने के लिए सन् १९४० में चीनी आयोग की भी नियुक्ति की गई।

द्वितीय महायुद्ध एवं उसके उपरान्त

द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने के समय चीनी उद्योग में अति उत्पादन की समस्या वर्तमान थी। युद्ध प्रारम्भ होने पर उत्तर प्रदेश तथा बिहार सरकारों ने चीनी के उत्पादन को नियन्त्रित करने के लिए प्रत्येक कारखाने का उत्पादन कोटा निर्धारित कर दिया। फलतः उत्पादन कम हो गया। युद्ध के कारण चीनी की माँग में भी वृद्धि हुई। सरकार ने गन्ने के दाम ऊँचे नियत किये तथा उत्पादन कर में भी वृद्धि कर दी। चीनी सिंडीकेट ने भी अधिक लाभ कमाने की इच्छा से प्रेरित होकर मूल्य को ऊँचा ही रखा। परिणामस्वरूप मूल्यों के अधिक होने के साथ ही साथ सन् १९४२ में चीनी का घोर अभाव हो गया। सरकार ने चीनी के मूल्यों एवं उसके वितरण पर नियन्त्रण लगा दिया। वितरण के लिए शहरों में राशनिंग लागू कर दी गई। सन् १९४४-४५ में देश में चीनी के उत्पादन में और भी गिरावट हुई।

इसके मुख्य कारण थे गन्ने के उत्पादन में कमी तथा मशीनों के घिसावट के कारण उत्पादन क्षमता में ह्रास। सन् १९४७ में विभाजन के फलस्वरूप और भी उत्पादन घट गया जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट होता है—

वर्ष	उत्पादन (लाख टन में)
१९४२-४३	१०·५२
१९४३-४४	१२·०१
१९४४-४५	६·४२
१९४५-४६	६·२३
१९४६-४७	६·०१

राशनिंग के कारण युद्ध काल में प्रायः सभी वर्ग के लोग चीनी के उपभोग के आदी पड़ गये थे। जनसंख्या में वृद्धि होने के कारण भी उपभोग की मात्रा बढ़ गई थी। दिसम्बर १९४७ से चीनी पर नियन्त्रण भी उठा लिया गया था। परिणाम-स्वरूप उत्पादकों को मुँह माँगा मूल्य माँगने का सुअवसर मिल गया। चीनी के अभाव का रूप अत्यन्त भीषण हो गया। चोर बाजारी तथा संग्रह आदि समाज विरोधी प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव हुआ। परन्तु नियन्त्रण हट जाने तथा अधिक लाभ होने के कारण सन् १९४८ से उत्पादन में वृद्धि प्रारम्भ हुई। सन् १९४९-५० में कुल उत्पादन ११,५४,००० टन तक पहुँच गया और १९५०-५१ में बढ़कर १२,०४,००० टन हो गया। गुड़ की खपत बढ़ने के कारण उपलब्ध गन्नों का बहुत बड़ा भाग गुड़ निर्माण की ओर जाने लगा था। इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए सरकार ने सन् १९५० में "चीनी एवं गुड़ नियन्त्रण आदेश" द्वारा चीनी एवं गुड़ की अधिकतम कीमतें निश्चित कीं, जिसकी सिफारिश टैरिफ बोर्ड द्वारा की गई थी। इस आदेश के कारण गुड़ उद्योग की गन्ने के लिए अधिक कीमत देने की प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति कम हो गई और चीनी का उत्पादन बढ़ने लगा। इसके अतिरिक्त सन् १९५०-५१ में भारत सरकार ने "फ्री सुगर" नामक एक योजना को चालू किया जिसके अनुसार प्रत्येक कारखाना अपना अधिकतम कोटा उत्पन्न करने के उपरान्त अपनी फालतू चीनी को खुले बाजार में बेचने के लिए स्वतन्त्र था। इससे उत्पादकों को और भी प्रोत्साहन

१ लाख २० हजार रुपये होगी जिसमें से सरकार स्वयं दो तिहाई रुपया देगी तथा शेष ४० हजार रुपया गन्ना उत्पादक देंगे। ये तीनों मिलें क्रमशः बीसलपुर (पीलीभीत) बुढ़ाना (मुजफ्फर नगर) तथा देवकाली (गाजीपुर) में खोली जा रही हैं। आशा है निकट भविष्य में ही इनमें चीनी बनने लगेगी। प्रत्येक मिल में प्रतिदिन १ हजार मन गन्ना पेरा जायगा। सहकारी मिलों को प्रोत्साहन देने के लिए यह भी निश्चय किया गया है कि इन मिलों से न तो गन्ने का उप कर लिया जाय और न उत्पादन कर लिया जाय।

वर्तमान समस्याएँ

(क) गन्ने का अभाव एवं निम्न कोटि—गन्ने की पूर्ति का अभाव उद्योग के समक्ष एक बड़ी गम्भीर समस्या है। यद्यपि गत दो वर्षों में गन्ने की उपज बढ़ाने के लिए कृषि क्षेत्र बढ़ाया गया, परन्तु प्रति एकड़ गन्ने की उपज में वृद्धि सम्भव नहीं हो सकी। मात्रा कम होने के साथ ही साथ गन्ने की किस्म भी अच्छी नहीं होती जिसके कारण प्रति मन गन्ने से बनाई जा सकने वाली चीनी का अनुपात अन्य देशों की अपेक्षा बहुत कम है जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट होता है—

देश	गन्ने का प्रति एकड़ उत्पादन (मन)	गन्ने में चीनी का अनुपात (प्रतिशत)
क्यूबा	४६५.६	१२.२५
हवाई द्वीप	१६९८.६	१०.४६
मिस्र	८२७.६	६.६७
जावा	१५३०.०	११.४६
जापान	७३६.३	१२.६३
भारत	३६६.८	६.५०

यह कम उपज मुख्यतः भूमि के उपविभाजन एवं उपखण्डन के कारण है। इसके अतिरिक्त उत्तम खाद एवं बीज का प्रयोग भी कृषक निर्धनता के कारण नहीं कर पाते हैं। इसके अतिरिक्त हमारे चीनी मिल वर्ष में केवल ४ या ५ महीने ही उत्पादन करते हैं, क्योंकि अधिकांश में वर्ष के एक ही भाग में गन्ना पक कर तैयार

होता है। इसके कारण खर्चों में और भी वृद्धि हो जाती है। इसके अतिरिक्त गन्ने के मूल्यों की समस्या भी एक कठिनाई उपस्थित करती है। चीनी मिल के मालिकों का कथन है कि गन्ने के भाव ऊँचे हैं तथा इन भावोंपर उद्योग को कुछ भी बचत नहीं होती है। इसके विपरीत किसानों का मत है कि गन्ने के मूल्य बहुत कम हैं। इसी विषय पर १९५३ ५४ में उत्तर प्रदेश में गन्ना उत्पादन करने वालों का एक आन्दोलन भी चल चुका है। इसमें सन्देह नहीं कि यदि चीनी मिलों क स्वय अपने खेत हों तो वे उत्पादन व्यय कम करने में बहुत कुछ सफल हो सक्ते हैं। गन्ने के मूल्यों के सम्बन्ध में एक कठिनाई और भी है और वह यह है कि भारत में गन्ने का मूल्य केवल तौल के आधार पर प्रतिमन या प्रति टन के हिसाब में तय किया जाता है, गन्ने की किस्म कैसी ही क्यों न हो। ऐसी दशा में अगर गन्ने की किस्म खराब है तो मालिकों को नुक्सान उठाना पड़ता है। सन् १९५४ ई० में 'चीनी विकास परिषद' ने भी यह सिफारिश की थी कि गन्ने के भावों को उसकी किस्म के अनुसार निर्धारित करने के लिए एक समिति की स्थापना की जानी चाहिए जिसमे कृषकों तथा मालिकों के प्रतिनिधि सम्मिलित हों। इस समिति की अब स्थापना की जा चुकी है। किस्म के अनुसार मूल्य निर्धारित किये जाने पर कृषक को भी अच्छी नस्ल का गन्ना उत्पादन करने की प्रेरणा मिलेगी और मालिकों का भी नुक्सान नहीं हो पायगा।

करों में उत्तरोत्तर वृद्धि की समस्या भी उद्योग के सम्मुख है जिसके कारण चीनी के मूल्य गिरने के बजाय बढ़ते जा रहे हैं। कई प्रकार के कर जैसे एक्साइज ड्यूटी, केन सेस, सहकारी समिति कमीशन इत्यादि उद्योग पर लाद दिये गए हैं। यही नहीं वे कर जो उद्योग के विकास के उद्देश्य से लिए जाते हैं उनका ठीक प्रकार व्यय भी नहीं होता है। १९४४ से लेकर १९५२ तक उत्तर प्रदेश और बिहार की सरकारों ने ३४३ लाख रुपया केन सेस से वसूल किया परन्तु केवल ५६ लाख रुपया ही गन्ने की उपज और किस्म आदि के सुधार में लगाया गया और शेष अन्य मदों पर जो सर्वथा अनुचित है।

उपर्युक्त बातों के कारण ही भारत में चीनी का उत्पादन व्यय बहुत अधिक हो जाता है और यह उद्योग विदेशी बाजारों में माल बेचने में असमर्थ हो जाता है। चीनी निर्यात बढ़ाने क लिए केन्द्रीय सरकार ने चीनी निर्यात समिति की नियुक्ति की थी। समिति की रिपोर्ट के अनुसार भारतीय चीनी की कीमत जहाँ २८३ रुपये प्रतिमन है, वहाँ विदेशी चीनी की कीमत २१ से २३ रुपये प्रतिमन है।

(ख) अभिनवीकरण की समस्या—इस उद्योग के लिए आवश्यक यान्त्रिक भागों का आयात विदेशों से होता है। गत ५ वर्षों में लगभग ४ करोड़ रुपये क वल पुर्जे (Spare parts) का आयात किया जा चुका है। अधिकतर मिलों में प्रयोग की

चाने वाली मशीनें पुरातनवादी एव घिसी पिटी हैं। अत उद्योग की उत्पादन-क्षमता बढ़ाने के लिए एव उत्पादन व्यय कम करने के लिये इन मशीनों का आधुनिकीकरण नितात आवश्यक है। विदेशों पर मशीनों की निर्भरता के कारण ही यह उद्योग अभिनवीकरण की योजनाओं को कार्यान्वित करने में अपने को असमर्थ पाता है।

(ग) स्थिति की समस्या—चीनी उद्योग का विस्तार मुख्यत उत्तरी भारत में ही हुआ है। विशेष रूप से अधिकाश चीनी मिल उत्तर प्रदेश तथा बिहार में ही केन्द्रित हैं। मद्रास में जहाँ पर्याप्त गन्ना उत्पन्न होता है केवल १६ कारखाने हैं जबकि उत्तर प्रदेश में ७२ और बिहार में ३० हैं। उत्तर प्रदेश तथा बिहार गन्ने की पर्याप्त पूर्ति भी नहीं कर पाते, अत इन्हीं राज्यों में इस उद्योग का केन्द्रित होना किसी विशेष आर्थिक कारणवश नहीं है। यह सिद्ध हो चुका है कि दक्षिणी भारत में विषवत रेखा के समीप होने के कारण गन्ने की प्रति एकड़ उपज और रस दोनों ही अधिक होते हैं। एक ही स्थान पर केन्द्रित होने के कारण इनमें पारस्परिक प्रतिस्पर्धा भी होने लगती है। अत पारस्परिक स्पर्धा का अन्त करने के लिए तथा आर्थिक दृष्टिकोण से चीनी उद्योग का विकेन्द्रीकरण अत्यन्त आवश्यक है। ऐसा करने पर ही इस उद्योग का पर्याप्त विकास सम्भव हो सकता है।

(घ) ईंधन की समस्या—ईंधन के उपयोग में मितव्ययिता से चीनी का उत्पादन व्यय कम होगा और उसके मूल्य कम हो जायेंगे। अभी आमतौर पर गन्ने का छिलका ईंधन के लिए उपयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त कोयला तथा लकड़ी का भी प्रयोग किया जाता है। जहा तक गन्ने के छिलके का सवाल है उसकी आवश्यकता कागज तथा गत्ता बनाने के लिए भी पड़ती है। अत इस छिलके की माग कागज के कारखानों द्वारा भी होती है और इसका अधिक मूल्य उनसे प्राप्त किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में छिलके का उपयोग ईंधन के रूप में हितकर नहीं होता। इसलिए ईंधन तथा वाष्प के उपयोग में मितव्ययिता करने की भी अत्यन्त आवश्यकता है।

(ङ) गुड़ एव खाण्डसारी चीनी की स्पर्धा—चीनी उद्योग को पारस्परिक स्पर्धा के अतिरिक्त गुड़ एव खाण्डसारी से भी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है। चीनी के मूल्यों का निर्धारण करते समय सरकार चीनी के सभी कारखानों के उत्पादन व्यय को ध्यान में रखकर ही मूल्य निर्धारित करती है। यदि इसी तरह चीनी, गुड़ एव खाडसारी का उचित मूल्य निर्धारित किया जाय तो इन तीनों ही उद्योगों में परस्पर आर्थिक सतुलन स्थापित हो जायगा और वे एक-दूसरे के प्रतियोगी न रह कर सहयोगी बन सकेंगे।

उपसंहार

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वर्तमान समय में उद्योग के सम्मुख कुछ कठिनाइयाँ विद्यमान हैं जिनके कारण इस उद्योग के प्रगति का मार्ग अवरुद्ध है। देश में चीनी उद्योग के विकास के लिए किसी भी योजना में केवल आन्तरिक माँग को ही ध्यान में रखकर निर्यात की ओर भी दृष्टि रखना अत्यन्त आवश्यक है। इस दृष्टि से भारतीय चीनी का उत्पादन-व्यय कम करने के साथ साथ किस्म में भी सुधार करना आवश्यक है। भारतीय चीनी के दाने बहुधा छोटे, मैले और विभिन्न आकार के होते हैं, जबकि विदेशी चीनी श्वेत व चमकीले दानों की होती है। चीनी बनाने की पद्धति में सुधार करने के अतिरिक्त चीनी कारखानों के मालिकों, श्रमिकों तथा गन्ना उत्पादन करने वाले कृषकों के बीच उचित समन्वय स्थापित करना भी अत्यन्त आवश्यक है। बिना इन सभी के पारस्परिक सहयोग के चीनी उद्योग का उचित दिशा में विकास कदाचित् सम्भव न हो सकगा। इस दिशा में सहकारी मिलों की स्थापना भी काफी सहायक सिद्ध हो सकती है जैसे कि द्वितीय आयोजन में सिफारिश की गई है। हर्ष का विषय है कि हमारी राष्ट्रीय सरकार उद्योग की उपर्युक्त कठिनाइयों के प्रति पूर्ण रूप से जागरूक है और उनके निराकरण के प्रयत्न में सलग्न है। विकेन्द्रीकरण के लिए सरकार द्वारा आवश्यक कदम उठाया जा चुका है तथा सहकारी आधार पर चीनी के कारखाने खोलने के लिए विशेष सुविधायें प्रदान की जा रही हैं। सरकार अनुसधान कार्यों में भी विशेष रुचि ले रही है। अभी भारत में चीनी की प्रति व्यक्ति वार्षिक खपत केवल ७ पौण्ड तथा खाडसारी की २४ पौण्ड है, परन्तु भारतवासियों की आय तथा रहन सहन के स्तर में वृद्धि के साथ-साथ चीनी की खपत में वृद्धि होना स्वाभाविक ही है। अत. भविष्य में इस उद्योग की और भी विस्तृत होने की आशा है। भारत ने १९५६ ५७ में २ लाख टन चीनी का निर्यात किया था। उद्योगपतियों तथा सरकार के भगीरथ प्रयत्नों के फलस्वरूप चीनी उद्योग का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल दृष्टिगोचर हो रहा है। इस पर कर का बोझ अधिक है। इसमें संदेह नहीं कि अगर इस उद्योग की मौजूदा कठिनाइयाँ और बाधाएँ कुछ कम कर दी जायँ तो यह भारत की अर्थव्यवस्था को और अधिक स्थायी बनाने में योग दे सकता है।

पंचम खण्ड

"विविध"

(१) भारतीय राज्यकोषीय नीति

(२) भारत की नवीन औद्योगिक नीति

२७

भारतीय-राज्यकोषीय-नीति

(Indian Fiscal Policy)

"A backward country full of poverty and miseries, but wishful of developing her industries for eradicating the evils of early deaths and diseases, is the one which badly requires the policy of protection"

हमारे देश में १६वीं शताब्दी के अन्तिम दस वर्षों तक भारत सरकार ने स्वतन्त्र व्यापार नीति का अनुसरण किया, और किसी प्रकार की राज्यकोषीय नीति का अनुसरण नहीं किया। इसका केवल यही कारण था कि स्वतन्त्र व्यापार नीति से इङ्गलैण्ड को लाभ था। वे अपने देश के बने हुए माल को बेचते थे और हमारे देश से कच्चा माल अपने देश को ले जाते थे। स्वतन्त्र व्यापार नीति का परिणाम यह हुआ कि हमारे देश की औद्योगिक उन्नति न हो सकी। तत्कालीन अर्थशास्त्रियों ने जिसमें (Fredric List) फ्रेडरिक लिस्ट, कैरे, मार्शल एवं पीगू मुख्य हैं, यह स्पष्ट घोषणा की कि बिना राज्य के संरक्षण के कोई भी देश औद्योगिक उन्नति नहीं कर सकता। उनके मत से एक पिछड़े हुए देश में, जिसमें कि निर्धनता एवं दरिद्रता का बोलबाला हो, औद्योगिक रक्षात्मक नीति का होना आवश्यक ही नहीं वरन् अनिवार्य है। मुख्यता हमारा देश पिछड़े हुए देशों में से एक है जहां पर प्राकृतिक साधनों की समृद्धि होते हुए भी उनके विकसित न होने के कारण निर्धनता का साम्राज्य है। इसी कारण औद्योगिक विकास भी नहीं हो सका है। औद्योगिक उन्नति प्राकृतिक साधनों के पूर्ण विकास तथा आयात एवं निर्यात की सुदृढ़ नीति के बिना नहीं हो सकती। अतः राज्य कोषीय नीति के अन्तर्गत इस प्रकार की तटकर नीति की आवश्यकता अनुभव की गई जिसका उद्देश्य आयात एवं निर्यात पर नियन्त्रण करके तथा निर्बल एवं नवीन उद्योगों की रक्षा करके औद्योगिक विकास सम्भव हो सके।

राज्यकोषीय नीति की आवश्यकता एवं महत्व ने सरकार का ध्यान प्रथम महायुद्ध के समय आकर्षित किया। सन् १६१६ में औद्योगिक आयोग की स्थापना हुई जिसने सन् १६१८ ई० में अपनी रिपोर्ट में भारत के औद्योगीकरण के लिए

उत्तम सुझाव दिये। युद्ध के उपरान्त देश में महत्वपूर्ण राजनैतिक परिवर्तन हुए और जनता ने जोरदार आवाज से देश के औद्योगीकरण की माँग की। सन् १६१७ में इग्लैंड की पार्लियामेन्ट ने यह स्वीकार किया कि भारतवर्ष को कुछ राजनैतिक अधिकारों के प्रदान करने के साथ ही साथ राज्यकोषीय स्वन्त्रता भी प्रदान की जाय। अत सन् १६१६ में राज्यकोषीय स्वात्य सभा (Fiscal Autonomy Convention) की स्थापना की गई। इसी काल से भारत की राज्यकोषीय नीति का प्रादुर्भाव हुआ।

राज्यकोषीय आयोग सन् १६२१

सन् १६२१ में प्रथम राज्यकोषीय आयोग की स्थापना की गई। इस आयोग को यह अधिकार दिया गया कि वह देश की तटकर नीति को निर्धारित करे। इस आयोग ने उद्योगों के सरक्षण की सिफारिश की और पक्षपातपूर्ण सरक्षण (Discriminating Protection) की नीति को अपनाने के लिए कहा। कमीशन ने उन सभी उद्योगों का सरक्षण देने की सिफारिश की जो निम्नलिखित तीन शर्तें पूरी करते हों। यह तीनों सिद्धान्त भारत की राज्यकोषीय नीति के इतिहास में ट्रिपिल फारमूला (Triple Formula) के नाम से विख्यात हैं। इनके अनुसार सरक्षण प्राप्त का अधिकारी उद्योग,

(क) ऐसा होना चाहिए जिसके लिए देश में प्रचुर मात्रा में प्राकृतिक साधन, कच्चा माल, श्रमिक और शक्ति के साधन प्राप्त हों,

(ख) ऐसा होना चाहिए जो बिना सरक्षण के विकसित नहीं हो सकता हो और उसकी उन्नति देश के लिए आवश्यक हो,

(ग) ऐसा होना चाहिए जो अन्त में जाकर बिना सरक्षण के भी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता में ठहर सके।

उपरोक्त सिद्धान्तों के अलावा आयोग ने उद्योगों के विकास के लिए कच्चे माल तथा मशीनों की प्राप्ति के विषय में भी अच्छे सुझाव दिये और तटकर नीति को निर्धारित करते समय इस बात का ध्यान रखा कि सरक्षण के फलस्वरूप वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि अधिक न हो। इस प्रकार विवेकात्मक सरक्षण नीति अपनाये जाने का सुझाव इस कमीशन ने दिया। उपर्युक्त सभी सुझावों को सरकार ने मान लिया।

तटकर बोर्ड सन् १६२३ की स्थापना तथा उसके कार्य

आयोग की सिफारिशों के अनुसार फरवरी १६२३ में हमारे देश में प्रथम तटकर बोर्ड की स्थापना की गई। यह बोर्ड अस्थायी था और इसकी नियुक्ति केवल एक वर्ष के लिए की गई थी। आगे चलकर कई वर्षों तक इसकी अवधि बढ़ा दी

गई । इस तटकर बोर्ड ने सरक्षण देने के दृष्टिकोण से बहुत-से उद्योगों की जाँच की और इसकी सिफारिश पर लोहा तथा इस्पात, सूती वस्त्र उद्योग, कागज, दियासलाई, शक्कर तथा रासायनिक उद्योगों को सरक्षण प्रदान किया गया । इस बोर्ड ने उस समय सीमेंट, कोयला तथा ऊनी वस्त्र उद्योगों को सरक्षण देना स्वीकार नहीं किया ।

विवेकात्मक (Discriminating) सरक्षण नीति का आलोचनात्मक अध्ययन

विवेकात्मक सरक्षण नीति का मूल उद्देश्य वास्तव में यह नहीं था कि भारत का औद्योगिक विकास दृढ़ आधार पर हो क्योंकि ऐसा करने पर कदाचित इङ्गलैंड के उद्योगों को काफी क्षति होने की सम्भावना थी । अँग्रेजों से भला ऐसी आशा कैसे की जा सकती थी कि वे अपने देश के उद्योगों की बलि दे दें । भारत ही इङ्गलैंड का प्रमुख बाजार था और वे किसी भी दशा में इसको खो नहीं सकते थे । परन्तु दूसरी ओर भारत की जनता के असतोष की भावना को भी नष्ट करना था । भारतीय जनता शाही अधिमान (Imperial Preference) के भी विरुद्ध थी । फलस्वरूप हमारे कुशल अंग्रेज राजनितिज्ञों ने विवेकात्मक सरक्षण नीति के रूप में, जिसका मूल उद्देश्य केवल उन उद्योगों को सरक्षण प्रदान करना था जिनसे ब्रिटिश उद्योगों को कुछ भी क्षति न हो, शाही अधिमान को ही परिवर्तित रूप में भारतीय जनता पर लाद दिया । तटकर आयोग के शब्दों से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है—

"Unless U K maintains its export trade, heart of the empire will weaken and this is a contingency to which no part of empire can be indifferent "

वास्तव में सरक्षण प्राप्त करने के लिए जो शर्तें रक्खी गईं थीं उनसे इस नीति का खोखलापन और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है । सर्वप्रथम शर्त यह थी कि उद्योग को ऐसा होना चाहिए जिसके लिए देश में प्रचुर मात्रा में प्राकृतिक साधन, कच्चा माल तथा शक्ति का साधन उपलब्ध हों । सोचने वाली बात है कि जिस उद्योग को ये सभी सुविधाएँ उपलब्ध हों उसको सरक्षण की क्या आवश्यकता । सरक्षण तो उस उद्योग को चाहिए जो अपने पैरों पर न खड़ा हो सकता हो ।

यह सरक्षण नीति इसलिए भी उचित नहीं कही जा सकती थी क्योंकि इसमें प्रत्येक उद्योग को अलग-अलग सरक्षण प्रदान करने की व्यवस्था थी । भारत की समस्या तो औद्योगिक विकास की समस्या थी, अत सरक्षण नीति का इस प्रकार का होना जिससे सम्पूर्ण राष्ट्र का औद्योगिक विकास सम्भव हो सके, अत्यन्त आवश्यक था । इस नीति से इस उद्देश्य की पूर्ति कदापि नहीं हो सकती थी । ऐसा तटकर आयोग के शब्दों से स्वय ही स्पष्ट हो जाता है—

"संरक्षण को आर्थिक विकास का साधन न समझते हुए उसे केवल ऐसा साधन समझा गया जिससे कुछ उद्योगों को संरक्षण द्वारा विदेशी प्रतियोगिता का सामना करने की शक्ति प्रदान की जाय।"

सरकार द्वारा अस्थायी टटकर बोर्ड की स्थापना भी उचित नहीं कही जा सकती। बोर्ड के सभासदों में समय-समय पर परिवर्तन होने के कारण कोई भी दीर्घकालीन नीति नहीं अपनायी जा सकती थी। सभासदों के स्थायी न होने के कारण राष्ट्र के औद्योगिक क्षेत्र की पूर्ण जानकारी एवं उसके अनुरूप कार्य करना भी अत्यन्त कठिन था।

उपर्युक्त दोषों के अतिरिक्त सबसे बड़ा दोष तो इस नीति का यह था कि इसमें उद्योग विशेष की टटकर बोर्ड द्वारा जाँच हो जाने के बाद ही संरक्षण का प्रश्न उठता था। जाँच करने में समय का अधिक लगना स्वाभाविक ही था। परिणामस्वरूप इस विलम्बकारी नीति से जो संरक्षण मिलता भी था वह बेकार साबित होता था। वास्तव में यह संरक्षण उस प्राणदाता औषधि के समान था जो मृत्यु के उपरान्त प्रयोग में लाई जाती थी।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विवेकात्मक नीति से भारतीय औद्योगिक विकास को बहुत कम प्रोत्साहन प्राप्त हो सका। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि जिन उद्योगों को संरक्षण प्रदान किया गया उनका विकास अवश्य हुआ। भारत के लोहे एवं इस्पात तथा शक्कर उद्योग को प्रगतिशील बनाने का श्रेय संरक्षण को ही है। इतना अवश्य है कि यदि इस प्रकार की विवेकात्मक संरक्षण नीति में कड़ी शर्तें न होतीं तो सम्भवतः देश में आधारभूत उद्योगों का विकास तीव्र गति से होता, परन्तु यह तो साम्राज्यवादी नीति के विरोध में था। अतः इस संरक्षण नीति को उचित कहना नितान्त भ्रमपूर्ण होगा।

द्वितीय महायुद्ध में तथा उसके उपरान्त संरक्षण नीति

सन् १६३६ में द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होते ही, अंग्रेज शासकों को अपना प्रथम महायुद्ध का कटु अनुभव याद हो आया कि भारत का औद्योगिक क्षेत्र में विकसित न होना इङ्गलैंड के लिए अत्यन्त हानिकर सिद्ध होगा। परिणामस्वरूप औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन देने के लिए भारत सरकार ने यह आश्वासन दिया कि युद्धोत्तर काल में वर्तमान उद्योगों तथा युद्धकाल में स्थापित नये उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता का भय होने पर सरकार संरक्षण प्रदान करेगी। कुशल युद्ध सचालन के लिए यह अनिवार्य ही था क्योंकि युद्ध में अंग्रेजों को निम्न अनुभव मिल चुका था—

"उच्च आर्थिक शक्ति एवं विकसित औद्योगिक कलेवर जिस देश में है, केवल वही देश अपनी सुरक्षा अथवा हमला कर सकता है।

अपने युद्धकालीन आश्वासन को पूरा करने के लिए ही, सन् १९४५ में युद्ध के अन्त होते ही भारत सरकार ने अन्तरिम तटकर बोर्ड की स्थापना की।

अन्तरिम तटकर बोर्ड १९४५ की स्थापना व उसके कार्य

२१ अप्रैल सन् १९४५ को सरकार ने संरक्षण नीति की नवीन घोषणा की और इसी वर्ष २ वर्षों के लिए एक अन्तरिम तटकर बोर्ड (Interim Tariff Board) की स्थापना की। इस बोर्ड ने किसी उद्योग के संरक्षण पाने के लिए निम्नलिखित शर्तें रखीं—

(१) यदि उद्योग दृढ़ व्यापारिक नींव पर स्थापित है और अच्छा कार्य कर रहा है।

(२) यदि उद्योग इस प्रकार का है कि जिसे सम्पूर्ण प्राकृतिक एवं आर्थिक उन्नति के साधन प्राप्त हैं, अथवा उद्योग ऐसा है जिसका विकास राष्ट्र के हित में आवश्यक है।

उपरोक्त शर्तों को पूरा करने वाले समस्त उद्योगों को पूर्ण संरक्षण प्रदान करने की नीति अपनायी गई। ४६ उद्योगों ने संरक्षण प्राप्त करने की प्रार्थना की जिनमें से ४२ उद्योगों को संरक्षण दिया गया। अस्थायी होने के कारण अन्तरिम तटकर बोर्ड अपना कार्य सुचारु रूप से न कर सका। अतः सन् १९४७ में इसका पुनर्निर्माण किया गया और इसका कार्यक्षेत्र बढ़ा दिया गया। इस समिति ने नये तथा पूर्व स्थापित उद्योगों की जाँच की तथा चीनी, लोहा एवं इस्पात, सूती वस्त्र उद्योग, कागज, तथा चाँदी के तार और मैग्नेशियम क्लोराईट ६ उद्योगों के संरक्षण समाप्त करने का तथा अन्य २४ उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने की सिफारिश की। सन् १९४८ में भारत ने अपनी नवीन औद्योगिक नीति की घोषणा की, इसलिए भारतीय राज्यकोषीय नीति को इसके अनुरूप बनाने की आवश्यकता हुई। परिणाम स्वरूप सरकार ने सन् १९४९ में एक राज्यकोषीय आयोग की स्थापना की।

राज्यकोषीय आयोग १९४९ तथा उसके कार्य

स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पश्चात् सन् १९४९ में भारत सरकार ने एक राज्य कोषीय आयोग की स्थापना की और उसके निम्नलिखित कार्य निर्धारित किये गये।

(क) अब तक की संरक्षण नीति की जाँच करना।

(ख) संरक्षण सहायता देने के सम्बन्ध में सरकार को सहायता देना।

(ग) तटकर नीति को कार्य रूप में परिणत करने के लिए एक अच्छी व्यवस्था करने के लिए सलाह देना।

(घ) इस नीति से सम्बन्धित अन्य बातों के विषय में भी उचित सलाह देना।

इस आयोग ने देश की औद्योगिक समस्याओं का अध्ययन किया और सन् १६४६ में अपनी रिपोर्ट सरकार के सामने प्रस्तुत किया। आयोग ने अपनी रिपोर्ट में भारतीय राजकोषीय नीति के निम्न उद्देश्य बतलाये—

(क) बेकारी तथा अर्ध-बेकारी को दूर करना और उत्पादन में वृद्धि करना।

(ख) प्राकृतिक साधनों का पूर्ण विकास करना।

(ग) औद्योगिक शक्ति के साधनों में वृद्धि करना तथा श्रमिकों की दशा में सुधार करना।

(घ) कृषि का सुधार करना जिससे कि उद्योगों के लिए कच्चा माल प्राप्त हो सके।

(ङ) कुटीर एवं छोटे-छोटे उद्योगों तथा बड़े संगठित उद्योगों में सामञ्जस्य उपस्थित करना।

(च) मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के सिद्धान्त (Mixed Economy) के आधार पर देश का औद्योगीकरण करना।

बड़े उद्योगों के क्षेत्र में इस आयोग ने सिफारिश की कि इनको निम्नलिखित वर्गों में विभाजित करना चाहिये—

(क) सुरक्षा सम्बन्धी उद्योग।

(ख) वृहत् बुनियादी उद्योग—जिन पर देश के अन्य उद्योग निर्भर हैं।

(ग) वृहत् बुनियादी उद्योग जो कि उत्पादक मशीनों का निर्माण करते हैं।

(घ) हल्के बुनियादी उद्योग।

(ङ) उपभोग पदार्थ उत्पन्न करने वाले उद्योग।

आयोग ने यह भी बताया कि उपरोक्त सभी प्रकार के उद्योगों का एक साथ विकसित करना सम्भव नहीं। अतः उनके विकास में उन उद्योगों को प्राथमिकता दी जाय जो देश के हित के लिए आवश्यक हैं। इसके अलावा उद्योगों की स्थिति के सम्बन्ध में भी आयोग ने अपने सुझाव दिये। कमीशन ने यह भी बताया कि उद्योगों की संरक्षण नीति का सम्बन्ध देश के सम्पूर्ण आर्थिक विकास से सम्बन्धित कर देना चाहिए। संरक्षण प्रदान करने के लिए कमीशन ने निम्नलिखित सिद्धान्त बताये—

(क) उन सभी उद्योगों को संरक्षण दिया जाय जो एक उचित समय के अन्दर पर्याप्त रूप से विकसित हो सकते हों और भविष्य में बिना संरक्षण के भी चल सकते हों।

(ख) उन उद्योगों को संरक्षण प्रदान करना चाहिये जो राष्ट्र हित में संरक्षण पाने के अधिकारी हैं, तथा जिनके संरक्षण का व्यय भी समाज पर अत्यधिक न पड़े।

संरक्षण प्रदान करने के लिए यह आवश्यक नहीं कि कच्चा माल उसी स्थान

पर मिलता हो। सरक्षित उद्योग से यह आशा करना कि वह देश की सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकेगा, उचित नहीं है। साथ ही आयोग ने सिफारिश की कि जिन उद्योगों को सरक्षण मिलता हो उन पर एक्साइज कर (Excise duty) न लगाया जाना चाहिये जब तक कि बजट को सन्तुलन करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक न हो। कमीशन ने सिफारिश की कि देश के लिए एक स्थायी तटकर कमीशन की आवश्यकता है जो कि अपने कार्य क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्रता से कार्य कर सके।

तटकर कमीशन अधिनियम १६५१

स्थायी तटकर कमीशन की नियुक्ति के लिए भारतीय ससद ने सन् १६५१ ई० में एक अधिनियम बनाया। इस अधिनियम के अनुसार कमीशन के सदस्यों की सख्या तीन या पाँच हो सकती है। इन्हीं में से केन्द्रीय सरकार किसी एक को अध्यक्ष बना सकती है। प्रथमतः कमीशन के सदस्यों की नियुक्ति केवल ३ वर्षों के लिए हो सकती है परन्तु पुन. वे तीन वर्षों के लिए नियुक्त किये जा सकते हैं। कमीशन के कार्य से हटने के पश्चात् कोई भी सदस्य सरकारी आज्ञा के बिना तीन वर्षों तक किसी भी उद्योग में नौकरी नहीं कर सकता है।

कमीशन के कर्त्तव्य

(क) किसी भी भारतीय उद्योग को सरक्षण प्रदान करना।

(ख) सरक्षण सम्बन्धी करों में परिवर्तन करना।

(ग) सस्ते मूल्यों पर विदेशी आयात पर नियन्त्रण लगाना।

(घ) सरक्षण से अनुचित लाभ उठाने वाले तथा राष्ट्र अहितकारी कार्य करने वाले उद्योगों के विरुद्ध उचित कार्यवाही करना।

(ङ) मूल्य स्तर, जनता के रहन सहन के स्तर तथा राष्ट्रीय आर्थिक विकास पर सरक्षण की प्रतिक्रिया का अध्ययन करना।

(च) विदेशी व्यापारिक समझौते के दृष्टिकोण से प्रत्येक उद्योग के सरक्षण के प्रभाव का अध्ययन करना।

(छ) अपने कर्त्तव्य पालन के मार्ग की बाधाओं के निवारण के उपाय करना।

(ज) अधिनियम के अन्तर्गत कार्य करने के लिए कानूनी व अदालती कार्यवाही करने के अधिकार का प्रयोग करना।

(झ) सरक्षण सम्बन्धी विषयों पर केन्द्रीय सरकार को समय समय पर सूचना तथा सलाह देना।

उपरोक्त स्थायी तटकर कमीशन की नियुक्ति से हमारे देश की एक बहुत महत्वपूर्ण आवश्यक माँग की पूर्ति हुई। इसके द्वारा उद्योगों को न्यायपूर्ण सरक्षण

प्रदान किया जा रहा है। तटकर नीति सफलतापूर्वक राष्ट्रीय हित में कार्य कर रही है। सुरक्षित उद्योगों की सूची में दिन प्रतिदिन नये उद्योग सम्मिलित होते चले जा रहे हैं। सन् १९५४ ई० में भारतीय संसद ने भारतीय तटकर अधिनियम (संशोधक) एक्ट पास किया जिसके फलस्वरूप तटकर कमीशन के अधिकार एवं कार्य क्षेत्र और भी प्रशस्त कर दिये गये। इस विधेयक के अन्तर्गत पेंसिलें, पुराने समाचार पत्र, ऊनी धागे, मदिराएँ, थरमस की बोतलें, रेजर ब्लेड इत्यादि पर आयात कर में वृद्धि कर दी गई है। विधेयक में कुछ उद्योगों को संरक्षण जारी रखने की भी बात है जिनमें अल्युमूनियम, विद्युत मोटरें, बिजली का सामान तथा साइक्लि इत्यादि मुख्य हैं।

तटकर कमीशन बड़े उत्साह से एवं सफलतापूर्वक कार्य कर रहा है। इसकी सफलता से प्रोत्साहित होकर द्वितीय पंचवर्षीय योजना में सरकार ने बड़े ऊँचे औद्योगिक उत्पादन लक्ष्य रक्खे हैं। तटकर कमीशन की नीति के फलस्वरूप जहाँ एक ओर देश की औद्योगिक प्रगति निरन्तर हो रही है वहाँ पर साथ ही साथ हमारे आयात में भी पर्याप्त सुधार हुआ है। जहाँ एक ओर उपभोग के पदार्थों के आयात में कमी हुई है वहाँ उत्पादक पदार्थों जैसे मशीनों इत्यादि के आयात में काफी वृद्धि हुई है। सन् १९५४ में ६२० करोड़ रुपये के मूल्य के पदार्थों का आयात किया गया था। सन् १९५६ के अन्त तक ७२० करोड़ रुपए का आयात हुआ। परन्तु साथ ही उपभोग के पदार्थों के आयात में सन् १९५४ के २३० करोड़ रुपए के आयात से घटकर केवल २१० करोड़ रुपयों का आयात हुआ।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना औद्योगीकरण की योजना है। इसके उद्देश्यों की पूर्ति के लिए हमको अरबों की पूँजी चाहिए तथा साथ ही एक सुदृढ़ एवं सङ्गठित राज्यकोषीय नीति की आवश्यकता है। देश के समक्ष विदेशी मुद्रा मुख्यत. डालर पावने की कमी है। इसी कारण से पिछले वर्ष अक्तूबर सन् १९५७ में हमारे केन्द्रीय अर्थ मन्त्री महोदय श्री टी० टी० कृष्णमचारी और सन् १९५८ में हमारे वर्तमान वित्त मन्त्री श्री मोरार जी देसाई अमेरिका तथा योरोपीय देशों का भ्रमण करने गये थे। ऐसी परिस्थितियों में हमारे तटकर कमीशन का उत्तरदायित्व बहुत बढ़ गया है। तटकर कमीशन की सफल नीति एवं कार्यकुशलता पर बहुत कुछ अंश तक हमारी द्वितीय पंचवर्षीय योजना की सफलता निर्भर है। भविष्य कण्टकाकीर्ण है एवं अगाध-कठिनाइयाँ उपस्थित हैं, फिर भी भारत को सदैव का भांति सब शक्तिमान पर भरोसा रखकर 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' (Action is thy duty) के सिद्धान्त पर आरूढ़ होकर आगे बढ़ने का प्रयत्न करता ही जा रहा है। आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि हमारे देश की औद्योगिक उन्नति, नवीन औद्योगिक नीति एवं समयानुकूल तटकर नीति के फलस्वरूप, सर्वोच्च शिखर पर अवश्य पहुँचेगी।

२८

भारत की नवीन औद्योगिक नीति

(The New Industrial Policy of India)

राजनैतिक परतन्त्रता की श्रृङ्खलाओं से मुक्ति पर विदेशी सत्ता से जर्जरित एवं शोषित भारत में पुनर्जीवन प्रदान करने की समस्या का प्रादुर्भाव हुआ। बिना आर्थिक मोक्ष के राजनैतिक स्वतन्त्रता का मूल्य भी कुछ नहीं था। परिणामस्वरूप राष्ट्र की अविकसित अर्थव्यवस्था को उच्च स्तर तक पहुंचाना, जिससे हमारे करोड़ों देशवासियों की उच्च जीवन स्तर प्राप्त करने की आकांक्षा पूर्ण हो सके, नितान्त आवश्यक हो गया। राष्ट्र के औद्योगीकरण के बिना इस समस्या का समाधान कदाचित् असम्भव था। उद्योग धंधे ही किसी राष्ट्र के जीवन हैं। हमारी विदेशी सरकार ने प्रारम्भ से ही मुक्त व्यापार नीति (Laissez Faire) का अनुगमन करके इस बात का प्रयत्न किया कि भारत केवल कच्चे माल का निर्यात करने वाला देश बना रहे तथा यहाँ का औद्योगिक विकास न हो। ऐसी नीति का मानना, भारत जैसा विशाल बाजार इङ्गलैंड के उद्योगों को प्राप्त करने के लिए, आवश्यक ही था। मुक्त व्यापार नीति में ही इङ्गलैंड का वैभव एवं सम्पन्नता निर्भर था। श्री टियर्नें (Shri Tierney) के शब्दों से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है—

"हमारी आर्थिक नीति का यह सामान्य सिद्धान्त है कि इङ्गलैंड का बना हुआ माल भारत में बेचा जाय, जिसके बदले में एक भी भारतीय वस्तु न ली जाय।"

विवेकात्मक संरक्षण नीति (Discriminating Protection Policy) का भी यही उद्देश्य था कि भारत में उन उद्योगों के प्रोत्साहन को बल दिया जाय जिनसे इङ्गलैंड के उद्योगों को कोई भी हानि न हो। इस नीति के परिणामस्वरूप हमारे राष्ट्र के उद्योगों का विकास व्यवस्थित ढंग पर नहीं हो पाया और हम अपने औद्योगिक ढांचे की दृढ़ भित्ति का न्यास करने में असफल रहे। पूर्ण रूपेण संगठित औद्योगिक नीति का अभाव ही हमारे राष्ट्र के औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े होने का मुख्य कारण रहा। फलस्वरूप स्वतन्त्रता प्राप्त करने के उपरान्त राष्ट्र के औद्योगिक विकास को सुदृढ़ आधार पर निर्मित करने के लिए, व्यवस्थित औद्योगिक नीति का

होना प्रथम आवश्यकता थी। समय के साथ-साथ चलने के लिए विश्व में नये परिवर्तनों के अनुरूप ही हमारी औद्योगिक नीति का होना भी आवश्यक था। अब उस समय का अन्त हो चुका था जबकि आर्थिक क्षेत्र में सरकारी हस्तक्षेप अनावश्यक समझा जाता था। जापान में तो आधुनिक औद्योगीकरण के लिए वहाँ की सरकार को "ईश्वरीय पिता" कहकर पुकारा जाता है। इसके अतिरिक्त भारत में शीघ्र औद्योगीकरण को सम्भव बनाने के लिए यह आवश्यक हो गया था कि सरकारी तथा व्यक्तिगत दोनों ही प्रयत्नों को सामूहिक रूप से कार्यान्वित किया जाय। यही कारण था कि हमारे आयोजकों ने सीमित वित्तीय एवं प्राविधिक साधनों के कारण सरकारी तथा निजी क्षेत्र दोनों का पूर्ण उपयोग करना आवश्यक समझा और राष्ट्र की समृद्धि के लिए ऐसा आवश्यक भी था जैसा कि श्री ए० सी० पीगू के शब्दों से स्पष्ट होता है—

"साधारण प्रतिस्पर्धा की दशाओं में भी यदि निजी क्षेत्र को स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय तो भी वितरण के साधन राष्ट्रीय आय के लिए उतने हितकर नहीं होंगे, जितने किसी अन्य वितरण से।"

निजी क्षेत्र तो सदैव व्यक्तिगत लाभ की प्रेरणा से कार्य करता है, अतः राष्ट्र एवं समाज के हित की आशा करना उनसे व्यर्थ है। यही कारण था कि योजना आयोग ने स्पष्ट रूप से कहा कि नियोजित अर्थ व्यवस्था में—

"व्यक्तिगत साहस को अपने कार्य के महत्व को समझकर देश के अधिकतम हित के लिए अनुशासन के नये नियमों को स्वीकार करना होगा। किसी अन्य संस्था की भाँति व्यक्तिगत साहस जिस सीमा तक जनहित की उन्नति के लिए साधक प्रमाणित होंगे वे अपनी न्यायोचितता का परिचय देंगे।"

इस प्रकार देश की वर्तमान परिस्थितियों के अनुसार दोनों क्षेत्रों को देश की अर्थव्यवस्था में साथ साथ मिलकर स्वतन्त्र एवं समृद्ध भारत के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कार्य करना आवश्यक हो गया जिसमें पारस्परिक आदर और सहिष्णुता की भावना हो, तथा इससे भी बढ़कर प्रजातन्त्र एवं प्रजातान्त्रिक जीवन पद्धति में अटल विश्वास हो और जहाँ दलबन्दी, विचारों तथा वर्ग भावना की संकुचितता के लिए कोई स्थान न हो। इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ६ अप्रैल १९४८ को स्वर्गीय डा० श्यामा प्रसाद मुकर्जी ने संसद में औद्योगिक नीति की घोषणा की जिसके अन्तर्गत श्रम, पूँजी तथा साधारण जनता द्वारा देश के शीघ्र औद्योगीकरण की आशा प्रकट की गई थी। इस बात पर जोर दिया गया कि धीरे धीरे सरकार उद्योग धन्धों में सक्रिय भाग लेगी। इस प्रकार वह औद्योगिक नीति मिश्रित अर्थ व्यवस्था पर आधारित थी तथा

सरकारी क्षेत्र सीमित होने के साथ ही-साथ निजी उद्योगों के क्षेत्र में सरकारी हस्तक्षेप न्यूनतम था। इस नीति के अन्तर्गत उद्योगों को ४ भागों में विभाजित किया गया—

(१) नितान्त सरकारी क्षेत्र—सुरक्षा सम्बन्धी उद्योग जैसे युद्ध सामग्री का निर्माण, अणुशक्ति का उत्पादन, तथा रेल यातायात का स्वामित्व एवं प्रबन्ध।

(२) सरकारी नियमन तथा नियंत्रण का क्षेत्र—नमक, मोटरें, ट्रैक्टरों इत्यादि का निर्माण एवं अन्य बुनियादी उद्योग।

(३) निजी साहस के साथ सरकारी नियन्त्रण क्षेत्र—कोयला, लोहा एवं इस्पात, वायुयान तथा जलयान निर्माण इत्यादि।

(४) निजी व्यवसाय का क्षेत्र—उपर्युक्त उद्योगों के अतिरिक्त अन्य उद्योग।

भारतीय औद्योगिक नीति सन् १६४८ ई०

अप्रैल सन् १६४८ ई० में औद्योगिक नीति की घोषणा करते हुए सरकार ने यह बतलाया कि सरकार अस्त्र शस्त्रों एवं अणु शक्ति के उत्पादन तथा रेल एवं सम्वाद वाहक साधनों पर अपना एकाधिकार स्थापित करेगी। आपात्त काल में सरकार देश की सुरक्षा के लिए किसी भी उद्योग पर अपना अधिकार स्थापित कर लेगी। निम्नलिखित ६ उद्योगों में नये कारखाने की स्थापना सरकार के अतिरिक्त और कोई व्यक्ति न कर पायेगा। कोयला, लौह एवं इस्पात, वायुयान निर्माण, जलयान निर्माण, टेलीफोन, टेलीग्राफ, वायरलेस यन्त्र (रेडियो सेट को छोड़कर) और खनिज तेल। सरकार ने उचित मुआविजा देकर जनता के हित में किसी भी उद्योग का राष्ट्रीयकरण करने का अधिकार अपने हाथों में सुरक्षित रक्खा। तत्कालीन बड़े सुसंगठित उद्योगों के विषय में यह निश्चित किया कि इन्हें १० वर्षों तक व्यक्तिगत क्षेत्र में चलने दिया जायगा। १० वर्षों के उपरान्त इन उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करने या न करने की बात पर पुनः विचार किया जायगा। नमक, मोटर व ट्रैक्टर, बिजली, इञ्जीनियरिंग मशीनें एवं पुर्जे, रसायनें, खाद्य और औषधियाँ, सूती और ऊनी वस्त्र, सीमेंट, शक्कर, कागज, वायु और समुद्री यातायात, खनिज तथा शराब उद्योगों पर राजकीय नियंत्रण रक्खा जायगा।

सन् १६५१ में प्रथम पंचवर्षीय योजना देश में लागू की गई और उपरोक्त औद्योगिक नीति के अनुसार राजकीय क्षेत्र में तथा निजी पूँजी क्षेत्र में बहुत से महत्व पूर्ण कारखाने खोले गये।

औद्योगिक नीति सन् १६४८ का आलोचनात्मक अध्ययन—

औद्योगिक नीति मिश्रित आर्थिक नीति के सिद्धान्तों पर आधारित थी। इसका

उद्देश्य मुख्यतः अधिकतम उत्पादन प्राप्त करना था। औद्योगिक नीति का उद्देश्य निजी और सार्वजनिक क्षेत्रों में एक ऐसे सामजस्य को उत्पन्न करना था जिसके अन्तर्गत श्रमिकों की शोषण से रक्षा हो सके, अधिकतम उत्पादन हो और निजी क्षेत्र के उद्योगपतियों के साथ न्यायपूर्ण व्यवहार हो सके। साथ औद्योगिक नीति की आलोचना करते हुए यह कहा जा सकता है कि यह एक ढुलमुल नीति थी और साथ ही साथ अनिश्चित तथा निर्बल भी थी। परन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि हमारा देश इस समय आर्थिक क्रांति की दशा में था जब कि पुराना आर्थिक ढाँचा धीरे धीरे नष्ट होता जा रहा था और उसके स्थान पर नई आर्थिक नीति की स्थापना हो रही थी। ऐसी परिस्थिति म मिश्रित आर्थिक नीति ही सर्वोत्तम कही जा सकती है। औद्योगिक नीति सन् १६४८ की घोषणा के उपरान्त वाम पक्षियों के द्वारा इसकी बड़ी कठोर आलोचना की गई परन्तु पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत औद्योगिक नीति के अनुसार जो सफलताएँ प्राप्त हो गई हैं उनसे ये आलोचनाएँ गलत प्रमाणित हो गई हैं।

उपर्युक्त औद्योगिक नीति के कार्यान्वित किये जाने के उपरान्त देश में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन एव औद्योगिक क्षेत्र में भी नये विकास हुए। इसके साथ-साथ इस नीति के दोष भी सरकार के समक्ष स्पष्ट हुए। उद्योग प्रगति तथा नियन्त्रण कानून १६५१, प्रथम पचवर्षीय योजना का प्रारम्भ तथा अन्त, भारतीय सविधान का निर्माण तथा औद्योगिक नीति के अनुभव ने सरकार को देश में एक नई औद्योगिक नीति को अपनाने के लिए बाध्य कर दिया। आवदी काग्रेस सम्मेलन में भारत के आर्थिक विकास का लक्ष्य 'समाजवाद' रखा गया जिसकी पुष्टि अमृतसर सम्मेलन में की गई। इस सिद्धान्त के अनुरूप भारतीय ससद ने भी 'समाज के समाजवादी आधार' (Socialistic Pattern of Society) को सरकारी सामाजिक तथा आर्थिक नीति का लक्ष्य मान लिया। सरकारी नीति सम्बन्धी निर्देशक सिद्धान्तों में निम्न सिद्धान्त बहुत अधिक महत्वपूर्ण है—

'भौतिक साधनों का स्वामित्व एव नियन्त्रण अधिकतम सामुदायिक समानता लाने के लिए होना तथा अर्थ व्यवस्था का सचालन जन साधारण के हितों के विरुद्ध न हो और न धन एव उत्पादन के साधनों का सीमित क्षेत्र में केन्द्रीयकरण हो।'

भारतीय सविधान, म-न्याय, स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृत्व आदि सिद्धान्तों को मान्यता प्रदान की गई। इन्हीं सभी सिद्धान्तों के आधार पर हमारी द्वितीय पचवर्षीय योजना की रूपरेखा बनाई गई। अतः द्वितीय पचवर्षीय योजना के आरम्भ तथा उपर्युक्त परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप हमारी औद्योगिक नीति का होना आवश्यक

हो गया। फलस्वरूप सन् १९५६ में हमारी राष्ट्रीय सरकार ने नवीन औद्योगिक नीति की घोषणा की। प्रथम औद्योगिक नीति का अनुभव उद्योग तथा वाणिज्य मन्त्री महोदय के शब्दों में इस प्रकार था—

'लगभग ८० प्रतिशत उद्योग धन्धे जिनसे मेरा सम्पर्क रहा है, उनमें निजी क्षेत्र देश की बढी हुई माँग की पूर्ति करने में असमर्थ रहा। वास्तविकता तो यह है कि उसने वृद्धि की ओर ध्यान ही नहीं दिया।'

अतः नवीन औद्योगिक नीति का मूल उद्देश्य यह रखा गया कि—

'नये उद्योग धन्धे स्थापित करने में तथा यातायात सुविधाओं के प्रसार करने में ताकि आर्थिक विषमताएँ दूर हो सकें और आर्थिक शक्ति का कुछ हाथों में ही संचय न हो, सरकार स्वयं ही धीरे धीरे अपने कन्धों पर यह उत्तर दायित्व ग्रहण करेगी।'

नवीन औद्योगिक नीति सन् १९५६

प्रथम पंचवर्षीय आयोजन काल में प्राप्त अनुभवों के आधार पर हमारी सरकार ने ३० अप्रैल सन् १९५६ को नवीन औद्योगिक नीति की घोषणा की है। इस नवीन औद्योगिक नीति का सैद्धान्तिक आधार मिश्रित आर्थिक नीति ही है परन्तु आवश्यकता के अनुसार महत्वपूर्ण परिवर्तन कर दिये गये हैं। इस नवीन नीति के अनुसार देश के भावी औद्योगिक विकास में राज्य का उत्तरदायित्व दिन पर दिन बढ़ता जायगा और बहुत से आधारभूत उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया जायेगा तथा नये आधारभूत उद्योग राज्य द्वारा ही खोले जायगे। इस प्रकार सार्वजनिक क्षेत्र का उत्तरोत्तर विकास किया जायगा। कुछ उद्योगों को वैयक्तिक क्षेत्र (Private Sector) में भी रखा गया है जिससे वैयक्तिक प्रयास भी देश के औद्योगिक विकास में अपना सहयोग दे सकें। इस नवीन औद्योगिक नीति के अनुसार देश में ३ औद्योगिक क्षेत्र बनाये गये हैं जो निम्नलिखित हैं—

(१) सरकारी एकाधिकार क्षेत्र

(२) मिश्रित क्षेत्र

(३) निजी क्षेत्र

(१) सरकारी एकाधिकार क्षेत्र—इस क्षेत्र में तीन प्रकार के उद्योग रखे गये हैं—(क) सुरक्षा सम्बन्धी उद्योग, (ख) बड़े महत्वपूर्ण उद्योग जैसे अणु शक्ति, भारी मशीन निर्माण, भारी बिजली की मशीनें, भारी कास्टिंग, कोयला एवं लिगनाइट, खनिज, तेल इत्यादि, (ग) यातायात तथा सम्वाद वाहक उद्योग जैसे वायुयान, रेल तथा जलपोत निर्माण उद्योग, टेलीफोन तथा बिजली का उत्पादन तथा वितरण आदि। इस प्रकार इस श्रेणी में कुल १७ उद्योग रखे गये हैं।

(२) मिश्रित क्षेत्र—इस क्षेत्र में १२ उद्योग रखे गये हैं। इनमें राज्य तथा वैयक्तिक प्रयास दोनों ही सम्मिलित होंगे अर्थात् जिनकी स्थापना राज्य के द्वारा होगी और उनमें वैयक्तिक प्रयास भी सहयोग देंगे। ये उद्योग इस प्रकार हैं—

अन्य सभी प्रकार के खनिज (छोटे खनिजों को छोड़कर) जिनको सरकारी क्षेत्र में नहीं रखा गया, अल्यूमीनियम, मशीन एवं औजार, फैरो एलाय तथा यन्त्र बनाने का इस्पात, रसायनिक उद्योगों में प्रयोग में आने वाले पदार्थ, रङ्ग, प्लास्टिक, आवश्यक औषधियाँ, रसायनिक खादें, लुगदी, सड़क एवं जल यातायात।

(३) निजी क्षेत्र—उपर्युक्त सभी उद्योगों के अतिरिक्त सभी उद्योग निजी क्षेत्र में होंगे और ये सभी वैयक्तिक पूँजीपतियों के अधिकार में रहेंगे। इसमें मुख्य रूप से शक्कर, वस्त्र, सीमेंट इत्यादि उद्योग हैं।

अब तक जो भारी एवं आधारभूत उद्योग वैयक्तिक प्रयास के अन्तर्गत हैं, वे बने रहेंगे किन्तु जो नये भारी कारखाने खोले जायेंगे, उन्हें सरकार खोलेगी। निजी क्षेत्र में भी सरकार को यह अधिकार होगा कि वह इस क्षेत्र में भी अपने उद्योग स्थापित कर सके।

नवीन औद्योगिक नीति के अन्तर्गत निजी क्षेत्र में कुटीर तथा लघु उद्योगों के विकास के लिए सरकार ने पर्याप्त सहायता देने का आश्वासन दिया है। सरकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि औद्योगिक नीति का यह उद्देश्य है कि अपने-अपने क्षेत्र में वृहद्स्तरीय तथा लघु एवं कुटीर उद्योग दोनों का पूर्ण विकास हो तथा ये दोनों ही एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी न होकर एक दूसरे के पूरक हों। सरकारी नीति के अनुसार लघुस्तरीय तथा कुटीर उद्योग वृहद्स्तरीय उद्योग के लिये नींव का काम करेंगे तथा देश के उपभोग के लिए पर्याप्त पदार्थ उत्पादित कर सकेंगे तथा वृहदस्तरीय उद्योग अपने उत्पादन का अधिकतम भाग विदेशी बाजारों के लिए निर्मित करेंगे। इसके अतिरिक्त सरकार ने घोषित किया है कि नवीन औद्योगिक नीति सन् १९५६ के अनुसार उपभोग सामग्री बनाने वाले जैसे शक्कर तथा वस्त्र उद्योग जोकि सम्मिलित क्षेत्र के अन्तर्गत हैं वे सरकार की सहायता एवं प्रेरणा से सहकारिता के सिद्धान्तों पर सगठित किये जायेंगे। सर्वप्रथम सरकार ने शक्कर मिलों को सहकारी समितियों के प्रबन्ध एवं नियन्त्रण में स्थापित करने का निश्चय किया है। यह सरकारी प्रयत्न अभी एक अनुभवात्मक कदम है। यदि यह सफल हुआ तो औद्योगिक नीति के अनुसार मुख्यतः मिश्रित क्षेत्र के उद्योग सहकारी औद्योगिक समितियों के द्वारा ही सचालित किये जायेंगे। नवीन औद्योगिक नीति की घोषणा करते हुए भारत सरकार ने यह स्पष्ट कह दिया है कि सरकार धीरे-धीरे किन्तु दृढ़ता के साथ नवीन उद्योगों की स्थापना एवं सञ्चालन करने तथा यातायात के साधनों का विकास करने के उत्तरदायित्व को अपने ही कन्धों पर

अधिकाधिक रखना चाहती है जिससे कि आर्थिक विषमता नष्ट की जा सके तथा आर्थिक शक्ति तथा एकाधिकार शक्ति केन्द्रित न हो सके वरन् उसका विकेन्द्रीकरण किया जा सके। इस प्रकार यह नवीन नीति "नई बोतलों में पुरानी शराब" नहीं है, यद्यपि मिश्रित अर्थ व्यवस्था अब भी इसका आधार है। यह निश्चयात्मक अधिक वामपक्षी (लाल) प्रतीत होती है। सन् १९४८ के प्रस्ताव से यह कई बातों में भिन्न है। सबसे महत्वपूर्ण भिन्नता इसके राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध किसी भी प्रकार के आश्वासन का अभाव है। इसके अतिरिक्त सरकारी साहस का क्षेत्र इसमें पहले की अपेक्षा अब अधिक व्यापक कर दिया गया है। यही नहीं दूसरी और तीसरी श्रेणी में वर्णित उद्योगों को भी सरकार अपने स्वामित्व तथा अधिकार में लेने के लिए स्वतन्त्र हो गई है। उक्त प्रस्ताव में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि इस विभाजीकरण का अर्थ यह नहीं है कि उसमें हेरफेर न हो सके। निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्रों के उद्योगों में न केवल एक ही से कामों को दोहराया जाता है, वरन् उनका आपस में जुड़ा रहना भी अनिवार्य है। भारत सरकार ने अपने प्रस्ताव में कुटीर उद्योग, ग्रामोद्योग तथा छोटे पैमाने के उद्योगों के विकास को राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था का महत्वपूर्ण अंग बतलाया है। प्रस्ताव में औद्योगिक सहकारी समितियों तथा श्रम आदि का जो महत्व है, उसका भी स्पष्ट उल्लेख है।

वर्तमान काल में द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना के अन्तर्गत हमारे देश का औद्योगिक विकास इसी नवीन औद्योगिक नीति के अनुसार भारतीय साम्यवादी आर्थिक व्यवस्था के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए हो रहा है।

नवीन औद्योगिक नीति १९५६ का आलोचनात्मक अध्ययन

इस औद्योगिक नीति की कटु आलोचनाएँ भी की गई हैं। कुछ लोगों ने तो इसे पूर्णतया काल्पनिक बतलाया है। मुख्य आलोचनाएँ इस प्रकार हैं—

निजी क्षेत्र की उपेक्षा

नवीन औद्योगिक नीति की आलोचना करते हुए फेडरेशन आफ इण्डियन चैम्बर्स आफ कामर्स की समिति ने कहा है कि यह औद्योगिक नीति निजी क्षेत्र की उपेक्षा करके सरकारी क्षेत्र को आवश्यकता से अधिक प्रोत्साहित करती है, और ऐसा करके यह केवल निजी क्षेत्र के प्रति अन्याय नहीं करती वरन् अधिकतम उत्पादन के उद्देश्य की पूर्ति में बाधा डालने वाली है। वास्तव में देश के प्राकृतिक सुषुप्त साधनों का विकास एवं अधिकतम उत्पादन तथा समृद्धि के लिए निजी क्षेत्र का सहयोग अत्यन्त आवश्यक है तथा इस क्षेत्र को पर्याप्त सरकारी सहायता प्राप्त होने की आवश्यकता है। इस नीति के आलोचकों का कहना है कि प्रथम पञ्चवर्षीय योजना के अन्तर्गत

जो कार्य हुए हैं तथा जो फल प्राप्त हुए हैं उनसे यह निःसंदेह प्रमाणित होता है कि निजी क्षेत्र सरकारी क्षेत्र से कहीं अधिक सफल रहा है। सरकारी क्षेत्र में अनुमानित व्यय के १०१ करोड़ रुपये में से इस क्षेत्र में केवल ५७ करोड़ रुपये का सदुपयोग हो पाया जबकि निजी क्षेत्र के अनुमानित व्यय ३८३ करोड़ रुपये म ३४३ करोड़ रुपये व्यय करके औद्योगिक विकास किया गया। इस प्रकार निजी क्षेत्र सरकारी क्षेत्र की अपेक्षा अधिक सक्रिय रहा है। उत्तम कार्य करने तथा अच्छे फल प्राप्त करने पर भी नवीन औद्योगिक नीति के अन्तर्गत निजी क्षेत्र के प्रति सरकार ने सौतेली माता का सा व्यवहार किया है। यह सर्वथा अनुचित है तथा राष्ट्र हित म एक अच्छा कार्य नहीं है। आलोचकों का मत है कि भारत की प्रमुख समस्या औद्योगिक विकास की है न कि इस बात की कि उसको कौन कार्यान्वित करता है। अतः इस प्रकार के सरकारी तथा वैयक्तिक विभाजन की आवश्यकता ही नहीं थी। दोनों ही को स्वतन्त्र रूप से राष्ट्र के औद्योगिक विकास में सहयोग देने की स्वतन्त्रता अत्यन्त आवश्यक थी जिसकी अवहेलना इस नीति में पूर्णतया की गई है।

यह नीति क्रियात्मक नहीं है

आलोचकों के मत से नवीन औद्योगिक नीति भारी मशीनों के बनाने पर अधिक जोर देती है और यह बात हमारे राष्ट्र पिता महात्मा गांधी के विचारों के प्रतिकूल है। उनका कहना है कि इस औद्योगिक नीति के द्वारा औद्योगिक एवं आर्थिक शक्ति का विकेन्द्रीकरण सम्भव नहीं हो सकता है क्योंकि इसके अनुसार कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हो सकता। हाँ इतना अवश्य है कि निजी एकाधिकार शक्ति सरकारी क्षेत्र में हस्तान्तरित हो जायगी। इस प्रकार श्रमिकों का शोषण भी बन्द न हो सकेगा क्योंकि निजी उद्योगपतियों के स्थान पर अब सरकारी क्षेत्र में उनका शोषण होने लगेगा। इसके अतिरिक्त आर्थिक एवं औद्योगिक विकास म क्षेत्रीय विषमता भी होगी जिससे राज्य सरकारों में आपसी एवं राज्य सरकारों तथा केन्द्रीय सरकार में आपसी संघर्ष की सम्भावनाएँ बढ़ जायँगी। आलोचकों के मत से यह नवीन औद्योगिक नीति तथा मिश्रित आर्थिक नीति केवल अच्छे लगने वाले उद्देश्यों एवं वाक्यों से भरपूर तो अवश्य है परन्तु क्रियात्मक रूप में इसका सफल होना सन्देहमय है। वास्तव म उत्पादन के साधनों पर समाज का अधिकार हो जाने से कुछ लोगों के हाथों में राजनीतिक तथा आर्थिक शक्ति केन्द्रित हो जाती है और राज्य पूँजीवाद की स्थापना हो जाती है।

कार्य व्यवहार की अकुशलता

उत्पादन समस्या का एक दूसरा पहलू कार्य व्यवहार की क्षमता है। जहाँ तक सरकारी क्षेत्र के उद्योगों का अनुभव है अभी तक इस क्षेत्र ने अपनी कार्य-

क्षमता का परिचय नहीं दिया है। वास्तव में सरकारी तथा निजी क्षेत्रों में उद्योगों के विकास की एक कसौटी यह होनी चाहिए कि उसकी कम से कम खर्च में सुन्दर व्यवस्था हो सके। केवल आदर्शवादी आधार पर राष्ट्रीयकरण राष्ट्र हित के लिए अच्छा नहीं है। जहाँ तक सरकार का सम्बन्ध है उसके पास अनुभवी कर्मचारियों एवं व्यक्तिगत प्रेरणा का अभाव है जिसके कारण उत्पादन-क्षमता का कम होना स्वाभाविक ही है। उदाहरण स्वरूप सिन्द्री का कारखाना ही इसका प्रमाण है। अति उत्पादन के कारण मशीनरी पर बहुत बोझ पड़ा है और उसकी मरम्मत तथा रक्षा पर काफी धन व्यय करना पड़ा है। जब तक सरकारी उद्योगों में उत्पादन व्यय की जाँच न हो, सिर्फ उत्पादन के आँकड़ों से कारोबार की सफलता का निर्णय नहीं हो सकता। १६ दिसम्बर १९५७ को जीवन बीमा निगम सम्बन्धी जो बहस पार्लियामेंट में हुई थी उससे स्पष्ट हो गया है कि सरकारी कार्पोरेशन भी सन्देह और शंका से ऊपर नहीं होते। राष्ट्रीय अधिकार उत्पादन के हित में है, यह दावा अन्य देशों के अनुभव से झूठा सिद्ध हुआ है। गत वर्ष पोलैंड को विवश होकर अपनी आर्थिक नीति को उदार बनाना पड़ा तथा कुछ आर्थिक गतिविधियों के कार्य निजी उद्योग के हाथ में सौंपने पड़े। भारत के पड़ोसी देश बर्मा का भी यह कटु अनुभव है कि राष्ट्रीयकरण अथवा उत्पादन के साधनों पर राष्ट्रीय अधिकार सिद्धान्तवादियों की कल्पना के आदर्शों को नहीं ला सकते। बर्मा के प्रधान मन्त्री श्री यू० नू० के शब्दों में—

"व्यावहारिक अनुभव के कारण मैं यह नहीं चाहता कि हर प्रकार के आर्थिक मामलों में सरकार बीच में आ जाय। अगर सरकारी हस्तक्षेप बिना रोक टोक के निरन्तर बढ़ता रहा तो ठीक देख रेख तथा पूर्ण प्रबन्ध न होने के कारण जल्दी या कुछ समय बाद राज्य के कारोबार चोर तथा ठगों के हाथों में चले जायेंगे।"

राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध आश्वासन का अभाव

इस नीति की इस आधार पर भी आलोचना की गई है कि इसमें यह स्पष्ट नहीं किया गया कि राष्ट्रीयकरण के बारे में सरकार की क्या नीति होगी। राष्ट्रीयकरण न करने की स्पष्ट घोषणा के अभाव में निजी साहस में अनिश्चितता और खतरा उत्पन्न हो गया है जिसका परिणाम बड़ा ही भयंकर होगा। इस ढुलमुल नीति के कारण निजी क्षेत्र में निराशा की भावना व्याप्त हो गई है और जो भी प्रोत्साहन था वह मारा गया। सरकारी क्षेत्र हर एक उद्योग में प्रवेश करता जा रहा है और निजी क्षेत्र को हटाता जा रहा है। यही कारण है कि विकास कार्य में निजी क्षेत्रों

का कोई भी आकर्षण नहीं रह गया है। इस नीति के कारण वातावरण इतना अधिक सन्देहजनक हो गया है कि किसी को भी भविष्य में विश्वास नहीं रह गया है और कोई भी सुरक्षापूर्वक पूँजी विनियोजन नहीं कर सकता। यह सही है कि भारत के समान अविकसित देश में विकास के लिए बहुत बड़ा क्षेत्र खुला हुआ है और जो जितना चाहे बढ़ सकता है, पर इसके लिए विशेष प्रकार के वातावरण की आवश्यकता होती है। विश्वास की भावना बनाये रखने से ही उद्योगों को उचित स्थान प्राप्त हो सकता है।

इस नीति से उत्पादन वृद्धि सम्भव नहीं

निजी उद्योग, अपने देश के उद्योग व्यापार के तीव्र विकास कार्य के लिए वैयक्तिक साधनों को प्राप्त करने की योग्यता एवं अनुभव के आधार पर, जिसकी आधार भूमि न्यायोचित लाभ है, केवल देश के विकास कार्य में ही समर्थ नहीं है, वरन् इसको कम से कम लागत में अधिक उत्पादन और अधिक रोजगार देने के कार्य में भी काफी सहायक है। अतः इस निजी क्षेत्र को गौण स्थान प्रदान करके देश के उत्पादन में वृद्धि सम्भव नहीं हो सकती। आलोचकों का तो कहना है कि औद्योगिक नीति की क्या आवश्यकता थी, जबकि उत्पादन वृद्धि केवल सरकार के सहयोग एवं उचित नियंत्रण से ही सम्भव हो सकती थी। समाजवादी अर्थ-व्यवस्था का मूल उद्देश्य तो समाज में धन का समान वितरण होता है न कि सरकार द्वारा स्वयं ही उद्योगों का संचालन। जहाँ तक लाभ का प्रश्न है मानव स्वभाव से ही ऐसा है कि काम करने के लिए उसे किसी प्रलोभन की आवश्यकता है। लाभ, जो उसके प्रयास का सही प्रतिफल है, न्यायोचित है, इसमें तिरस्कार की कोई बात नहीं। यदि सामाजिक शोषण जैसी कोई वस्तु है तो सरकार वित्तीय एवं द्राव्यिक साधनों से स्वतंत्र उद्योगों को नियमित करके तथा सामाजिक कानून बनाकर इसे दूर कर सकती है। इस नवीन औद्योगिक नीति के अन्तर्गत सरकार ने निजी उद्योगों के उपलब्ध साधनों को अपने नियंत्रण से कम कर लिया है और उद्योगों की वैयक्तिक स्वतंत्रता को तेजी से रोका जा रहा है। ऐसी दशा में यह नीति कैसे उचित तथा राष्ट्र हित में कही जा सकती है।

जहाँ एक ओर बहुत से अर्थ शास्त्रियों तथा उद्योगपतियों ने नवीन औद्योगिक नीति की आलोचना की है वहाँ पर अनेक उद्योगपतियों तथा विद्वानों ने इसकी प्रशंसा भी की है। उनके मत से सन् १९४८ वाली औद्योगिक नीति के द्वारा निजी क्षेत्र में राष्ट्रीयकरण का भय व्याप्त गया था और परिणामस्वरूप वहाँ पर पूँजी का उत्साह भंग हो गया। राष्ट्रीयकरण की बात उस औद्योगिक नीति में अनिश्चित सी थी परन्तु नवीन औद्योगिक नीति में निजी क्षेत्र को निश्चित आश्वासन मिला है कि मिश्रित क्षेत्र में

सरकार उसकी रक्षा ही नहीं वरन सब प्रकार से सहायता करेगी। इस प्रकार निजी क्षेत्र में अब औद्योगिक विकास का कार्य अबाध गति से एवं निर्भयतापूर्वक हो सकेगा। नवीन नीति के अन्तर्गत निजी क्षेत्र को कार्य एवं विकास करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है और सरकारी नियन्त्रण केवल राष्ट्रीय हितों में ही किया जायगा। नवीन औद्योगिक नीति में एक उत्तम बात यह है कि लघु स्तरीय एवं कुटीर उद्योग के उत्पादन के साधनों का नवीनीकरण एवं वैज्ञानीकरण किया जायगा। नवीन औद्योगिक नीति की घोषणा करते हुए प्रस्ताव में बतलाया गया है कि—

"The aim of State Policy will be to ensure that the decentralized sector acquires sufficient vitality to be self-supporting and its development is integrated with that of large scale industry"

अर्थात् राजकीय औद्योगिक नीति का यह लक्ष्य होगा कि विकेन्द्रित क्षेत्र इतना शक्तिशाली बनाया जाय जिससे कि यह स्वावलम्बी होकर बृहद् स्तरीय उद्योग के साथ सहयोग करते हुए उसके साथ समान रूप से उन्नति कर सके। औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव में सरकार ने यह स्पष्ट कहा है कि—

"Whenever co operation with private sector is necessary, the State will ensure, either through majority participation in the capital or otherwise, that it has the requisite power to guide the policy and control of the operations of the undertaking."

अर्थात् आवश्यकतानुसार सरकार या तो अधिकांश शेयरों को खरीदकर या अन्य प्रकार से पूँजी प्रदान करके उद्योगों को सचालित एवं नियन्त्रित करेगी। वास्तव में हमारी नवीन औद्योगिक नीति 'पुरानी ही शराब नई बोतलों में भरी हो' इस प्रकार की नहीं है। इसमें सरकारी साहस का क्षेत्र पहले की अपेक्षा अधिक व्यापक कर दिया गया है।

उपसंहार

नवीन औद्योगिक नीति की आलोचनाएँ प्रायः निजी क्षेत्र के समर्थकों द्वारा अपने स्वार्थ एवं लाभ की दृष्टि से की गई हैं। जहाँ तक नीति का सम्बन्ध है इसमें निजी क्षेत्र पर प्रतिबन्ध लगाने का कहीं भी समावेश नहीं है। यह अवश्य है कि सरकार ने ऐसे किसी भी उद्योग को राष्ट्रीयकरण करने की व्यवस्था की है जो राष्ट्र के हित में कार्य न करता हो और ऐसा करना निजी क्षेत्र पर अंकुश रखने तथा

राष्ट्र हित की वृद्धि के लिए आवश्यक ही था। अभी तक भारत का उद्योगपति परम्परागत चिन्तनधारा के साथ जकड़ा हुआ है और उसका एक मात्र उद्देश्य यह है कि जिस प्रकार भी हो कम से कम समय में अधिक से अधिक लाभ कमा ले। इस प्रकार की मनोवृत्ति के कारण ही वह जनता का विश्वास तथा सहानुभूति खो देता है। ऐसी अवस्था में राष्ट्रीयकरण के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं रह जाता। इन परिस्थितियों में हमारी वर्तमान औद्योगिक नीति अनुचित नहीं कही जा सकती। वास्तव में इस नीति ने निजी क्षेत्र को अपनी क्रियाशीलता तथा राष्ट्र हित का परिचय देने का स्वर्णिम अवसर प्रदान किया है। यह कहना कदाचित् ठीक न होगा कि निजी क्षेत्र की वर्तमान नीति में उपेक्षा की गई है। यदि व्यक्तिगत उद्योग बदले हुए समय के साथ अपने आपको सतुलित कर ले तो निश्चय ही उसे भावी अर्थ व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो जायगा। इसमें सन्देह नहीं कि यदि भारत के उद्योगपति तथा पूँजीपति नये युग के आदर्शों तथा आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखते हुये अपनी परम्परागत नीतियों तथा आदर्शों में कुछ सशोधन परिवर्दन करने के लिए तैयार हो जावें तो सम्भवत उन्हें नयी जीवनावधि प्राप्त हो सकता है। सारे विश्व में साम्य वाद की लहर फैल चुकी है तथा पूंजीवाद का अन्त हो चुका है। भारत सारे विश्व की कैसे अवहेलना कर सकता है। समाजवाद की स्थापना समय की माग है। निजी क्षेत्र के उद्योगपति भी आज इसकी अवहेलना करने की सामर्थ्य नहीं रखते। वास्तव में इस नवीन नीति ने निजी क्षेत्र के उद्योगों को साम्यवाद की भीषण ज्वालाओं से सुरक्षा प्रदान की है और समय के परिवर्तन के अनुरूप ही कार्य किया है जैसा कि एक विद्वान लेखक के निम्न शब्दों से स्पष्ट हो जाता है—

"The age of unrestricted private enterprise is dead beyond recall and the current flows strongly, even if a little fitfully, towards a larger and even larger measure of State control We may in our hearts regret the passing of the opportunities which an age of free enterprise appeared to give to industrial initiative, or, otherwise disposed, we may rejoice in its demise seeing particularly in India that free enterprise has done relatively little to advance the life of the common man [1]

वास्तविकता तो यह है कि नवीन औद्योगिक नीति में मिश्रित अर्थ व्यवस्था को स्वीकार कर भारत ने भावी प्रगति का उग्र सीमान्तों के बीच से एक मध्य पथ का निर्माण किया है जिसका मुख्य उद्देश्य कठोर ढंग के साम्यवाद और मुक्त पूँजीवाद

के बीच किसी न किसी प्रकार का सतुलन स्थापित करना है। वास्तव में इसी पथ के प्रशस्त करने पर ही भारत की भावी प्रगति निर्भर थी जैसा कि विद्वान अरस्तू के शब्दों से स्पष्ट है—

"The middle path unstudded with and devoid of the usual irksome thorns is a golden mean, a happy compromise and panacea for all ills"

निःसन्देह हमारी वर्तमान औद्योगिक नीति एक अत्यन्त दूरदर्शी एव सुदृढ़ नीति है। इसकी सफलता जनता, उद्योगपतियों तथा सरकार के सहयोग पर निर्भर है। इस नीति की सफलता में ही भारत का यदि विश्व में नहीं तो एशिया में अवश्य ही एक महान औद्योगिक देश बन जाने का मार्ग निहित है। हमारे राष्ट्र के कर्णधार प० नेहरू ने ठीक ही कहा है—

"भारत सरकार यह विश्वास करती है कि यह नवीन औद्योगिक नीति सभी वर्गों का समर्थन प्राप्त करेगी और भारत के शीघ्र औद्योगीकरण में सहायक सिद्ध होगी।"

इस सम्बन्ध में ब्रिटेन के आर्थिक विकास के लिए वहाँ के मजदूर दल ने जो नीति निर्धारित की है उसका कुछ उल्लेख कर देना कदाचित् अप्रासंगिक न होगा। इसमें बताया गया है कि—

"सरकार तो केवल ऐसी अवस्थाएँ उत्पन्न कर सकती है जिनसे प्रगति सम्भव हो सके। उसके पास कोई जादू का डंडा नहीं होता जिससे छूकर वह हमारी राष्ट्रीय दशा का तत्काल कायाकल्प कर दे। अन्त मे हमारी सफलता हममें से प्रत्येक व्यक्ति के प्रयत्न, कठिन तथा बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य और सामूहिक दायित्व की भावना पर निर्भर होगी।"

यद्यपि नवीन औद्योगिक नीति का मूलभूत आदर्श अन्ततोगत्वा देश में समाजवादी ढग के समाज की स्थापना करना है, तथापि इसके द्वारा राष्ट्र के विभिन्न वर्गों के सामञ्जस्यपूर्वक और एक-दूसरे के पूरक रूप में विकास करने की व्यवस्था की गई है जिससे प्रत्येक व्यक्ति देश के समस्त मानव समाज के सुख में अपना पूर्णतम योगदान कर सके।